वामन-पुराण का आलोचनात्मक अध्ययन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल् उपाधि के लिए प्रस्तुत)

शोध-प्रबन्ध

अनुसन्धात्री

कु० शशि जायसवाल

एम० ए० (संस्कृत)

निर्देशक

डा० राजेन्द्र मिश्र

रीडर, संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

अगस्त 1986

पुरोवाक्

<u>पुरोवाक्</u>

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "वामन-पुराण का आलोचनात्मक अध्ययन" को विद्वत्-समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हुए आज अत्यन्त हर्ष एवं गौरव का अनुभव हो रहा है । यद्यपि इससे पूर्व अन्य अनेक पुराणों पर शोधकर्त्ताओं ने अपना महनीय शोध-कार्य सम्पन्न किया है जो विद्वानों द्वारा विशेष प्रशंसनीय भी रहा है । अतः यह प्रश्न स्वाभाविक है कि शोधकर्त्री ने पुराण-साहित्य पर ही शोधकार्य करना क्यों आवश्यक समझा ? इस विषय में मेरा विनम्र निवेदन है कि प्रायः सभी पुराण-ग्रन्थों को देखने से उनमें कुछ न कुछ व्यावहारिक न्यूनताएँ अवश्य दृष्टिगत होती हैं, यथा - कुछ पुराण-ग्रन्थ आवश्यकता से अधिक विस्तृत हैं, कुछ अत्यन्त संक्षिप्त हैं, कुछ में तथ्यों का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं है तो कुछ में मूल-ग्रन्थों के अध्ययन का अभाव है । इन्हीं सब न्यूनताओं का अभाव है । इन्हीं सब न्यूनताओं से उत्पन्न होने वाली जिज्ञासा तथा समस्या का समाधान पौराणिक अनुशीलन के आधार पर उपस्थित करने का लघु-प्रयत्न प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुख्य ध्येय रहा है ।

धार्मिक-साहित्य में लोक-प्रियता की दृष्टि से विशिष्टता को प्राप्त पुराणों का मुख्य उद्देश्य प्राचीन युगों की घटनाओं और परम्परागत ऐतिहासिक कथाओं को सरल तथा मनोरंजक शैली में वर्णन करना रहा है जिससे साधारण जन उसे सुनकर, अपनी बुद्धि तथा स्थिति के अनुकूल लाभ उठा सकें । पुराणों के लक्षण सर्ग-प्रतिसर्ग आदि जटिल एवं विवादग्रस्त विषयों के साथ, देवासुर-संग्राम आदि अनेक मनोरंजक कहानियों को जोड़कर तथा प्राचीन राजवंशों के वर्णन में परोपकार, उदारता, त्याग, तपस्या आदि को दिखाकर, पुराण में मानवजीवन के उच्चादर्शों को प्रस्तुत करने का अथक प्रयास किया गया है । मानव-मस्तिष्क की ऐसी कोई भी कल्पना अथवा योजना नहीं है, जिसका निरूपण पुराणों में न हुआ हो ।

सरस्वती-उपासक, प्राचीन एवं अर्वाचीन उन समस्त विद्वानों एवं लेखकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना पवित्र कर्त्तव्य समझती हूँ, जिनके ग्रन्थों एवं

लेखों के परिशीलन से इस प्रबन्ध के प्रणयन में मुझे अन्तःप्रेरणा, सम्बल एवं सहायता प्राप्त हुई है ।

प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग रीडर पद पर अभिषिक्त सम्मान्य गुरुवर्य डा० राजेन्द्र मिश्र जी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ, जिन्होंने मुझे इस विषय पर शोध-कार्य करने के लिए मूलतः प्रेरित किया है और जिनके चरणों में बैठकर मुझे प्रस्तुत शोध प्रबन्ध लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । संस्कृत विभाग के अन्य सम्मान्य गुरुजनों के प्रति भी मैं विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने समय समय पर मुझे शोध सम्बन्धित अनेक सुझाव प्रदान किये हैं ।

अपने सहयोगियों एवं शुभेच्छकों में श्री अशोक कुमार भगत, डा० सुधा जायसवाल, श्री के०एन० मिश्रा, श्रीमती विभा शुक्ला, श्री राजेन्द्र कुमार, श्री पद्मकीर्ति, श्री कृपानिधि गुप्ता एवं कु० माधुरी गुप्ता के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने यथावसर पुस्तकों एवं विचार-विनिमय द्वारा मेरे शोध-प्रबन्ध को सम्पुटित करने में सहयोग प्रदान किया है ।

अपने पूज्य पिताजी श्री महावीर प्रसाद जायसवाल एवं पूजनीया माता-जी के सतत संरक्षण, कृपा एवं आशीर्वाद से ही मैं यह ज्ञानयज्ञ पूर्ण कर सकी हूँ । उनके प्रभूत आशीर्वाद की कामना निरन्तर करती हूँ । अपनी परम स्नेहमयी बहन डा० सुधा जायसवाल एवं कु० मधुबाला जायसवाल के महत्त्वपूर्ण सहयोग के लिए मैं उन्हें अपना धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ ।

मित्रवर्गों में कु० ममता अग्रवाल, कल्पना सिंह, ज्योति मिश्रा, श्री कृष्णानन्द बाजपेयी एवं श्री अशोक सिंह को भी हार्दिक आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझती हूँ जिन्होंने समय समय पर मुझे मनोबल प्रदान किया है ।

श्री रामचरन यादव, कार्यालय सहायक, लेखा-अनुभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्रति मैं विशेष कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अत्यन्त साव-धानीपूर्वक मेरे शोध-प्रबन्ध का टंकण कार्य सम्पन्न किया है ।

अन्त में पुनः अपने पूज्य गुरुवर डा० राजेन्द्र प्रसाद मिश्र जी के प्रति नतमस्तक होकर अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मुझे प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की मूल प्रेरणा प्रदान की एवं मनीषियों से मेरा विनम्र निवेदन है :

दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम् ।
आवृणुध्वमतो दोषान् विवृणुध्वं गुणान् बुधाः ॥

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
रक्षाबन्धन, 1986.

विनयावनत
शशि जायसवाल
शशि जायसवाल

प्रथम अध्याय

संस्कृत वाङ्मय में पुराण

विषय प्रवेश

प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के कलेवर-निर्माण में पुराणों का विशेष योगदान रहा है। आधुनिक प्राच्य - विद्या - विशेषज्ञों ने पौराणिक उल्लेखों एवं साक्ष्यों को प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के परिज्ञान में विशेष महत्वपूर्ण माना है। पुराण वाङ्मय में न केवल वेदसम्मत मान्यताओं का ही अन्तर्भाव है वरन् इसमें लोकविश्रुत एवं मान्य अन्य मान्यताओं को भी यथा-सम्भव आत्मसात किया गया है। अपनी विशिष्ट काव्यात्मक एवं सरल शैली में युग-युगान्तर में प्रवहमान प्रवृत्तियों, मान्यताओं एवं मूल्यों के संज्ञापन, सम्मार्जन, एवं संवर्द्धन से आज इसे संकलित साहित्य की कोटि में अन्यतम माना जाता है।

यह प्रायः सर्वमान्य है कि भारतीय धर्म एवं जीवन-मूल्यों की मूल प्रेरणा वेदों से ही अनुस्यूत है, जैसा कि - 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'[1] सूक्ति से स्पष्ट है परन्तु वैदिक जीवन-पद्धति, धर्मानुष्ठान एवं सांस्कृतिक जीवन -मूल्य केवल बुद्धिजीवी द्विजवर्ग तक ही सीमित थे, सर्वसाधारणजन इससे बिल्कुल अनभिज्ञ थे जिससे समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग उससे वंचित था।[2] इसको जन-साधारण तक लाने का मुख्य श्रेय इन्हीं पुराणों को ही है।

पुराण-प्रणयन एवं संकलन कर्ताओं ने उच्च एवं जनसाधारण वर्गों में व्याप्त सांस्कृतिक जीवन धारा को समान आदर प्रदान करते हुए उन्हें यथासम्भव वैदिक भावनाओं के अनुरूप समन्वित करने का प्रयास किया है। इससे स्पष्ट है कि

---

1. मत्स्यपुराण - 52/7, मनुस्मृति - 2/5.

2. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। - भागवतपु० 1/4/25.

सम्भवतः इस पौराणिक प्रवृत्ति के फलस्वरूप ये वेदों के समान श्रद्धेय एवं समादृत हो चुके थे -

'इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्'[1]

पुराणों का प्रसिद्ध पंचलक्षण उनकी प्रारम्भिक अवस्था का संकेत करती है किन्तु समय के सुदीर्घ प्रवाह में हुए विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक संशोधन एवं परिवर्तन से इन पंचलक्षणों में भी परिवर्तन एवं संवर्धन होने लगे जिससे धीरे धीरे यह पंचलक्षण-दशलक्षणात्मक[2] हो गया। पुराणों का जो स्वरूप आज हमें उपलब्ध है उसमें अधिकांशतः गुप्त तथा गुप्तोत्तर कालीन धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन की सांस्कृतिक रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। यही कारण है कि अधिकांश पुराणों में सांख्य, योग, वेदान्त तन्त्र आदि दार्शनिक मान्यताओं के निरूपण के साथ-साथ विभिन्न धार्मिक मतों एवं सम्प्रदायों का विशद वर्णन एवं परस्पर समन्वय स्थापना का आग्रह उपलब्ध होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुराणों के वर्णन की अपनी एक अलग शैली है जिसमें काव्यात्मकता, आध्यात्मिकता, दार्शनिकता एवं परम्परागत आख्यानों का अनुपम सम्मिश्रण है। अतः पुराकथाओं में वर्णित पौराणिक तथ्यों को विवेचित करना अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है। अब तक अनेक प्राच्य - विद्या - विशारदों ने पौराणिक साहित्य के अनुशीलन में अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों को प्रकाशित कर महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की है, जिनमें सर्वश्री पार्जिटर, विन्टरनित्स, मैक्समूलर, पाल हैकर, आर० हाजरा, वी० राघवन, वी०एस० अग्रवाल, एच० विल्सन, हरप्रसादशास्त्री, डा० हाजरा, पि० काणे,

1. छान्दोग्योपनिषद् - 7/1/2.
2. भागवतपुराण, 2/10, 1/7.

वासुदेव शरण अग्रवाल, एस०डी० पुसाल्कर, बलदेव उपाध्याय, सिद्धेश्वरी नारायण मिश्र, एवं योगेन्द्र सिंह आदि विद्वान विशेष माननीय है । वस्तुतः पुराण साहित्य इतना गहन एवं विशाल है कि इसमें शोधकार्य के लिए अनन्त सम्भावनायें हैं, फिर भी प्रस्तुत शोध प्रबन्ध 'वामन पुराण का आलोचनात्मक अध्ययन' पुराण अनुशीलन की दिशा में एक नया प्रयास है । वामन पुराण को शोध का विषय बनाने के मूल में सर्वभारतीय काशिराजन्यास, रामनगर वाराणसी, द्वारा इसके पाठ-समीक्षात्मक संस्करण के प्रकाशन को विशेष प्रेरक माना जा सकता है जिसमें इस पुराण की उपलब्ध पाण्डुलिपियों की समीक्षा के आधार पर सर्वप्रथम इसका पाठ-समीक्षात्मक संस्करण प्रस्तुत किया गया है । यद्यपि आलोचित पुराण के वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण के आधार पर कुछ विद्वानों ने इसके अनेक पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है परन्तु पाठ-समीक्षात्मक संस्करण को आधार मानकर इसके विविध तथ्यों का आलोचनात्मक अनुशीलन करना शोधकृति की दृष्टि से एक नवीन प्रयास है ।

इसमें प्रस्तावित विचारों को श्रद्धेय एवं सम्मान्य स्वीकार करते हुए यथा-सम्भव नवीन एवं अन्यत्र स्रोतों से ज्ञात तथ्यों के आलोक में मौलिकता लाने का प्रयास किया गया है ।

अतः प्रस्तुत-शोध प्रबन्ध इसी पौराणिक शोध परम्परा को जोड़ने की एक कड़ी है, एक विनम्र प्रयास एवं अपने अनुसन्धान का विषय बनाने का विशेष कारण है ।

भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, सदाचार, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित अनेक-विषय पुराणों में सन्निहित है । 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' यह सूत्र तो मानों पुराण रचना का बीज ही बन गया था ।

अष्टादश महापुराणों में विशेषकर 'वामन-पुराण' में अनेक पौराणिक विषयों का वर्णन हुआ है - यथा, भुवनकोष, शिव और विष्णु की भक्ति एवं पूजा विधि, देवी माहात्म्य-आख्यान, स्कन्दोत्पत्ति, देवासुरसंग्राम, कुरुक्षेत्र तथा इसके तीर्थों का वर्णन, व्रत, उपवास तथा अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण आख्यान और उपाख्यान । इसके अतिरिक्त वामनपुराण में कुछ ऐसे विषयों का भी समावेश हुआ है, जिनका अन्य पुराणों में अभाव है - यथा, शिव के विभिन्न अंगाभूषणों में सर्पों के नाम का उल्लेख, प्रह्लाद का बदरिकाश्रम में नर-नारायण से युद्ध, देवों एवं असुरों के पृथक्-पृथक् वाहनों का वर्णन, सुकेशिचरित, त्रिविक्रम द्वारा धुन्धुवध, प्रह्लाद तीर्थयात्रा प्रसंग में भगवान वामन के विविध रूपों एवं निवास स्थानों का वर्णन ।

प्रधानतः वैष्णव-पुराण होते हुए भी वामन-पुराण में साम्प्रदायिक संकीर्णता का सर्वथा अभाव रहा है । वैष्णव और शैव धर्मों के सामंजस्य से परि-पूर्ण इस पुराण में बिना किसी पक्षपात के शिव और विष्णु में समन्वय स्थापित करते हुए दोनों के प्रति समान आदर प्रदर्शित किया गया है । इसके लघु कलेवर में वर्णित अष्टांगधर्म के वर्णन से स्पष्ट है कि यह (वामन) पुराण किसी भी धार्मिक विधि-विधानों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान नहीं करता । इसमें प्रह्लाद, बलि, सुकेशि आदि असुरों को भी धर्माचरण के क्षेत्र में महत्ता प्रदान की गई है अतः स्पष्ट है कि यह पुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति अधिक उदार रहा है । इसका मुख्य ध्येय, असुरों (अधर्म) का विनाश एवं धर्म की संस्थापना रही है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इन्हीं तथ्यों को सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं साहित्यिक-सौन्दर्य के परिवेश में तराशने का प्रयत्न किया गया है । सर्वप्रथम शोध-प्रबन्ध को सात-अध्यायों में विभक्त किया गया तदनन्तर प्रत्येक को सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है ।

प्रथम अध्याय में विषय-प्रवेश के साथ-साथ, भारतीय वाङ्मय के स्वरूप को स्पष्ट कर उसमें पुराणों के स्थान को निर्दिष्ट करते हुए, विभिन्न तथ्यों यथा-इतिहास, काव्यादि के साथ पुराण के सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । तदनन्तर पुराणों की व्युत्पत्ति, उनके प्रतिपाद्य-विषय, पुराणों का विभाजन, उनकी संख्या एवं कालक्रम को प्रस्तुत करते हुए वामन पुराण का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । तदनन्तर वामन पुराण के काल को निर्धारित करते हुए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की अपेक्षा और औचित्य पर प्रकाश डाला गया है ।

द्वितीय अध्याय में वामन पुराण के मूल कथानक-विवेचन के अन्तर्गत कथावस्तु के शास्त्रीय स्वरूप एवं आधिकारिक कथावस्तु की विवेचना के साथ-साथ अन्यान्य पुराणों में बलि-वामन कथा-प्रसंग को निर्दिष्ट करते हुए वामन पुराण की कथावस्तु के सांस्कृतिक महत्व पर प्रकाश डाला गया है ।

तृतीय अध्याय, उपाख्यान-विवेचन के अन्तर्गत प्रासंगिक कथा के भेद को बतलाते हुए, प्रकरी कथा के उपाख्यानत्व को प्रस्तुत किया गया है, तदनन्तर वामन पुराण में वर्णित, विभिन्न उपाख्यानों का क्रम से विवेचन करते हुए, उपाख्यानों के लक्ष्य एवं मूल कथा के निर्वहण में उनके योगदान को प्रतिपादित किया गया है और साथ ही विभिन्न उपाख्यानों का परवर्ती संस्कृत वाङ्मय पर क्या प्रभाव पड़ता है इसको निर्दिष्ट करने का प्रयास किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विवेचन के अन्तर्गत, वामन पुराणकालीन व्यक्ति एवं समाज के चित्रण में तत्कालीन वर्णाश्रम-व्यवस्था, पुरुषार्थ-चतुष्टय, नारीदशा, आर्थिक-दशा, वस्त्र, अलंकार, मनोरंजन, संगीत, आखेट आदि को चित्रित किया गया है । तदनन्तर मानव एवं मानवेतर, देव-दानव आदि संस्कृतियों को अलग-अलग निरूपित करते हुए, मानव-संस्कृति के निर्धारक तत्वों पर विशेष बल दिया गया है ।

पंचम अध्याय, धर्म एवं दर्शन-विवेचन में वामन पुराण कालीन धर्म के स्वरूप को बतलाते हुए शैव, वैष्णव, शाक्त आदि धर्मों की सुविस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए, वामन पुराण में वर्णित विभिन्न दर्शन-यथा, सांख्य, न्याय, वेदान्त, वैशेषिक आदि का यथोचित निरूपण भी किया गया है ।

षष्ठ अध्याय में साहित्यिक सौन्दर्य के परिवेश में प्रकृति-वर्णन एवं मानवीय-संवेदनाओं का चित्रण करते हुए, रस, छन्द, अलंकार आदि काव्य-शैलियों के निरूपण के साथ-साथ अन्यान्य विशिष्ट काव्य-शैली यथा - श्रोता-वक्ता शैली, अवान्तर-कथा शैली आदि को भी स्थूल एवं सूक्ष्म रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया है ।

सप्तम अध्याय में सम्पूर्ण वामन पुराण में वर्णित विविध शास्त्रज्ञान, यथा, भूगोल, खगोल, ज्योतिष आदि की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए संस्कृत-वाङ्मय में वामन पुराण के महत्वपूर्ण योगदान को दर्शाने का लघु प्रयास शोधकर्त्री द्वारा किया गया है ।

वामन पुराण के सविस्तृत विवेचन से पूर्व प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में भारतीय वाङ्मय के संक्षिप्त परिचय पर भी दृष्टिपात किया गया है जो सर्वथा समीचीन है ।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय का स्वरूप

समस्त सभ्य साहित्यों से प्राचीन, व्यापक एवं अभिराम हमारा विशाल काय प्राचीन भारतीय वाङ्मय अपनी प्राचीनता, उत्कृष्टता, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक वैभव की दृष्टि से न केवल भारतीय साहित्य का उत्तमांग है, अपितु इसे विश्व साहित्य का अमूल्यनिधि माना जाता है । भारतीय प्रज्ञा और सारस्वत साधना का परमोज्ज्वल रूप संस्कृत साहित्य में प्रतिष्ठित है । लौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि के साधक जितने ज्ञान और विज्ञान हैं, जितने शास्त्र एवं पुराण हैं उन्हें एक जगह अवगत करने का स्थान यही हमारा संस्कृत साहित्य है ।

संसार के सभ्य साहित्यों में उत्कृष्ट हमारा भारतीय वाङ्मय अनेक दृष्टि-यों से अनुपम एवं अद्वितीय है । प्राचीनता की दृष्टि में बेजोड़ इस साहित्य में सर्वप्रथम वेदों की रचना हुई, तदनन्तर ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदांगों की समाविष्टि हुई, अनंतर रामायण, महाभारत, और पुराणों का युग आता है । इसके बाद काव्य, नाटक, गद्य, पद्य, कथा, आख्यायिका, स्मृति और तंत्र का प्रादुर्भाव हुआ । इस प्रकार संस्कृत साहित्य की अविच्छिन्न धारा आठ सहस्त्र वर्षों से निरन्तर चली आ रही है एवं अपनी प्राचीनता एवं अविच्छिन्नता में अत्यंत महत्त्वशाली रही है ।

व्यापकता की दृष्टि से गौरवपूर्ण इस संस्कृत साहित्य के अंतर्गत ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - मानव जीवन के इन चार पुरुषार्थों की व्याख्या की गई है । विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य, कला-कौशल, पशु-पक्षी सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है । सम्पूर्ण मानव-समाज के धर्म तथा आध्यात्म विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले 'वेद' संस्कृत-साहित्य की दिव्य विभूति है ।

सांस्कृतिक एवं कलात्मक दृष्टि से हमारा साहित्य विश्व-साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान रखता है । भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के अध्ययन की अधिकांश सामग्री यहीं उपलब्ध है । वृहत्तर भारत को सभ्य बनाने में हमारे साहित्य का विशेष योगदान रहा है । विशुद्ध कला की दृष्टि से, महत्वपूर्ण हमारे संस्कृत साहित्य में कमनीय कवि रसमर्मज्ञ कालिदास, मानव-हृदय के मर्म-पारखी स्वर्णलेखनी के अनुपम लास्य दिखाने वाले भवभूति जैसे नाटककार, त्रिलोक-सुन्दरी कादम्बरी की कमनीय कथा सुना-सुनाकर श्रोताओं के चित्त को आकृष्ट करने वाले बाणभट्ट जैसे लब्ध प्रतिष्ठावान् लेखक, कोमल-कान्त पदावलियों से विदग्धों के हृदय में मधुर रस की वर्षा करने वाले जयदेव जैसे गीति-काव्य के लेखक विद्यमान थे । काव्य और दर्शन का अपूर्व सम्मिलन दिखाने वाले श्रीहर्ष जैसे कवि-पण्डित ने अपनी सुन्दर-शब्द तूलिका से जिसे चित्रित कर रम्य आकार प्रदान किया, वह विशाल आकार और कलात्मक स्वरूप वाला हमारा ही संस्कृत साहित्य है ।

संस्कृत साहित्य के इतिहास को हम दो भागों में विभाजित करते हैं :-

1. वैदिक-साहित्य

जिसके अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदांग, साहित्य की गणना की जाती है ।

2. लौकिक साहित्य

जिसके अन्तर्गत काव्य, नाटक, कथा, अलंकार शास्त्र, तथा वैज्ञानिक साहित्य का समावेश किया जाता है । इन दोनों कालखण्डों को जोड़ने का काम रामायण, महाभारत तथा पुराणों द्वारा किया जाता है ।

साहित्यिक धाराओं का संक्षिप्त विवेचन

वेद - 'वेद' शब्द से सम्पूर्ण वाङ्मय का ग्रहण होता है । जिसके उच्चारण से उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित स्वरों का परम्परा प्राप्त प्रयोग सुनिश्चित होता है एवं जिसके प्रयोग का सम्यक् ज्ञान गुरु चरणों के ग्रहण करने से ही होता है, अन्य किसी कारण से नहीं, वही वेद हमारे धर्म का सर्वस्व है । वेद महर्षियों द्वारा अनुभव किये गये सत्यों का साक्षात् प्रतिपादक है । वेदों पर आधारित होने के कारण हमारा धर्म 'वैदिक-धर्म' के नाम से प्रसिद्ध है । पुराणों एवं स्मृतियों में भी वेद के सिद्धान्तों का ग्रहण किया गया है । आर्यों की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति, समाज तथा धर्म को जानने का एक मात्र प्राचीन साधन वहीं उपलब्ध होता है । वेदों की भाषा प्राचीनतम है, इसी के द्वारा आर्यभाषा का मूलस्वरूप ज्ञात होता है । वेद के प्रधानतया दो विभाग हैं -

।1। मंत्र और ।2। ब्राह्मण

।मन्त्रब्राह्मणात्मकोवेदः।

किसी देवता विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले अर्थ को स्मरण कराने वाले वाक्य मंत्र कहलाते हैं, मंत्रों के समुदाय का नाम ही संहिता है । ब्राह्मण ग्रन्थ में यज्ञ-भाग का वर्णन किया जाता है । यह मंत्रों की विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ है जिसमें स्थान-स्थान पर प्राचीन आख्यानों, शब्दों की व्युत्पत्ति, अनेक ज्ञातव्य सामाजिक बातें तथा ज्योतिष के सिद्धान्त दिये गये हैं । ब्राह्मण ग्रन्थ के तीन खण्ड हैं -

1. ब्राह्मण
2. आरण्यक
3. उपनिषद्

इन समस्त ग्रन्थों का नाम वेद है ।

संहितायें - वेदों की चार संहितायें हैं -

1. ऋक् संहिता
2. यजुः संहिता
3. साम संहिता
4. अथर्व संहिता

इन संहिताओं का संकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकता हेतु किया यज्ञ के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है -

1. होता,
2. अध्वर्यु,
3. उद्गाता और
4. ब्रह्मा ।

'होता' - शब्द का अर्थ है - पुकारने वाला, अर्थात् होता - यज्ञ के अवसर पर विशिष्ट देवता के प्रशंसात्मक मंत्रों का उच्चारण कर उस देवता का आह्वान करता है । उसके लिए आवश्यक मंत्रों का संकलन ऋक् संहिता में किया गया है ।

'अध्वर्यु'- का काम यज्ञों का विधिवत् सम्पादन है । उसके लिए आवश्यक मंत्रों का समुदाय यजु, संहिता कहलाता है ।

'उद्गाता' - शब्द का अर्थ ऊँचे स्वर में गाने वाला है, उसका काम ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर उन्हें उचित स्वर में गाना होता है । इस कार्य के लिए साम संहिता का संकलन किया गया ।

'ब्रह्मा' - नामक ऋत्विज का काम यज्ञ के अनुष्ठान को पूर्णरूप से निरीक्षण करना होता है, जिससे उस अनुष्ठान में किसी प्रकार की त्रुटि न हो । 'ब्रह्मा' को

समग्र वेद का ज्ञाता कहा गया है, उनका विशिष्ट वेद अथर्ववेद ही है ।

ऋक् संहिता सबसे प्राचीन एवं विशालकाय ग्रन्थ समूह है । इसमें दो प्रकार के विभाग मिलते हैं -

1. अष्टक, अध्याय और सूक्त
2. मण्डल, अनुवाद और सूक्त

पाठ सुलभता हेतु सम्पूर्ण ऋग्वेद को आठ खण्डों में विभक्त किया गया है जिन्हें अष्टक कहते हैं । प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं, इस प्रकार पूरे ऋग्वेद में आठ अष्टक अथवा चौंसठ (64) अध्याय हैं । सम्पूर्ण ऋग्वेद दस मण्डलों के अवान्तरखण्ड सूक्त कहलाते हैं तथा सूक्तों के खण्डों को ऋचायें कहते हैं । ऋग्वेद की सूक्त संख्या 1028 तथा मंत्र 11000 के लगभग है -

यजुर्वेद के दो भेद हैं -

1. कृष्णयजुः
2. शुक्लयजुः

कृष्णयजुर्वेद में छन्दोबद्ध मंत्र तथा गद्यात्मक विनियोगों का मिश्रण है । इसी मिश्रता के कारण यह कृष्ण के नाम से अभिहित किया जाता है । शुक्लयजुर्वेद में गद्यात्मक विनियोगों का अभाव है । उसमें केवल अध्वर्यु कर्म के उपयोगी मंत्रों का ही संकलन है । यही उसकी शुक्लता का रहस्य है । शुक्ल यजुर्वेद की दो प्रधान शाखायें हैं -

1. माध्यान्दिन शाखा
2. काण्व शाखा

प्रथम शाखा उत्तर भारत में और द्वितीय महाराष्ट्र में उपलब्ध हैं। कृष्ण यजुर्वेद की केवल चार शाखायें इस समय उपलब्ध हैं -

1. तैत्तिरीय
2. मैत्रायणी
3. काठक
4. कठ कपिष्ठल

सामवेद में लगभग डेढ़ हजार मंत्र हैं, जिसमें 75 ऋचायें स्वतंत्र हैं जो ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं होती। साम-संहिता के दो खण्ड हैं -

1. पूर्वार्चिक
2. उत्तरार्चिक

प्रायः ऐसा भी सुना जाता है कि सामवेद की हजार शाखायें थीं - 'सहस्त्रशाखा सामवेदः' लेकिन आजकल केवल तीन ही शाखायें उपलब्ध हैं -

1. कौथुम (गुजरात में)
2. राणायणी (कर्नाटक में)
3. जैमिनीय (सुदूर दक्षिण में)

अथर्ववेद की केवल एक शाखा है - 'शौनक शाखा' इसके खण्डों को काण्ड कहते हैं। अथर्ववेद में 20 काण्ड हैं और लगभग 6 हजार मन्त्र हैं। इस वेद में वेद को माता और देव को काव्य कहा गया है -

'स्तुता मया वरदा वेद माता। पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।'[1]

---

1. अथर्ववेद, 10/8/32.

ब्राह्मण युग

वैदिक संहिताओं के पश्चात् 'ब्राह्मण युग' आता है। 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ है - 'यज्ञ'। अतः यज्ञ से सम्बन्ध रखने के कारण ही यह सम्पूर्ण साहित्य ब्राह्मण नाम से अभिहित किया जाता है। यज्ञानुष्ठान के वर्णन के साथ ही साथ हिन्दू धर्म व्यवस्था, अनेक आख्यान, एवं उपाख्यान, विभिन्न शब्दों की उत्पत्ति प्राचीन राजाओं और ऋषियों की प्रशंसात्मक कथाओं के माध्यम से प्रायोगिक रहस्य की सूक्ष्मता का परिज्ञान कराया जाता है। ब्राह्मणों का प्रतिपाद्य विषय तीन वर्गों में विभक्त किया गया है -

1. विधि भाग
2. अर्थ वाद
3. उपनिषद्

विधि भाग में यज्ञ विषयक प्रयोगात्मक नियमों का वर्णन, अर्थवाद में उपाख्यान एवं प्रशंसात्मक कथाओं के माध्यम से प्रायोगिक रहस्य की सूक्ष्मता का परिज्ञान, एवं उपनिषद् में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तत्वों की मीमांसा की गई है। ब्राह्मण ग्रन्थ की रचना विशेष रूप से गृहस्थों के निमित्त की गई है। इनमें कर्मकाण्ड का विस्तृत विवेचन है एवं यागादि अनुष्ठानों से परिचित जनसमूह के समक्ष उनका धार्मिक रूप प्रदर्शित करते हुए नियमों का निर्धारण किया गया है।

प्रत्येक वेद के पृथक्-पृथक् ब्राह्मण हैं जैसे, ऋग्वेद के ब्राह्मण हैं ऐतरेय तथा शांखायन, । इनमें ऐतरेय अधिक प्रसिद्ध है, इसमें 40 अध्याय अथवा 8 पंचिकायें (पाँच अध्याय का समूह) है। शांखायन ब्राह्मण को कौषीतकि भी कहते हैं, इसमें 30 अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में 5 से 17 तक खण्ड हैं जिनकी संख्या 226 है। यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण है जो अपनी विशालता तथा यज्ञानु-

स्थान की महत्ता के कारण सभी ब्राह्मणों में सर्वोपरि है । सौ अध्यायों से युक्त होने के कारण इसकी अभिधा 'शतपथ' है । यह शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं - माध्यन्दिन तथा काण्व - में उपलब्ध है । कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण है, इसमें तीन अध्याय हैं । इसके प्रथम व द्वितीय काण्डों में बारह अध्याय हैं । तृतीय काण्ड में तेरह अध्याय हैं । इसमें वाराह अवतार का वर्णन तथा पुराणों की अनेक कथाओं का संकेत है । सामवेद से सम्बद्ध बहुत से ब्राह्मण हैं जिनमें ताण्ड्यब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है । सामवेद की ताण्डिशाखा से सम्बद्ध होने के कारण इसका नाम ताण्ड्यब्राह्मण है, पच्चीस अध्याय का विपुलकाय ग्रन्थ होने के कारण इसे पंचविंश भी कहते हैं । अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण 'गोपथ ब्राह्मण' के नाम से विख्यात है । इसके रचयिता गोपथ ऋषि माने जाते हैं ।

इस ब्राह्मण के दो विभाग हैं -

1. पूर्वगोपथ
2. उत्तरगोपथ

प्रथम 5 प्रपाठकों में विभक्त है और द्वितीय 6 प्रपाठक या अध्याय में । अध्याय कण्डिकाओं में विभक्त है जिनकी संख्या 258 है । ब्राह्मण साहित्य में यह ब्राह्मण अर्वाचीन माना जाता है ।

आरण्यक

आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों का परिशिष्ट माना जाता है । यह ब्राह्मण से सर्वथा भिन्न है । सायणाचार्य ने अरण्य में पाठ्यमान होने के कारण इनकी संज्ञा आरण्यक दी है । अतः 'आरण्यक' वानप्रस्थों के लिए अथवा उन पुरुषों के लिए

है जो यज्ञयागादि से निवृत्त होकर घर से दूर जंगल में रहकर अपना जीवन बिताते थे और वहाँ (अरण्य) के शान्त वातावरण में ग्रन्थों का मनन और चिन्तन करते थे -

"अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते ।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते ।।"[1]

आरण्यकों का मिलाप्य विषय यज्ञ न होकर यज्ञ-यागों में निहित आध्यात्मिक तत्वों का निरूपण करना था । अतः इसमें याज्ञिक अनुष्ठान का विवेचन नहीं बल्कि यज्ञ के भीतर निहित दार्शनिक तत्व का अनुचिन्तन और विश्लेषण है । यज्ञों का अभिप्राय केवल देवताविशेष से पूजा तथा सोम का दान मात्र ही नहीं वरन् उनका अर्थ बहुत ही गहरा है जिसका ज्ञान हमें 'आरण्यकों' से ज्ञात होता है ।

आरण्यकों का आध्यात्मिक तत्व उपनिषदों के तत्वचिंतन का पूर्वरूप है । प्रत्येक वेद में पृथक्-पृथक् आरण्यक है, जिन्हें स्वतंत्र ग्रन्थ माना जाता है ।

ऋग्वेद के तीन आरण्यक हैं - ऐतरेय, शांखायन तथा तैत्तिरीय । अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है एवं सामवेद के आरण्यक का नाम तलवकार है ।

उपनिषद्

भारत के आध्यात्मिक इतिहास में उपनिषदों का महनीय योग है । उप-

---

1. तैत्तिरीय आरण्यक - श्लोक 61.

निषद् शब्द उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से बना है । सद् धातु के तीन अर्थ हैं - नाश होना, प्राप्त होना तथा शिथिल करना । जिस विद्या के अध्ययन करने से मुमुक्षुओं की अविद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके अभ्यास से गर्भवास आदि नाना प्रकार के दुःख शिथिल हो जाते हैं उस आध्यात्म विद्या का वाचक 'उपनिषद्' शब्द है । इसका गौण अर्थ 'ब्रह्मविद्या' का प्रतिपादक ग्रन्थ' है । वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान सबसे अन्त में आता है इसीलिए उन्हें वेदान्त भी कहते हैं । उपनिषदों की संख्या साधारणतः 108 है लेकिन निम्नलिखित 11 उपनिषद् ही वेदान्त के आचार्यों द्वारा भाष्यों से विभूषित किये जाने के कारण नितान्त महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध हैं -

1. ईश, 2. केन, 3. कठ, 4. प्रश्न, 5. मुण्डक, 6. माण्डूक्य, 7. तैत्तिरीय, 8. ऐतरेय, 9. छान्दोग्य, 10. बृहदारण्यक, 11. श्वेताश्वेतर ।

इसके अतिरिक्त कौषीतकि तथा मैत्रायणीय उपनिषद् भी प्राचीन है । इन उपरोक्त उपनिषदों में कुछ गद्यात्मक हैं, और कुछ पद्यात्मक और कुछ गद्य - पद्यात्मक उभयात्मक । इन उपनिषदों में बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य भाषा तथा सिद्धान्त की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण एवं प्राचीन माने जाते हैं ।

उपरोक्त विवेचन से उपनिषदों की असंदिग्ध महत्ता स्पष्ट हो जाती है । भारत के महर्षियों ने अपने प्रतिभ-चक्षु से जिन आध्यात्मिक तत्वों का प्रत्यक्ष किया था उन्हीं तत्वों का भण्डार उपनिषद् में उपलब्ध है । भारतीय सभ्यता को आध्यात्मिक भाव प्रदान करने का श्रेय इसी ग्रन्थरत्न को है । 16वीं शताब्दी में दाराशिकोह ने सबसे पहले 50 उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया । इसी अनुवाद का अधूरा अनुवाद लैटिन भाषा में किया गया जिसका विशेष प्रभाव जर्मनी के उच्च दार्शनिक 'शोपेन हावर' के सिद्धान्तों पर पड़ा । इन सिद्धान्

दार्शनिक ने अपनी पुस्तकों में प्लेटो और काण्ट के साथ उपनिषदों को स्थान दिया है एवं इन उपनिषदों को 'मानवमस्तिष्क की सबसे ऊँची तथा पूर्ण रचना' के रूप में स्वीकार किया है ।

<u>वेदांग</u>

जैसा कि नाम से स्पष्ट है विकास साहित्य का प्रणयन वेदानुशीलन के अंग रूप में अथवा वेद का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए हुआ होगा । अतः वेदों के अर्थबोध तथा उसके कर्मकाण्ड में सहायक होने के कारण इनका नाम वेदांग पड़ा । वेदांगों की उपयोगिता असंदिग्ध है । इनके छः वर्ग है -

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष । वैदिक मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करने, कर्मकाण्डों का शुद्ध रूप से प्रतिपादन करने, वैदिक साहित्य में उपन्यस्त शब्दों का निर्माण एवं शुद्धता का निर्णय करने, प्रत्येक वैदिक मन्त्र के छन्द का ज्ञान प्राप्त करने, यज्ञ सम्पादन का विशिष्ट समय जानने एवं वैदिक शब्दों के अर्थबोध के लिए छः पृथक् - पृथक् शास्त्रों को उद्भावित किया गया है ।

1. <u>शिक्षा</u> - शिक्षा वर्णोच्चारण अथवा ध्वनि विज्ञान है -

"स्वरवर्णाद्युच्चारण-प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा ।।"[1]

शिक्षा के 6 अंग हैं - वर्ण, स्वर मात्रा, बल, साम और सन्तान ।

"शिक्षां व्याख्यास्यामः, वर्णः स्वरः, मात्रा,
बलम्, साम, सन्तान   इत्युक्तः ।"[2]

---

1. ऋग्वेद भाष्यभूमिका, पृ0 41.
2. शिक्षाध्याय, तैत्तिरीय, 1/2.

वैदिक शिक्षा-ग्रन्थों की संख्या 22 के करीब है ।

कल्प

वेदांगों में 'कल्प' का महत्वपूर्ण स्थान है । ब्राह्मण साहित्य में वर्णित कर्मकाण्ड का विकास इसी वर्ग में हुआ । कल्प का अर्थ वेद-विहित कर्मों का क्रमपूर्वक कल्पना करने वाला शास्त्र है -

"कल्पो वेद-विहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम् ।"[1]

विवाहोपनयन अथवा यज्ञयागादि को क्रमबद्धरूप में वर्णन करने वाले सूत्र ग्रन्थ ही 'कल्प' कहे जाते हैं । कल्पों के अन्तर्गत ही सूत्रों का विशाल भण्डार समाहित है जिसका वैदिक वाङ्मय में अत्यधिक महत्व है । इनके द्वारा न केवल साहित्य के नये युग का प्रवर्तन हुआ, अपितु इन सूत्रों ने भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन के नियमन में भी महत्वपूर्ण योग प्रदान किया है । कल्पसूत्र चार प्रकार के हैं -

1. श्रौतसूत्र - इसमें श्रुति प्रतिपादित यज्ञों का क्रमबद्ध वर्णन है अर्थात् ये श्रौत अग्नि से होने वाले बड़े यज्ञों का विवेचन करते हैं । ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं -

(1) आश्वलायन तथा (2) शांखायन ।

आश्वलायन में 12 अध्याय हैं तथा शांखायन श्रौतसूत्र में 18 अध्याय ।

शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र श्रौतसूत्र कात्यायन है । जो 26 अध्यायों में

---

1. ऋग्वेद प्रातिशाख्य की वर्गद्वय वृत्ति, पृ0 13.

विभक्त है । कृष्ण यजुर्वेद के कई श्रौतसूत्र हैं – बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशीय, सत्याषाढ़, वैखानस, भारद्वाज तथा मानव श्रौतसूत्र । सामवेद के तीन श्रौतसूत्र हैं –

1. लाट्यायन, 2. द्राह्यायण, तथा 3. जैमिनीय श्रौतसूत्र ।

अथर्ववेद का एकमात्र श्रौतसूत्र का नाम वैतान श्रौतसूत्र है ।

2. गृह्यसूत्र

गृह्यसूत्रों में गृह्यकर्मों अथवा घरेलू जीवन की चर्चा की गई है । ऋग्वेद के तीन गृह्यसूत्र हैं –

1. आश्वलायन, 2. शांखायन और 3. कौषीतक गृह्यसूत्र ।

आश्वलायन 4 अध्याय में, शांखायन 6 अध्याय में एवं कौषीतक 5 अध्याय में विभक्त हैं ।

शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र 'पारस्कर गृह्यसूत्र' ।

कृष्णयजुर्वेद के गृह्यसूत्रों के नाम इस प्रकार है –

बौधायन गृह्यसूत्र, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, सत्याषाढ़, भारद्वाज मानव, काठक अथवा (लौगाक्षिगृह्यसूत्र) ।

सामवेद का प्रधान गृह्यसूत्र गोभिलगृह्यसूत्र है । इसके अन्य गृह्यसूत्र हैं – खादिर तथा जैमिनीय ।

अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है कौशिक ।

3. धर्मसूत्र

धर्मसूत्रों में चारों वर्णों तथा आश्रमों के धार्मिक आचारों एवं विधानों के अतिरिक्त राजा के कर्तव्यों का वर्णन होता है । प्रसिद्ध धर्मसूत्रों के नाम इस प्रकार हैं - गौतम धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, हिरण्यकेशि धर्मसूत्र, वशिष्ठ धर्मसूत्र, विष्णुधर्मसूत्र, हारीतधर्मसूत्र एवं शंखलिखित धर्मसूत्र । इन धर्मसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय - आचार, विधिनियम तथा क्रिया-संस्कार है ।

4. शुल्बसूत्र

शुल्ब का अर्थ है रस्सी अर्थात् रज्जु द्वारा नापे गये वेदी का वर्णन । इसके तीन प्राचीन ग्रन्थ हैं - बौधायन, आपस्तम्ब तथा कात्यायन शुल्बसूत्र । बौधायन सर्वाधिक प्राचीन और विशाल ग्रन्थ है । यह तीन परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें सूत्रों की संख्या क्रमशः 116, 860 एवं 323 है । आपस्तम्ब शुल्बसूत्र में 6 पटल 21 अध्याय तथा 223 सूत्र हैं ।

कात्यायन शुल्ब सूत्र दो भागों में विभक्त है । प्रथम खण्ड में ७० सूत्र एवं द्वितीय में 48 श्लोक है । इसके अतिरिक्त तीन अन्य शुल्बसूत्र हैं -

मानवशुल्ब सूत्र, मैत्रायणीय तथा वाराहशुल्बसूत्र ।

5. व्याकरण

वेदांगों में व्याकरण का तृतीय स्थान है इसे वेद का मुख कहा जाता है - 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' । वेदों में अनेक मंत्र द्वारा व्याकरण की प्रशंसा को अभिव्यक्त किया गया है । इसके नाम, आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात प्रमुख के चार सींग के रूप में तथा वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों काल तीन पाद के रूप में वर्णित है । सुप् और तिङ् इसके दो सिर तथा सातों विभक्तियाँ सात

स्थान बतायी गई है । यह उर, कण्ठ और सिर तीन स्थानों में बँधा है -

'चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्ता सो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥'[1]

पतंजलि के अनुसार व्याकरण के तेरह प्रयोजन हैं । प्रधान पाँच प्रयोजनों में - रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह ।[2] इसके अतिरिक्त तेरह अन्य प्रयोजनों में है -

अपभाषा, दुष्टशब्द, अर्थज्ञान, धर्मलाभ, नामकरण आदि ।

4. <u>निरुक्त</u>

वेदांगों में निरुक्त का चतुर्थ स्थान है । इसमें मुख्यतः वैदिक शब्दों का अर्थावबोध की प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया गया है । यह पदों की निरुक्ति अथवा व्युत्पत्ति करता है । इसे वेद का श्रवण कहा गया है - 'निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते' । छन्द वेदों का पैर है और कल्प हाथ, ज्योतिष नेत्र है और निरुक्त श्रवण । शिक्षा वेद का घ्राण है और व्याकरण मुख ।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।[3]

---

1. ऋग्वेद, 4/58/6.
2. महाभाष्य
3. पाणिनि शिक्षा, 42.

सायणाचार्य ने अपने निरुक्त लक्षण में बताया है कि अर्थज्ञान के लिए स्वतंत्र रूप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है वही निरुक्त है – 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम् ।' निरुक्त के प्रतिपाद्य-विषय हैं – वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश तथा धातु का उसके अर्थातिशय से योग ।

5. छन्द

वैदिक संहिता का अधिकांश पद्यबद्ध है, अतः उसके वास्तविक ज्ञान के लिए वैदिक मन्त्रों के छन्दों का ज्ञान अत्यावश्यक है । छन्द को वेद का पाद कहा गया है – 'छन्दः पादौ तु वेदस्य ।' यास्क ने छन्द की व्युत्पत्ति देते हुए बताया है कि ये 'ढँकने वाले साधन' हैं । छन्दांसि छादनात् ।[1] वैदिक छन्दों की संख्या 26 मानी गई है । प्रधान वैदिक छन्दों के नाम इस प्रकार हैं –

गायत्री, उष्णिक्, पुरउष्णिक्, ककुप्, अनुष्टुप्, बृहती,
सतोबृहती, पंक्ति, प्रस्तारपंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती ।

6. ज्योतिष

ज्योतिष वेद पुरुष का नेत्र माना जाता है – ज्योतिषामयनं चक्षुः । वैदिक यज्ञों के विधान के लिए विशिष्ट समय का ज्ञान आवश्यक होता है जिसकी जानकारी ज्योतिष से ही होती है । ज्योतिष – ज्ञान के बिना समस्त वैदिक कार्य अन्धा हो जाता है । अतः 'वेदांगज्योतिष' में ज्योतिष को वेद का सर्वोत्तम अंग सिद्ध किया गया है – मयूरों की शिखा तथा सर्पों की मणि की

---

1. निरुक्त, 7/19.

भाँति ज्योतिष भी वेदांग का सिर है -

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा ।
तद्वद् वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम् ।।[1]

इस प्रकार वैदिक साहित्य के समापन के पश्चात् ही संस्कृत वाङ्मय में इतिहास, पुराण और काव्य जैसे ।अभिजात। साहित्य की अवतारणा हुई ।

पुराण-साहित्य

'पुराणों का अवतरण'

वैदिक साहित्य के समापन के पश्चात् जिस साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ वह है हमारा विशाल पुराण साहित्य । जो कि भारतीय संस्कृति और साहित्य का आगार है । वर्तमान काल में पुराण-साहित्य, संस्कार भण्डार का एक विस्तृत भाग है जो धर्म-ग्रन्थ के नाम से सर्वसाधारण के परम-विश्वास का पात्र बना हुआ है ।

पुराण का मनोहर गद्यात्मक तथा अलंकार युक्त वर्णन मानस के हृदय को बरबस आकृष्ट कर कथा-क्रम से वर्णित महत्-तत्वों द्वारा प्रत्येक जन को सुगमता प्रदान करता है । सभी जातियों में शिक्षा तथा विद्याभ्यास का साधन अपनी यथोचित अवस्था में कथा-कहानियाँ कही हुआ करती हैं अतः सर्वसाधारण जातीय जीवन को संगठित करने के लिए हमारे प्राचीन विद्वानों मनीषियों ने शास्त्र के

---

1. वेदांगज्योतिष्, 4.

गूढ़ - कर्मों को इतिहास की चिरन्तन मानिनी शृंखला में गूंथ कर सर्वजन को शिक्षा देने का एक महत्वपूर्ण आविष्कार किया है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर इतिहास को 'पाँचवाँ वेद'[1] माना गया है और इसी का दूसरा रूप पुराण है।

प्राचीन ग्रन्थों में पुराण और इतिहास दोनों का नाम प्रायः एक साथ ही दृष्टिगोचर होता है। वेदों की सम्यक् व्याख्या के लिए भी पुराणों के ज्ञान को आवश्यक बताया गया है, क्योंकि महाभारतादि इतिहास तथा पुराणों के द्वारा ही वेदों का उपबृंहण हुआ है; जैसा कि महाभारत एवं पुराणों में वर्णित है -

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥"[2]

प्राचीन इतिहासों का संग्रह करना तथा सृष्टि, स्थिति, लय मन्वन्तर तथा वंश - परम्पराओं का वर्णन भी पुराण के अन्तर्गत ही माना जाता है। वैदिक साहित्य में भी अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख प्राप्त है। जैसा कि अथर्व-वेद में -

"ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिविदेवा दिविश्रितः ॥"[3]

अर्थात् 'ऋक्', साम, छन्द और यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट

---

1. 'इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्' - छान्दोग्योपनिषद्, 7/1/1.
2. महाभारत - 1/1/267; वायुपुराण - 1/201 इत्यादि।
3. अथर्ववेद - 11/7/24.

जगत् पर शासन करने वाले सर्वमय परमात्मा से उत्पन्न हुआ है ।"

"स बृहतीं दिशमनुव्यचलत् । तमितिहासश्च पुराणञ्च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् । इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ।"[1]

अर्थात् वह व्रात्य बृहती दिशा की ओर चला, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी भी उसके पीछे-पीछे चले । इसी प्रकार से ज्ञानी पुरुष इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि का प्रिय हो जाता है ।

गोपथ में ऐसा वर्णित है कि -

"एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः सस्वराः"
इत्यादि

अर्थात् इस प्रकार सम्पूर्ण वेद रहस्य ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, कथा, पुराण एवं स्वरादि के साथ बनाये गये ।[2]

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी -

"अध्वर्युस्तार्क्ष्यो वैपश्यतो राजा इत्याह । तानुपदिशति पुराणं वेदः । सोयमिति किंचित्पुराणमाचक्षीत ।।"[3]

---

1. अथर्ववेद - 15/6/11/12.
2. गोपथ, भाग - 2.
3. शतपथ ब्राह्मण, 14/3/3/13.

अर्थात् अध्वर्यु ने कहा कि तार्क्ष्य वैपश्यत राजा है, उसकी पक्षि तथा वायु-विद्या को जानने वाली प्रजायें हैं। उनको ऐसा उपदेशित किया जाता है कि तुम्हारा पुराण वेद है और कुछ पुराण उनको सुना दिया गया।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कुछ ऐसा ही वर्णन है -

"एवं वा अरे स्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदो
यजुर्वेद सामवेदा अथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः।"

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषदें ये सब इसी महान् परमात्मा के निःश्वास हैं।[1]

छान्दोग्य में भी नारद अपनी विद्या के विस्तार में इतिहास और पुराण को पंचम वेद बतलाते हुए कहते हैं कि -

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदाथर्वणं चतुर्थमितिहास वेदानां वेदमिति।"[2]

इस प्रकार प्राचीनकाल में स्थान - स्थान पर पुराण की सत्ता के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं।

सूत्र ग्रन्थों में भी पुराणों के अध्ययनाध्यापन का प्रसंग कहीं - कहीं उपलब्ध होता है जैसे जैसे - आश्वलायन गृह्यसूत्र में -

"आप्लुत्य कथा कीर्तयन्तो मांगल्यानितिहास-
पुराणानीत्याख्यापयमानाः।"[3]

---

1. बृहदारण्यक - 2/4/11.
2. छान्दोग्योपनिषद् - 7/1/1.
3. आश्वलायनगृह्यसूत्र - 4/6.

इसी प्रकार आपस्तम्ब में भी विधि के प्रमाणार्थ सूचन के लिए पुराणों का कहीं-कहीं उल्लेख किया गया है जैसा कि उत्सरायण यज्ञ की प्रशंसा हेतु आपस्तम्ब सूत्र में ऐसा उल्लेख आया है कि –

"अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति ।
अष्टाशीतिसहस्राणीत्यादि ।।"[1]

याज्ञवल्क्यस्मृति में चतुर्दश विद्याओं में पुराण विद्या को प्रमुख स्थान दिया गया है और उसे न्याय-मीमांसा, धर्मशास्त्र, चार वेद और छः वेदांगों की भाँति ही धर्म का आधार बताया गया है ।[2]

इस प्रकार पुराणों की सत्ता तथा उपयोगिता को अत्यन्त प्राचीन काल से ही विद्वानों ने माना है । ऐतिह्य वाक्य अथवा पुराण भाग, विधि या वेद प्रतिपादित काम्यादि कर्म इसलिए होता था जिससे मनुष्य कर्म को प्रशस्त जानकर एकाग्रचित्त से श्रद्धापूर्वक दीक्षा ले । अतः श्रुति के प्रयोजक पुराण तथा इतिहास भाग का उपादान प्राचीन काल से होना आवश्यक है, निर्विवाद सत्य है । विवाद विषय इतना ही है कि वर्तमान अतिविस्तृत ग्रन्थाकारेण परिगत- भविष्य, गरुड़, वामनादि नामों के महापुराण तथा सौरादि उपपुराण प्राचीन काल से वैसे ही हैं अथवा मध्य काल में कुछ परिवर्तन जैसे प्रक्षेप-विस्तार या संकुचन हुए हैं, यही एक विवादास्पद बिन्दु है । इन विषयों का निर्णय लेने के लिए पूर्व श्रुति-बोधित ऐतिह्य, गाथा, नाराशंसी तथा पुराण के तात्पर्य को समझना आवश्यक है ।

---

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/22/35.
2. याज्ञवल्क्यस्मृति – पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।।

प्राचीन कालिक राजाओं, वंशों और जनसमाजों का वर्णनात्मक इतिहास ही 'ऐतिह्य' है, जिससे उनके व्यवहार, विचार और सभ्यता का ज्ञान होता है ।

वृत्तान्त रूप से कथा प्रसंग कहने को 'आख्या' कहते हैं अथवा दूसरे शब्दों में यह उपाख्यान कहलाता है ।

जिसमें किसी मनुष्य का वृत्तान्त कहा जाये उसे 'नाराशंसी' कहते हैं एवं 'पुराण' पुरातन घटनाओं का संग्रह है । इसमें जगत् की रचना तथा संहार का भाग अधिक अधिक होता है और इतिहास केवल अंश-मात्र होता है ।

यह पुराण कौन सी वस्तु है इस विषय में पुराण कोविद कहते हैं कि -

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितश्चेति पुराणं पंच लक्षणम् ।।"[1]

अर्थात् जिसमें सृष्टि, प्रतिसृष्टि अथवा प्रलय, वंश, मन्वन्तर एवं वंशों का अनुचरित इन पाँच प्रतिपादन किया जाये उन पंचलक्षणों से युक्त ग्रन्थकों 'पुराण' कहा जाता है । परन्तु यह लक्षण पुराणकर्त्ताओं ने अपने पुराण को सार्थक बनाने के लिए किया है । इस लक्षण का मुख्य भाग सर्ग, प्रतिसर्ग, मन्वन्तरादि का विवरण है, इसीलिए सायणाचार्य पुराण का लक्षण इस प्रकार करते हैं -

"इदं वा अग्रे नैव किंचासीन्नद्यौरासीद्" इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थामनुक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्' ।[2] अर्थात् 'पहले कुछ न था, यौ भी न

---

1. आदिपुराण -
2. ऐतरेय ब्राह्मण भूमिका -

न थी' इत्यादि जगत् की पहले असत्ता बतलाकर तत्पश्चात् सृष्टि का प्रतिपादन करने वाले वाक्य को 'पुराण' कहते हैं ।

कुछ विद्वान इस कथन पर संदेह करते हैं कि यदि पुराण ग्रन्थ कोई ग्रन्थ विशेष न होता तो अथर्व0 में 'स इतिहासश्च पुराणञ्च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् इत्यादि'[1] में इतिहास पुराणादि का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करना कैसे संगत होगा । इसी प्रकार सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः' गोपथ के इस वचन में भी पुराण और इतिहास का पृथक्-पृथक्-निरूपण करना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि उपरोक्त ब्राह्मण शब्द से पुराण वाक्य के ग्रहण हो जाने से पुराण शब्द का उपादान व्यर्थ होकर यह सिद्ध करता है कि पुराण ग्रन्थ को एक अन्य नवीन ग्रन्थ ही माना जाना चाहिए । किन्तु ऐसा उचित नहीं है क्योंकि सायण ने ही अपनी ऐतरेय की भूमिका में इसका उत्तर इस प्रकार दिया है -

"ननु ब्रह्मयज्ञप्रकरणे मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्ता इतिहासादयो भागो आम्नायन्ते" यद् ब्राह्मणानि इतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथाः नाराशंसीः"[2] इति मैवम् विप्रपरिव्राजक न्यायेन ब्राह्मणाः व्यवान्तरभेदानामेवेतिहासादीनां पृथगभि-धानात् ।"[3]

इसी प्रकार विभिन्न देवताओं को उद्दिष्ट करके चलने वाले पन्थों द्वारा यही पुराण प्रतिसम्प्रदाय भेद से पृथक् पृथक् रूप में हो गया जिससे पुराणों में परस्पर देवताओं की निन्दा तथा अन्योन्य देवतोपासकों के प्रति अशोभन वाक्यों का निःसंकोच प्रयोग किया जाने लगा ।

साम्प्रदायिक हो जाने से प्रत्येक देवोपासक सम्प्रदाय अपने पुराण को सर्वाधि-

---

1. अथर्व0 - 15, 6, 12.
2. तैत्तिरीय आरण्यक - 2, 9.
3. ऐतरेय ब्राह्मण भूमिका

पूर्ण करने के लिए उसमें विभिन्न उपाख्यान, उपदेश, विभिन्न प्रकार के आचार-विचार, पूजा, पाठादि और अनेक इतिहास को अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार उचित समझ कर समाविष्ट करने लगे जिससे पुराणों का विस्तार बहुत ही चमत्कारिक हो गया । सम्प्रदायों के पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से ही नाना देवता भेद से पुराणों की संख्या में भी वृद्धि हुई । इस प्रकार पुराण का विस्तार करके पुराण कर्ताओं ने अपने अपने देवता का सर्वाधीश्वर बनाकर दूसरों के अभिमत देव को नीचे गिराने का भरसक प्रयत्न किया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में 'पुराण' नाम का कोई भी पृथक् ग्रन्थ नहीं था । पुराणवाक्यों के आधार पर एवं प्राचीन ऐतिहासिक वाक्यों तथा उपाख्यानों को संग्रहित करके ही इसका 'पुराण' ऐसा नाम रखा गया । महाभारत के आदिपर्व में इस पुराण ग्रन्थ का स्वरूप इस प्रकार उपलब्ध है -

द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥ 17 ॥
तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्र पदपर्वणः ॥ 18 ॥

भारतस्येतिहासस्य ———————— ॥ 19 ॥
वेदैश्चतुर्भिः संयुक्तां व्यासस्याद्भुतकर्मणः ।
संहितां श्रोतुमिच्छामः पुण्यां पापभयापहाम् ॥ 20 ॥[1]

अर्थात् द्वैपायन व्यास ने जो कुछ पुराण कहा, जिसको देव तथा ऋषियों ने आदर से देखा, उन उपाख्यानों में सर्वश्रेष्ठ, विचित्र पदों और पर्वों से युक्त

---

1. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय - 1.

महाभारत इतिहास की पुण्य तथा पाप के नाशक संहिता को हम सुनना चाहते हैं। इस प्रकार के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत का महान् आख्यान ही पुराण के नामान्तर से कहा जाने लगा, परन्तु अन्य पुराणों की पृथक् सिद्धि का कोई भी आधार नहीं है।

इस प्रकार महर्षि व्यास ने प्राचीन काल से प्रचलित कथाओं, किंवदन्तियों तथा इतिहास को ग्रथित करके, उनमें आये हुए प्राचीन पुराण वाक्यों को संगृहित कर साथ ही प्राचीन वंश तथा मन्वन्तर के वर्णनों को क्रमबद्ध करके सृष्टि क्रम तथा स्थिति और प्रलय वर्णनों को तत्कालिक प्रचलित भाषा में रोचक रूप में विन्यास-कर तैयार किया जिसके परिणामस्वरूप वर्तमान पुराण के आदि व अन्त को ज्ञात करना दुष्कर हो गया।

इसके साथ ही यह भी माना जाता है कि ये पुराण सबसे पहले परमात्मा ने प्रकाशित किया, तत्पश्चात् वेदों का निर्माण हुआ। इस सिद्धान्त की घोष पुराणों ने ही किया है जैसा कि मत्स्य पुराण में वर्णित है कि -

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥[1]

सृष्टि प्रकरण की श्रुतियों में समस्त लोकों के निर्माण के पश्चात् उन्हीं के सारभूत ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति बताई गई है लेकिन पुराणमतानुसार प्रथम पुराणों की ही उत्पत्ति को उपदेश किया गया है। पुराणों के कुछ पदों की समान आलोचना की गई है क्योंकि उनमें प्रथम तो वस्तुओं की कल्पना की गई है,

---

1. मत्स्य पुराण

फिर पुराणों का निर्गीकरण, तदनन्तर वेदों की उत्पत्ति और अन्त में पुराणों को ग्रहण किया गया है ।

इसी प्रकार कल्पान्तर में शतकोटि विस्तार वाले पुराणों की सत्ता, आगामी कल्प में मत्स्य का मनुष्य रूप धारण, देवलोक में शतकोटि प्रविस्तार पुराण की सत्ता, परमात्मा को व्यास रूप में पुनः प्रकट होना, ये सभी बातें सर्वथा कपोलकल्पित मिथ्यावाद सी प्रतीत होती है ।

मत्स्य पुराण के एक अध्याय में स्वयं भगवान् विष्णु पुराण की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं कि -

"न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र इन सबको ग्रहण कर मैंने ही पुराण की रचना की तत्पश्चात् मत्स्य का रूप लेकर कल्प के आदि में समुद्र के बीच बैठकर इसको मैंने कहा, जिसे सुनकर ब्रह्मा ने देवताओं और ऋषियों को सुनाया । तब से ही पुराण और धर्मशास्त्र प्रसिद्ध हुआ । कालान्तर में पुराण को लोगों ने त्याग दिया, यह देख - मैं ही बार बार व्यास रूप में आकर प्रति द्वापर में 4 लाख श्लोकों का संग्रह कर उसी को 18 विभागों में श्लोक में प्रकाशित करता हूँ जिसे लोक में अष्टादश पुराण के नाम से पुकारते हैं ।"[1]

इस प्रकार पुराण अवतरण की विवेचना के पश्चात् उसके महत्व पर संक्षिप्त प्रकाश डालना भी अति आवश्यक है ।

1- निर्दग्धेषु च लोकेषु वाजिरूपेण च मया ।
अङ्गानि चतुरो वेदाः पुराणं न्यायविस्तरम् ॥ 5 ॥

तदर्थोऽत्र चतुर्लक्ष संक्षेपेण निवेशितम् ।
पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते ॥ ॥ ॥

मत्स्यपुराण, अध्याय - 53.

पुराणों का महत्व

ऐतिहासिक दृष्टि से पुराण अमूल्य निधि है इसमें कवित्वपूर्ण रचनात्मकता के साथ साथ भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का गौरवमय अंश उपलब्ध है । महाकाव्यीय पुरा कथाओं को वृहद् भण्डार तथा धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल मानव सृष्टि तथा संहार से ओत-प्रोत यह विशाल पुराण साहित्य, मनुष्य के उत्तरदायित्वों के सिद्धांतों से भी भरा पड़ा है ।

पुराण की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए 'वायु-पुराण' में कहा गया है - कि वह ब्राह्मण जो वेदों और उपनिषदों को अंगों सहित जानता है, लेकिन उसे यदि पुराणों का ज्ञान नहीं है तो वह शास्त्र निपुण नहीं कहा जा सकता । अतः उसे इतिहास और पुराण की सहायता ग्रहण कर अपने वेद विषयक ज्ञान को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि जिसे पुराणादि का ज्ञान नहीं होता उस व्यक्ति से वेद सदैव इस कारण भयभीत रहता है कि कहीं पौराणिक अभाव में उसका अनर्थ न हो जाये -

> यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः ।
> न वेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ॥
> इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत ।
> विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥-1

पद्मपुराण में कहा गया है कि ब्रह्माजी ने समस्त शास्त्रों में सर्वप्रथम पुराण का स्मरण किया । पुराण सम्पूर्ण लोकों में श्रेष्ठ तथा समग्र ज्ञान का

---

1. वायुपुराण, 1, 200/1.

प्रदाता है इसकी गरिमा तथा प्राचीनता निम्न श्लोकों से स्पष्ट है -

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
उत्तमं सर्वलोकानां सर्वज्ञानोपपादकम् ॥[1]

पुराणों की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए महामना पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने पुराण को आर्य-जाति का सर्वस्व स्वीकार किया है और इसे आर्य-साहित्य रूपी प्रासाद का आधार स्तम्भ, प्राचीन इतिहास रूपी मंदिर का स्वर्ण कलश, विविध विज्ञानरूपी समुद्र में तैरने वाले जहाज का प्रकाश-स्तम्भ, मानव समाज की संस्कृति का पथ-प्रदर्शन कराने वाला दिव्य प्रकाश तथा आर्य-जाति की अनादिकाल से संचित विभाओं की सुदृढ़ मंजूषा बताया है ।[2]

पुराणों में सत्य, त्याग, कर्तव्य एवं विभिन्न प्रकार की भावनिष्ठाओं से सम्बन्धित जो सुचरित वर्णन है उनके द्वारा पाठक भावपूरित होकर उसके सार-युक्त उपदेशों को व्यावहारिक जीवन में ढालने का प्रयत्न करता है । 'भारतीय जीवन की प्रेरणा हमें प्राणस्वरूप श्रुतिस्मृति के उपस्थापनीय पुराणों से प्राप्त होती है ।[3]

ऋषि याज्ञवल्क्य ने चौदह विद्याओं में पुराण विद्या को प्रथम स्थान दिया है -

"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥"[4]

---

1. ब्रह्माण्ड पुराण, अध्याय - 1.
2. पुराण-परिशीलन, पृ० 1, प्रस्तावना ।
3. ब्रह्मपुराण प्रथम भाग, भूमिका, प्रकाशक मनसुखराय मोर, कलकत्ता, प्र०सं० 1954, पृ० 12.
4. याज्ञवल्क्य स्मृति, प्र०अ०, श्लोक 3.

पुराणों से प्रेरणा लेकर ही साहित्य-स्रष्टाओं ने अगणित विषयों के ग्रन्थों की रचना की, अतः विभिन्न शाखा - प्रशाखाओं में विभाजित होने के कारण इसका विस्तार सुदीर्घ है -

"इतिहासः पुराणं च नाम्नश्चोपनिषत्तथा ।
आख्यानानि कर्माणि अग्निहोत्राहुते भवन् ॥"[1]

"वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसीश्च गाथिकाः ।
इतिहासांस्तथा विद्यां योऽधीते शक्तितोऽन्वहम् ॥"[2]

इन आख्यायिकाओं द्वारा पुराण की महत्ता स्पष्ट लक्षित होती है । पुराणों के पाठ का जहाँ -

"श्रुत्वादि पुराणेषु वेदेभ्यश्च यथाश्रुतम्"

इत्यादि श्लोकों द्वारा सबके लिए आदेश है, वहीं नास्तिकों के लिए पुराणों के पाठ के निषेध की भी घोषणा की गई है -

"इदं पुराणं परमं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम् ।
नानाश्रुतिसमायुक्तं नास्तिकाय न कीर्तयेत् ॥"[3]

इस प्रकार पुराणों का महत्व सर्वविदित है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का विविध दृष्टिकोणों से विचार पुराणों में उपलब्ध है । पुराणों में पाठक को सर्वोच्च तत्व तथा महानतम् ज्ञान का दर्शन हो सकता है । यदि वह उनके प्रतीकों को बुद्धिपूर्वक समझकर चलें ।[4]

---

1. पद्मपुराण
2. याज्ञवल्क्य स्मृति, अध्याय-1, श्लोक 4-5.
3. याज्ञवल्क्य स्मृति, 147/35.
4. अष्टम ओरियण्टल कान्फ्रेंस विवरण, जि0 2, स्टाकहोम, पृ0 171.

इसके अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् में पुराण को पंचम वेद की संज्ञा दी गई है -

' इतिहास-पुराणं पंचमं वेदानां वेदम् ' ।[1]

इस प्रकार पुराण को भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड कहा जा सकता है जिसमें भारतीय सृष्टिक्रम-व्यवस्था, प्रलय, वंशानुचरित के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय भूगोल, रीति-नीति, राजनीति, इतिहास, काव्य एवं पुरातत्व का मंजुल सम्मिश्रण एवं उपबृंहण है । उपरोक्त दृष्टि से पुराणों की महत्ता और उपादेयता असंदिग्ध है ।

पुराण शब्द की व्युत्पत्तियाँ - (विविध अर्थ)

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि, यास्क तथा स्वयं पुराणों ने भिन्न भिन्न तरह से की है । 'पुराभवम्' अर्थात् प्राचीन काल में होने वाला, इस अर्थ में - 'सायंचिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च'[2] । इस पाणिनि सूत्र से 'पुरा' शब्द में 'ट्यु' प्रत्यय करने तथा तुट् के आगम पर 'पुरातन' शब्द की निष्पत्ति होती है परन्तु स्वयं पाणिनि ने अपने दो सूत्रों - पूर्वकालैक - सर्व - जरत् पुराण नवकेवलाः समानाधिकरणेन[3] तथा 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु'[4] में 'पुराण' शब्द प्रयोग से तुडागम के अभाव को निपातनात् सिद्ध किया है । अर्थात् पाणिनि के इस सूत्र में नियमानुसार 'पुरा' शब्द से ट्यु प्रत्यय तो होगा

---

1. छान्दोग्य उपनिषद् , 7/1/1.
2. पाणिनि सूत्र - 4/3/23.
3. पाणिनि सूत्र - 2/1/49.
4. पाणिनि सूत्र - 4/3/105.

लेकिन तुट् का आगम नहीं होता । पुरा + नी + ड इन तीनों के मिलने से पुराण शब्द निष्पन्न होता है अथवा णी - प्रापणे धातु से प्रत्यय करने के बाद टि लोप और णत्वकार्य करने पर पुराण शब्द पुराऽऽनयपूर्वक सिद्ध होता है । यास्क के निरुक्त के अनुसार पुराण की व्युत्पत्ति है - पुरा नवं भवति'[1] अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नवीन हो, 'गीता' में भगवान पुराण पुरुष कहे गये है - 'कविंपुराणमनुशासितारम्' इन बाह्य साक्ष्य अर्थों के अतिरिक्त स्वयं पुराणों ने भी पुराण शब्द की व्युत्पत्ति की है । 'वायु पुराण' के अनुसार 'पुरा अनति' अर्थात् प्राचीन काल में जो जीवित था उसे पुराण कहते हैं ।

> यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।
> निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।[2]

'पद्मपुराण' में प्राचीनता की कामना करने वाले को पुराण कहा गया है ।

> 'पुरा परम्परया वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।'[3]

'ब्रह्माण्ड पुराण' में इससे भिन्न एक अन्य व्युत्पत्ति है - 'पुरा एतद् अभूत' अर्थात् प्राचीन काल में ऐसा हुआ ।

> यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।
> निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।[4]

---

1. निरुक्त , 3/19.
2. वायुपुराण, 1/203.
3. पद्मपुराण, 5/2/53.
4. ब्रह्माण्डपुराण, 1/1/173.

साधारणतः 'पुराण' शब्द से अभिप्राय उन ग्रन्थों का ग्रहण किया जाता है, जिनका विषय आधुनिक विचारधारा से दूर, कपोलकल्पित कथामात्र है। कोषकार इसका सामान्य अर्थ 'पुराना' किया है जैसा कि अमरकोष में पुराण के सम्बन्ध में - 'पुराणप्रत्नपुरातनचिरंतना' एवं पुराणम् पुराभवम्'[1] ऐसा लिखा हुआ है जिससे 'पुराना' अर्थ सिद्ध होता है। निर्माणकाल की दृष्टि से वेदों को ही 'पुराण' संज्ञा से विभूषित किया गया किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। क्योंकि निर्माणकाल में तो पुराण ग्रन्थ नूतन ही रहे होंगे, तथापि उनको सृजनकाल से ही 'पुराण' की संज्ञा क्यों प्रदान की गई; जैसा कि पुराण शब्द तो पुराना' अर्थात् 'जो व्यतीत हो गया' का वाचक है अतः यह पुराण शब्द भी आज आलोचना का विषय बन गया है।

अमरकोश में पुराण शब्द के लिए एक स्थान पर 'पुराभवम्, यद्वा पुरा अपि नवम्, यद्वा पुरा अतीतानागतौ अर्थौऽणति'[2] ऐसा कहा गया है जिसका अर्थ है - 'जो पूर्व में होकर भी नया अथवा भूत-भविष्य के अर्थों को पहले ही कह देने वाला।' भारतीय वाङ्मय में 'इतिहास-'पुराण' सामान्यतः में पुराणों के लिए ही प्रचलित हो गया। इतिहास के साथ पुराण का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ही 'छान्दोग्य - उपनिषद्' में इसको 'पंचम वेद' की संज्ञा दी गई है -

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वण-
मितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्।"[4]

इस प्रकार अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर पुराण के अर्थ भी भिन्न भिन्न हो जाते हैं।

---

1. अमरकोश, भानुदीक्षित व्याख्या, निर्णयसागर, बम्बई 1944, तृतीय काण्ड, श्लोक 76.
2. शब्दकल्पद्रुम कोष, गणेशदत्त शास्त्री, पृ० 320, सं० 1925.
3. अमरकोश, निर्णयसागर, बम्बई, तृतीय काण्ड, पृ० 65, संस्करण 1944.
4. छान्दोग्य उपनिषद्, 7/1.

पुराण एवं इतिहास

प्रकृति एवं पुरुष की भाँति इतिहास और पुराण का प्राचीन वैदिक काल से ही परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। फिर भी दोनों एक दूसरे से कुछ भिन्न हैं जैसा कि इतिहास में प्रत्यक्ष घटित घटनायें होती है जबकि पुराण पुरानी दन्त कथाओं एवं राजवंश को लिए होता है।

निर्विशेषतया 'पुराण' शब्द का अर्थ है – पुरातन अथवा प्राचीन। जबकि संज्ञा रूप में प्रयुक्त 'पुराण' का विशिष्ट अर्थ है – 'पुरा आख्यान' अर्थात् पुरातन आख्यानों से संयुक्त ग्रन्थ। वस्तुतः पुराण संकलित ग्रन्थ है जिसमें रूपकात्मक एवं तथ्यात्मक पुरावृत्त संगृहीत हैं। 'पुराण' और 'इतिहास' ये दोनों शब्द कभी तो भिन्न अर्थों में और कभी अभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। शंकराचार्य के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित उर्वशी-पुरूरवा आदि संवाद 'इतिहास' है तथा 'असदा – इदमग्र आसीत्' इत्यादि सृष्टि विषयक वाक्य 'पुराण' के अन्तर्गत आते हैं –

"इतिहास इति – उर्वशी पुरूरवसोः संवादादि।
पुराणम् – असदाइदमग्रआसीदित्यादि ।।"[1]

सायण के अनुसार 'इतिहास' का सृष्टि विषयक इस प्रकार है जैसे आरम्भ में जल के अतिरिक्त कुछ नहीं था और पुराण का अर्थ उर्वशी-पुरूरवा आदि का उपाख्यान ।[2] छान्दोग्य उपनिषद् में इतिहास-पुराण को पंचम वेद बताया गया

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2/4/10 शंकरभाष्य

2. शतपथ ब्राह्मण, 13/4/3, भाष्य

है -

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणम् ।
इतिहास पुराणं पंचमं वेदानां वेदम् ।।"[1]

इतिहास शब्द का निर्वचन है - 'इति + ह + आस' अर्थात् 'यह ऐसा था' अथवा प्राचीन काल में निश्चित रूप से होने वाली घटना' । इस निर्वचन से स्पष्ट है कि किसी भी तथ्यात्मक कथानक को इतिहास कहा जाता है ।

वेदों और उपनिषदों का अध्ययन करना जिस प्रकार ब्राह्मणों का कर्म था, उसी तरह इतिहास और पुराण पढ़ना सूतों का काम था । यास्क ने निरुक्त के ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ को तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' ऐसा उद्धृत किया है । इस प्रकार प्राचीन काल में इतिहास का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ वास्तव में घटित होने वाली घटनाएँ थीं एवं पुराण काल्पनिक कथाओं का संग्रह था । समयान्तर में पुराणों में इतिहास शब्द इतिवृत्त का वाचक होता गया और काल्पनिक कथाओं अथवा उपाख्यानों के लिए पुराण एवं वास्तविक घटनाओं के लिए इतिहास शब्द का व्यवहार होने लगा । इस प्रकार दोनों अर्थ भेद से भिन्न हो गये -

"निदानभूतः इति ह एवमासीत् इति य उच्यते स इतिहासः ।"[2]

प्राचीन ग्रन्थों में कई स्थलों पर पुराण और इतिहास शब्द एक साथ ही प्रयुक्त हुए हैं जैसे -

"इतिहास-पुराणं पंचमं वेदानां वेदम् ।"[3]

---

1. छान्दोग्योपनिषद्, 7/1.
2. निरुक्त, 2/3/1.
3. छान्दोग्योपनिषद्, 7/1/1.

अथ ये स्योदंचो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्यो अथर्वांगिरस एव मधुकृत इतिहास पुराणं पुष्पं ता अमृता आप ।।

ते वा एतेऽथर्वांगिरस एतदितिहास-पुराणमभ्यतपंस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत ।"[1]

विद्या के रूप में भी अन्य वेदों के साथ शतपथ ब्राह्मण में इतिहास-पुराण का उल्लेख एक स्थान पर दृष्टिगत है -

> "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोका सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि ।"[2]

बृहदारण्यक उपनिषद् भी इतिहास और पुराण शब्द का एक वचन में समवेत प्रयोग चारों वेदों के साथ मिलता है -

> "ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्वांगिरस इतिहासः पुराणम् ।"[3]

महाभारत में इसका संकेत इस प्रकार मिलता है -

> "इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत ।"[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ स्थलों पर पुराण और इतिहास से समान अर्थ का बोध होता है परन्तु विषय वस्तु की दृष्टि से इनमें एकरूपता नहीं है ।

---

1. छान्दोग्य उपनिषद् , 3/4/1-2.
2. शतपथब्राह्मण, 15/5/5/10.
3. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4/4/10.
4. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 5.

कुछ विद्वानों ने अपने अनुसंधानों द्वारा इतिहास और पुराण की भिन्नता को पूर्णतः सिद्ध कर दिया है काशी के विद्वान श्रीरामकृष्णदास के मतानुसार – इतिहास और पुराण एक समय समानार्थक अवश्य थे, किन्तु आगे चलकर पुराणों में अनैतिहासिकता का समावेश तथा साम्प्रदायिकता का सम्मिलन हो जाने से, दोनों एक दूसरे से इतने भिन्न हो गये कि आज इनके एकीकरण की कल्पना भी नहीं की जा सकती । क्योंकि – "बौद्ध और जैनों के प्रारम्भिक साहित्य में पुराण तुल्य कोई वाङ्मय नहीं था । यह उस सम्प्रदाय का आरम्भिक साहित्य था, उस समय पुराण ही सर्वत्र ऐतिहासिक वाङ्मय था और किसी भी मत से सम्बद्ध नहीं था अतः ब्राह्मण और श्रमणों को इस प्रकार के किसी निजी साहित्य की अपेक्षा बहुत काल तक नहीं हुई ।"[1]

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि पुराण साहित्य आज इतिहास नहीं है, जिसका आशय इतिवृत्त के वास्तविक रूप का बोध कराने वाले साहित्य से है ।

राजशेखर ने इतिहास को 'परिक्रिया' और 'पुराकल्प' इन दो रूपों में स्वीकार किया है –

परिक्रिया में एक नायक की कथा होती है जैसे – 'रामायण' और 'पुराकल्प' बहुनायकों की कथा से ओत-प्रोत होता है जैसे – 'महाभारत' । कालान्तर में पुराण शब्द का अर्थ इतना व्यापक हो गया कि इसमें न केवल इतिहास अपितु सम्पूर्ण वाङ्मय का समावेश हो गया, जो आनन्द – कल्याण का साधन

---

1. रायकृष्णदास, पुराण इतिहास, वैंकटेश्वर समाचार, बम्बई, अंक – 22/10/1954.

माना जाने लगा -

"श्रृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणानां समुच्चयम् ।
यस्मिन् ज्ञाते भवेज्ज्ञातं वाङ्मयं सचराचरम् ॥"[1]

याज्ञवल्क्य स्मृति में धर्म के चौदह स्थानों (स्रोतों) में केवल पुराण की गणना की गई है, इतिहास अथवा इतिहास-पुराण की नहीं यथा -

"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।"[2]

यहाँ याज्ञवल्क्य ने पुराण में ही इतिहास का अन्तर्भाव किया है क्योंकि महाभारतादि इतिहास को भी धर्मप्रतिपादक ग्रन्थ ही माना गया है ।

इस प्रकार कालान्तर में पुराण और इतिहास दोनों एक दूसरे के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे जिससे इन दोनों की व्याख्या में भी कोई भेद नहीं रह गया ।

अमरकोश में इतिहास का जो लक्षण दिया गया है उसको महाभारत के टीकाकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

"पुराणं पुरावृत्तम्"[3]

"इतिहासः पुरावृत्तम्"[4]

---

1. नारद पुराण, 1/12/21.
2. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/3/
3. नीलकण्ठटीका, महाभारत 1/3/1.
4. अमरकोश, 1/3/4.

और ज्यों ज्यों पुराण विश्वकोश का रूप धारण करता गया और अपने में मानवोपयोगी विषयों का समावेश करते गया त्यों त्यों इतिहास तथा धर्मशास्त्र आदि विषय उसमें अन्तर्भावित होते गये । यहाँ तक कि महाभारत ने स्वयं अपने को पुराण कहा है -

"द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा"[1]

रामायण का भी कुछ अंश पुराणों में उपलब्ध है । अतः इससे स्पष्ट है कि पुराणों में इतिहास अन्तर्निहित है ।

इस प्रकार पुराण के विशाल वाङ्मय में 18 महापुराणों, 18 उपपुराणों, महाभारत तथा रामायण ग्रन्थों का समावेश हो जाता है । केवल 18 महापुराणों की श्लोक संख्या 4 लाख मानी गई है, महाभारत की श्लोक संख्या 1 लाख तथा रामायण की 25 हजार, इस प्रकार कुल मिलाकर सवा 5 लाख श्लोकों का यह समग्र वाङ्मय सम्मिलित 'पुराण' नाम से अभिहित किया जाता है जैसा कि मत्स्य पुराण में कहा गया है -

"एवं सपादाः पञ्चैते लक्षा मर्त्ये प्रकीर्तिताः ।
पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः ।।"[2]

18 महापुराणों के अतिरिक्त जो 18 उपपुराण एवं 18 औपपुराण हैं वे इन महापुराणों के ही परिशिष्ट रूप माने गये हैं, उनकी संख्या इन सवा 5 लाख के अतिरिक्त है । इस प्रकार भारत का यह विशाल इतिहास-पुराण अथवा पुराण-वाङ्मय परिमाण तथा विस्तार की दृष्टि से संसार में अद्वितीय है ।

---

1. महाभारत 1/1/17.
2. मत्स्य पुराण 53/71.

__पुराण और काव्य__

मानव जीवन स्वयं में भी एक कथा है ; वह कथा है मानव के जीवन, प्रति-पादन और मुक्ति की, अधूरी आकांक्षाओं तथा अभावों से पीड़ित, नियति से परिचालित एक सघन कहानी, जिसका प्रत्येक सोपान अंकित है । हम जिन्हें कल्पों, ध्वस्त स्वप्नों तथा गर्भित तत्वों से युक्त, अस्पष्ट किन्तु स्वर्णरश्मियों से संवलित जो बिंब बनाते हैं, उन बिम्ब समूहों का पुंजीभूत रूप है पुराकथान अथवा पुराण । यही पुराण आज अद्भुतता एवं मनोरंजकता से युक्त होकर एवं समाज के प्रति स्वाभाविक आकर्षण और कथाप्रसूत बनकर जनमानस में अपना शाश्वत स्थान बना चुकी है ।

दूसरी ओर काव्य का विषय जीवन की नई अथवा पुरानी अनुभूतियों की व्याख्या प्रस्तुत करना है, जिसकी अभिव्यक्ति हम पुराण-कथा के माध्यम से सरलता पूर्वक कर सकते हैं । पुराण के माध्यम से काव्य को संवेदन क्षमता तथा सहज ग्राह्यता का सामर्थ्य सहज ही प्राप्त हो जाता है । काव्य को हम किसी भी समाज का अंतःकरण कह सकते हैं । वह समष्टि की वाणी है, व्यक्ति विशेष की नहीं । काव्य की भाँति पुराण भी एक सामाजिक अनुभव और सामूहिक स्वप्न है, वैयक्तिक संवेदनाओं का आख्यान नहीं है । जिस प्रकार काव्य में कवि अपने युग को वाणी देता है उसी प्रकार पुराण का जन्म भी अपने परिवेश के प्रति मानव मन की सहज प्रतिक्रिया है, अथवा जिस प्रकार काव्य कवि के एक अनिवार्य सृजन की प्रक्रिया है उसी प्रकार पुराण भी पुरामानव के हृदयस्थ भावों की अनिवार्य एवं संश्लिष्ट अभि-व्यक्ति है । इससे स्पष्ट है कि पुराणों का काव्यों से अथवा काव्य का पुराण से घनिष्ठ और अविस्मरणीय सम्बन्ध है ।

स्व0 मैथिलीशरण गुप्त पुराण और काव्य का अटूट सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहते हैं कि जैसे कवि अपने प्रबन्ध काव्यों के लिए पुराण-कथा का अवलोकन करता है

जिसमें उसकी धार्मिक भावना का संतोष झलकता सा प्रतीत होता है उसी प्रकार पुराण कथा का मन्थन करके उच्च जीवनादर्शों को प्राप्त करना भी काव्य का प्रयोजन रहा है अर्थात् जीवन की विषमताओं के मध्य घिरे हुए कवि का भावुक हृदय जब व्याकुल हो जाता है तब वह पुराण-कथा के माध्यम से उच्च जीवनादर्शों को ग्रहण करता है । इस प्रकार जीवन के मूल्यों, मान्यताओं, विरोधाभास एवं विसंगतियों का एक क्रम जैसे समाज में होता है वैसे ही काव्य और पुराण में भी अवस्थित रहता है । पुराण एवं काव्य का अन्तर्सम्बन्ध ही किसी घटना अथवा चरित्र को विस्तार तथा गरिमा देकर उजागर करता है जैसे – कामायनी में जल-प्रलय की घटना आदि ।

पुराण एवं काव्य में बाह्य विरोध होते हुए भी आन्तरिक विरोध लेशमात्र नहीं है क्योंकि काव्य का शिल्प प्रत्येक युग में विकसित होता रहा है और आज का युग अपने काव्य में पुराने युग से आगे बढ़ा हुआ है जिसमें पुराणों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । इस प्रकार काव्य वह "अखिल व्यापिनी अव्यक्त वाक् शक्ति की व्यक्त लहर है जो अपने कृपापात्र पर निरन्तर प्रयोग करती रहती है, क्योंकि भक्त अविभक्त को पूजता है ।[1] अतः काव्य अपूर्ण व्यक्ति की आराधना का इष्ट, अविभक्त, अद्वैत एवं चिरंतन परिपूर्ण का प्रसाद है ।

जिस प्रकार प्रत्येक युग के अंतराल में व्यष्टि एवं समष्टि के मूल्यों एवं मान्यताओं में परिवर्तन होता रहता है उसी तरह इस 'आदिम-काव्य' का प्रत्येक युग में नई व्याख्या एवं स्थापित पुराण द्वारा प्राप्त होती है ।

अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में बताया है कि –

'पुराकथाओं में सत्य और कल्पना का सुन्दर समन्वय अथवा दोनों के मिश्र

---

1. डा० राम अवध द्विवेदी – साहित्य सिद्धान्त, पृ० 153.

सम्भव अवकाश होता है ।"[1]

रिचर्ड चेज के मतानुसार – "समस्त उत्कृष्ट काव्य पुराकथानात्मक होती है, उसमें पुरावृत्त की विशेषताएँ मिलती हैं । पुराण और काव्य दोनों की उत्पत्ति समान रूप से होती है, दोनों प्रतीकों का प्रयोग करते हैं एवं मन में भय श्रद्धा आदि उत्पन्न कर भावनाओं को संयत एवं परिष्कृत करते हैं ।"

डा0 बच्चनसिंह पुराण एवं काव्य में मनस्सौन्दर्यात्मक दृष्टि से एक सीमा-रेखा स्वीकार करते हुए कहते हैं कि –

"जिस प्रकार पुराणात्मक कल्पना अचेतन मन की सृष्टि है उसी प्रकार काव्यगत कल्पना चेतन मन की सृष्टि है । इन पुराणात्मक कल्पनाओं और स्वप्नों में मनुष्य का अपना भूला हुआ छन्द और खोया हुआ संगीत मिलता है । इन पुराणों के माध्यम से ही मनुष्य अपनी कल्पनाओं को काव्य रूप में व्यक्त करता है ।"[2]

इस प्रकार पुराणों का स्वरूप स्थूल होता है और उनमें वर्णित घटनाएँ, चरित्र अथवा संघर्ष, बाह्य स्थूलता लिए होती है । उनमें वर्णित चरित्र कृतज्ञता-दुष्टता जैसी मोटी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और संघर्ष, देव-दानव, पाप-पुण्य जैसे मोटे द्वन्द्वों से युक्त होता है । अतः कवि अपने काव्य के माध्यम से पुराण कथा को एक रूप देकर उसमें सूक्ष्मता का रंग भरकर उसे मनोवांछित रूप प्रदान करता है । जैसा कि 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में 'शकुन्तला' का चरित्र एवं 'वामन पुराण' में वामन चरित्र ।

---

1. अरस्तू का काव्यशास्त्र
2. डा0 बच्चनसिंह – धर्मयुग, जनवरी 1968, पृ0 19.

पुराण और काव्य वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं । संस्कृति का सर्वोत्तम काव्य पौराणिक कथाओं की आधार शिला पर ही साकार हुई है । पद्म-पुराण की 'शकुन्तला' कथा पर ही कालिदास के कवित्व का विकास-परीक्षित हुआ है और पुराणों के संविधान पर ही आधारित 'भास' की कृतियों में उनकी कविता का परिपाक दृष्टिगोचर होता है । इस प्रकार पुराण चित्रपट है, जिस पर काव्य रूपी चित्र को अंकित किया गया है । पुरावृत्तों को आधार बनाकर ही संस्कृत के अभिजात साहित्यकारों ने अपने रमणीय ग्रन्थ लिखे हैं और उन्होंने इन पौराणिक कथाओं को अपेक्षित विस्तार को छोड़कर उन चरित्रों में मानवीय संवेदनाओं के उदात्त आदर्श भरे । इस प्रकार यदि पुराण आधार है तो काव्य अथवा कविता आधेय हैं । दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है फलतः उन्हें विच्छिन्न नहीं किया जा सकता ।

उपरोक्त विवेचन के उपरान्त हम यह स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि पुराण निश्चित रूप से उत्कृष्ट काव्य का आधार बन सकता है । प्रत्येक युग के अनुसार उसके रूपों में परिवर्तन होता है, प्रत्येक रूप की नई व्याख्या होती है और प्रत्येक व्याख्या का एक नया मर्म और नया संदर्भ होता है । पुरामानव के मानस से सहज-संभूत होने के कारण युग युग के मानसों से इस पुराण और काव्य का सीधा सम्बन्ध है । पुराणों की सर्वव्यापी सत्ता के साथ काव्य का अविस्मरणीय सम्बन्ध आज इतिहास से भव्यतर है और प्रकृति के परिवेश से उत्पन्न होने पर भी उसके कण कण को संवारने वाला है ।

पुराणों का प्रतिपाद्य-विषय

पुराण पंचलक्षणम्

'पुराण संहिता' की सम्भवतः मूल पौराणिक शैली थी । प्रारम्भ में उसके अन्तर्गत आख्यान, उपाख्यान, गाथा एवं कल्पशुद्धि कल्पजोक्तिभिः कूर्मकल्पानुग[1] अथवा कूर्मकल्पसमाख्यान नामक विषयों का समावेश किया गया था । कालान्तर में इन प्रारम्भिक पुराणों में क्रम रूप से सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित इन पाँच विषयों का समावेश कर लिया गया । स्वयं पुराणों ने भी इस पञ्चलक्षण को अपना प्रतिपाद्य-विषय स्वीकार किया जैसा कि विष्णु, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में स्पष्ट रूप में वर्णित है –

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम् ।।"[2]

इस प्रकार यह पंचलक्षण शब्द पुराण का इतना अनिवार्य अंग माना गया है कि अमरकोश में यह शब्द बिना किसी व्याख्या के ही प्रयुक्त कर लिया गया है ।

पुराण का वैशिष्ट्य तभी प्राप्त हो सकता है जब उसके स्वरूप को इन लक्षणों द्वारा व्यक्त किया जाये । भागवत पुराण में इन पंचलक्षणों की विशद व्याख्या पूर्णतः उपलब्ध होती है । इस ग्रन्थ में सृष्टि के प्रादुर्भाव के क्रम को संक्षेप में बतलाते हुए इस सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया को सर्ग की संज्ञा दी गई

---

1. मत्स्यपुराण, 53/44/45 तथा स्कन्दपुराण, 7/1/2.
2. विष्णुपुराण, 3/6/24, मत्स्यपुराण, 53/64, मार्कण्डेयपुराण, 134/13. अग्निपुराण, 1/14, भविष्यपुराण, 2/5, ब्रह्मवैवर्तपुराण, 133/6.

है। भागवत में सर्ग का वर्णन इस प्रकार है -

"अव्याकृत - गुणक्षोभाद् महतस्त्रिवृतोऽहमः ।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते ।।"[1]

अर्थात् मूल प्रकृति में तीन गुणों में जब क्षोभ उत्पन्न होता है, तब उससे महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्व से तामस, राजस और सात्विक तीन प्रकार के अहंकार बनते हैं और इन अहंकारों से पंचतन्मात्रा, इन्द्रिय एवं पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति-क्रम को सर्ग कहते हैं।

प्रतिसर्ग को सर्ग का विरोधी बताया गया है। इसके लिए विष्णु पुराण में 'प्रतिसंचर' तथा 'भागवत' में 'संस्था' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रतिसर्ग अथवा प्रलय, प्रत्यक्ष रूप से दृष्टि गोचर होने वाले इस चराचर विश्व का समय समय नाश होना है। इस ब्रह्माण्ड का स्वाभाविक रूप से जो प्रलय होता है वह चार प्रकार का है - नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक प्रलय। श्रीमद्भागवत में इसका वर्णन इस प्रकार है -

"नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः ।
संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः ।।"[2]

वंश का तात्पर्य भूत, भविष्य तथा वर्तमान कालीन उन राजाओं की सन्तान परम्परा से है जिनका सम्बन्ध ब्रह्मा से है। इस कोटि के अन्तर्गत न केवल राजवंश बल्कि देव-वंश और ऋषि वंश-परम्परा भी गृहीत है।

---

1. भागवतपुराण, 12/7/11.
2. श्रीमद्भागवत, 12/7/17.

"राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः ।।"[1]

मन्वन्तर से काल-चक्र का बोध होता है । यह वस्तुतः काल-गणना का पौराणिक आधारभूत है । मन्वन्तर की संख्या चौदह मानी गई है और प्रत्येक मन्वन्तर का सम्बन्ध मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, ऋषि तथा [illegible] से माना जाता है ।

"मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वराः ।
ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ।।"[2]

वंशानुचरित में विभिन्न वंशों में उत्पन्न विशिष्ट राजाओं अथवा [illegible] और महर्षियों के चरित वर्णित होते हैं । महर्षियों की अपेक्षा राजाओं का चरित वर्णन ही इसमें अधिक मिलता है । जैसा कि भागवत के एक श्लोक में स्पष्ट कहा गया है -

"वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये ।"[3]

अर्थात् वंश के अन्तर्गत जो पदार्थ आते हैं, उनके सम्बन्ध में विशेष प्रकार से कहना वंशानुचरित कहलाता है ।

'राजनीतिशास्त्र' में 'पुराण पंचलक्षणम्' का एक नया संकेत उपस्थित किया गया है जो पूर्वोक्त लक्षण से नितान्त भिन्न है । कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में पुराणों के पंचलक्षणों का नूतन रूप व नई व्याख्या उपलब्ध होती है यथा -

---

1. भागवत, 12/7/16.
2. वही, 12/7/15.
3. वही, 12/7/16.

"सृष्टि-प्रवृत्ति-संहार-धर्म-मोक्ष-प्रयोजनम् ।
ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पंचलक्षणम् ।।"[1]

इस श्लोक द्वारा धर्म को पुराण का एक अविभाज्य और अनिवार्य तत्व माना गया है जिसका तात्पर्य है मूलरूप से पुराण में धार्मिक विषयों का अभीष्ट सन्निवेश । इस प्रकार सम्पूर्ण पुराण वाङ्मय को विशिष्ट साहित्यिक मान्यता देने के लिए उक्त पंचलक्षणों की परिकल्पना अपेक्षित समझी गई क्योंकि आख्यान उपाख्यान आदि चारों विषय पुराण की प्राचीनता के प्रतीक मात्र रह गये थे । इसके अतिरिक्त ईसा से प्रारम्भिक शताब्दियों में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के विकसित नये मूल्यों, ज्ञान-विज्ञानों तथा मान्यताओं को पौराणिक कलेवर में समाविष्ट करने की आवश्यकता समझी जाने लगी । अतएव पंचलक्षणों का समाहार अभीष्ट हो गया । कुछ राजवंशों को वंशानुचरित लक्षण के अन्तर्गत वर्णन करना तथा सर्ग प्रतिसर्ग के माध्यम से विश्वसृष्टि की उत्पत्ति एवं विलय की नवीनतम अवधारणा को प्रस्तुत करना पुराण साहित्य का प्रमुख विषय-वस्तु समझा जाने लगा जिससे कुछ पुराणों का प्राथमिक संस्करण पंचलक्षणों के अनुसार ही सम्पन्न होने लगा ।

पंचलक्षणों में अन्तिम लक्षण अर्थात् 'वंशानुचरित' के विषय में पुराणकारों में कुछ मत वैभिन्य है । मत्स्यपुराण[2] में एक स्थान पर वर्णित है कि चारों लक्षणों के साथ पाँचवां लक्षण भूमि-संस्थान निरूपण है । यह प्रारम्भिक लक्षणों की ही भाँति पुराणों का प्राथमिक वर्ण्य-विषय प्रतीत होता है ।

---

1. जयमंगलाव्याख्या, 1/5.
2. मत्स्यपुराण, 2/22.

इस विषय में एक नवीन समालोचक[1] का निष्कर्ष यह है कि पंचलक्षणों के आधार पर पुराण के विषयों की प्राचीनता निर्धारण करने की प्रक्रिया में इस बात का स्मरण आवश्यक है कि भूमि-संस्थान-निवासादि अन्य विषय भी उतने ही प्राचीन हैं जितने कि प्रारम्भिक पंचलक्षणों के वर्ण्य-विषय । अतएव पंचलक्षणों को भी पुराण-संहिता की भाँति पौराणिक शैली मानना तर्क संगत है ।[2]

रामशेखर शास्त्री द्रविड़ द्वारा प्रकाशित अर्थशास्त्र की जयमंगला व्याख्या में उद्धृत पूर्वोक्त श्लोक 'सृष्टि-प्रवृत्ति-पुराणं पंचलक्षणम्' के आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने धर्ममोक्षादि विषयों के उल्लेख को पुराण पंचलक्षणों की अवधारणा एवं उन्हें पुनः संरचना में समावेश के साथ ही साथ विकसित वर्ण्य-विषय माना है ।

परन्तु डा० राय ने उपर्युक्त श्लोक के मूल स्रोत के स्पष्ट ज्ञान के अभाव में पंचलक्षणों में धर्ममोक्षादि विषयों के समाहार को संदिग्ध बताया है । श्री पुसाल्कर तथा डा० हाजरा ने पुराणों में विविध धार्मिक विषय तथा उनके क्रमिक संस्करण एवं प्रतिसंस्करण में समाविष्ट किये गये आचार्य उपाध्याय के निष्कर्ष को असंगत माना है । डा० राय ऐसा मानते हैं कि जिस समय पुराणों में धार्मिक विषयों का समावेश किया जा रहा था उस समय पंचलक्षणों की अतीत कालीन परिभाषा में भी संशोधन का प्रयत्न अवश्य किया गया होगा । विष्णु पुराण में एक स्थल पर पंचलक्षणों के वर्णन का विषय 'विष्णु' का गौरवगान बताया गया है ।

---

1. सिद्धेश्वरी नारायण राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० 16.

2. वही.

पुराणों में पंचलक्षणों के अतिरिक्त धर्म, आचार, दर्शन, राजधर्म, भूगोल, व्रतोपवास, साहित्य (वैदिक एवं लौकिक), आयुर्वेद, व्यवहारशास्त्र, रत्न-परीक्षा, कलात्मक-निर्माण आदि लोकोपयोगी विषयों को समय-समय पर संगृहीत किया गया । स्कन्दपुराण में एक स्थल पर लोक-मर्यादा के निर्वाह हेतु अथवा लोक गौरव के अनुरूप इतिहास और पुराण की परिभाषितावस्था का संकेत मिलता है -

"इतिहास पुराणानिभिद्यन्ते लोक गौरवात् ।"[1]

इस सम्बन्ध में भागवत-पुराण में आख्यात पुराणों के दस-लक्षणात्मक विषयों को विशेष महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है । आचार्य उपाध्याय के अनुसार भागवत पुराण के दोनों स्कन्धों में वर्णित दस लक्षणों में मूलतः साम्य है । नाम रूपों में भेद अवश्य है लेकिन अभिप्राय भेद नहीं है ।[3] ये दस लक्षण इस प्रकार हैं -

"सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च ।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ॥"[4]

अर्थात् सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु एवं अपाश्रय ।

---

1. स्कन्दपुराण , 1/2/40/193.
2. भागवतपुराण, 2/10/1-7, तथा 12/7/8-20.
3. सिद्धेश्वरी नारायण राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ0 128.
4. भागवतपुराण, 12/7/9.

इन दश-लक्षणों की व्याख्या भागवत पुराण[1] के द्वादश स्कन्ध के सप्तम अध्याय में इस प्रकार दी गई है -

<u>सर्ग</u> - अर्थात् सृष्टि तत्व, अथवा भौतिक सृष्टि ।

<u>विसर्ग</u> - चर-अचर रूप चेतन सृष्टि अर्थात् विधाता द्वारा जीव सृष्टि की क्रिया ।[2]

<u>वृत्ति</u> - जीवों में जीवन-निर्वाह की वस्तुयें अर्थात् जीविका । भागवत पुराणा-नुसार चर पदार्थों की अचर पदार्थों में वृत्ति मानी गई है ।[3]

<u>रक्षा</u> - भगवान के विभिन्न अवतारों के माध्यम से सृष्टि का संरक्षण ।[4]

<u>अन्तर</u> - इसे मन्वन्तर के सदृश माना जा सकता है ।

<u>वंश</u> - देवर्षियों आदि का वर्णन

<u>वंशानुचरित</u> - प्रसिद्ध राजवंशावलियों का उल्लेख

---

1. भागवतपुराण, द्वादश स्कन्ध, सप्तम अध्याय श्लोक 11-19.
2. "पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः ।
   विसर्गोऽयंसमाहारो बीजाद्बीजं चराचरम् ।।" भागवतपुराण, 12/7/12.
3. "वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च ।
   कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा ।।" वही, 12/7/13.
4. "रक्षाऽच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे-युगे ।
   तिर्यङ्मर्त्यर्षि देवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः ।।" वही, 12/7/8.

संस्था – अर्थात् प्रलय अथवा प्रतिसर्ग

हेतु – इस शब्द से 'जीव' का ग्रहण होता है जो अविद्या के द्वारा कर्मों का 'हेतु' बन जाता है अथवा जीव अपने अदृष्ट स्वरूप के कारण विसर्ग-सृष्टि एवं प्रलय का कारण अर्थात् 'हेतु' होता है ।[1]

अपाश्रय – इसे सृष्टि का आधार अथवा ब्रह्म का द्योतक महनीय अभिधान माना गया है । यह तुरीय तत्त्व रूप में ब्रह्म का साक्षी भाव है ।[2]

इन लक्षणों में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचारित प्राचीन पंच-लक्षण की पुनरावृत्ति मात्र है परन्तु विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, हेतु तथा अपाश्रय उत्तर कालीन विषयों के नवीन संयोजन हैं ।

इसके अतिरिक्त भागवत पुराण के द्वितीय स्कन्ध के अन्तिम दशम् अध्याय में जिन दश-लक्षणों का उल्लेख किया गया है वह पूर्वोक्त दस-लक्षणों से साम्य रखते हुए भी नामतः भिन्न हैं जो इस प्रकार हैं –

सर्ग, विसर्ग, स्थानम् , पोषणम् , ऊतयः, मन्वन्तरम् ,
ईशानुकथा, निरोध, मुक्तिः तथा आश्रयः ।

इस विषय की विशद व्याख्या श्रीमद्भागवत के 'अध्यात्मतत्त्व' के अन्तर्गत

---

1. हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः ।
यं चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ।।" भागवतपुराण, 12/7/8.

2. 'व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ।। वही, 12/7/9.

की गयी है जो संक्षेप में इस प्रकार है -

<u>सर्ग</u> - पूर्ववत् सर्ग

<u>विसर्ग</u> - पूर्ववत् विसर्ग

<u>स्थानम्</u> - 'स्थिति-वैकुण्ठ-विजय' अर्थात् वैकुण्ठ भगवान के विजय का नाम है स्थिति या स्थान ।

<u>पोषणम्</u> - तदनुग्रह अर्थात् भगवान का अनुग्रह अथवा दया ।

<u>ऊतयः</u> - कर्मवासना

<u>मन्वन्तरम्</u> - सद्धर्म

<u>ईशानुकथा</u> - भगवान तथा उनके पार्षदों के अवतारों की कथा ही 'ईशानुकथा' कहलाती है ।[1] एक मन्वन्तर के बाद दूसरा मन्वन्तर और एक कल्प के बाद दूसरा कल्प, इस प्रकार सृष्टि का प्रवाह सदैव जारी रहता है । सृष्टि चक्र में पड़ा हुआ जीव जब इससे बाहर निकलने की कोशिश करता है तो उसकी सफलता तभी मिलती है जब वह भगवान की लीलाओं की अमृतधारा में डुबकी लगाता है, इसलिए मन्वन्तर के पश्चात् 'ईशानुकथा' का महत्व निर्दिष्ट किया गया है ।।

<u>निरोध</u> - जब आत्मा अपनी शक्तियों के साथ सो जाती है, तब समस्त जगत का 'निरोध' अथवा प्रलय हो जाता है ।[2]

---

1. "अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् ।
   सतामीशानुकथा प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ।।"
   भागवतपुराण, द्वितीय स्कन्ध अन्तिम दशम् अध्याय,

2. "निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः ।" भागवतपुराण, 2/10/6.

मुक्तिः – जब जीव अपने अन्य रूप को छोड़कर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तब उसे मुक्ति कहते हैं अथवा दुःखों का आत्यन्तिक विनाश ही 'मुक्ति' है ।

आश्रय – सृष्टि और प्रलय को प्रकाशित करने वाले तत्त्व ही 'आश्रय' कहे जाते हैं ।[1] अर्थात् जो नेत्र आदि इन्द्रियों का अभिमानी द्रष्टा जीव है वही इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता सूर्य आदि के रूप में भी है और नेत्र गोलक आदि से युक्त यह जो देह है, वही उन दोनों को अलग अलग करता है । इन तीनों में यदि एक का भी अभाव हो जाये तो अन्य को अन्य की उपलब्धि नहीं हो सकती । अतः इन तीनों का जो जानता है वही परमात्मा सबका अधिष्ठान 'आश्रय' तत्त्व है ।।

भागवत के दश-लक्षणों की विवेचना श्री 'पुसाल्कर'[2] ने भी अपने ग्रन्थ में की है । किन्तु उन्होंने 'महदल्प व्यवस्था' की व्याख्या करते हुए 'अल्पव्यवस्था' के अन्तर्गत पंचलक्षण-युक्त पुराणों को उपपुराण तथा दश-लक्षणात्मक पुराणों को महा-पुराण माना है ।

इस सम्बन्ध में डा० हाजरा अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि पुराणिक

---

1. आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।
   स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ।।
   भागवतपुराण, द्वितीय स्कन्ध अन्तिम दशम अध्याय, श्लोक 7.

2. सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षा अन्तराणि च ।
   वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः ।।
   दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः ।
   केचित्पंचविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया ।। भागवतपुराण, 12/1-10.
   द्रष्टव्य, ए०डी० पुसाल्कर, स्टडीज इन दि एपिक्स एण्ड पुराणाज़, इन्ट्रोडक्शन, पृ० 46.

परम्परा में उपपुराणों को पुराणों का 'खिल' अर्थात् परिशिष्ट अवश्य माना जाता था, परन्तु उनकी वास्तविक स्थिति इससे भिन्न थी । इन्होंने ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्लोक संख्या 7/13/6-10 के प्रति संकेत किया है, जिसमें दस लक्षणों का उल्लेख किया गया है । अतः उनके मतानुसार उपपुराणों को आकार, विस्तार, विषयवस्तु, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उपादेयता के आधार पर अष्टादश महापु-राणों की ही भाँति महत्वपूर्ण माना जा सकता है । इस प्रकार लक्षणों के आधार पर महापुराण एवं उपपुराण को स्वीकार किये जाने की डा0 पुसाल्कर की यह धारणा विशेष मान्य नहीं है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त दृश्यमान एवं अदृश्य विश्व, इसकी उत्पत्ति स्थिति एवं विनाश उत्पत्ति के अन्तर्गत होने वाली चराचर सृष्टि एवं स्थिति के अन्तर्गत आने वाले प्रकृतिमानव के सम्बन्ध, घात-प्रतिघात एवं कार्य व्यापार तथा विनाश के अन्तर्गत आने वाले तत्वों के संश्लिष्ट से उनका विश्लेषण होने तक की सारी प्रक्रियायें पुराणों का विषय बन गई अर्थात् प्रकृति एवं पुरुष की लीला अथवा शक्ति एवं शिव की लास्य एवं ताण्डव की विभिन्न भंगिमाओं से प्रेरित संसृति अपनी समग्रता से पुराणों का प्रतिपाद्य विषय बनी । संक्षेप में हम यह भी कह सकते हैं कि 'पुराण रूप प्रतिपाद्य महत्-तत्व-पुराणपुरुष-सच्चिदानन्द अखण्डब्रह्म' ही पुराणों का मूल प्रतिपाद्य रहा है ।

पुराणों की संख्या एवं क्रम

महाभारत एवं पुराणों में वर्णित 'अष्टादश पुराणानि' से अठारह पुराणों की सिद्धि होती है । यद्यपि अष्टादश पुराणों के क्रम विषय में पुराणकारों के एकमत न होने के कारण विविध पुराणों में इनका क्रम भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया

गया है तथापि सामान्यतः प्रचलित इनका क्रम एवं संख्या इस प्रकार है[1]–

1. ब्रह्म	7. मार्कण्डेय	13. स्कन्द
2. पद्म	8. अग्नि	14. वामन
3. विष्णु	9. भविष्य	15. कूर्म
4. शिव (वायु)	10. ब्रह्मवैवर्त	16. मत्स्य
5. भागवत	11. लिंग	17. गरुड़
6. नारद	12. वाराह	18. ब्रह्माण्ड

इस सूची में पुराणों का प्रारम्भ ब्रह्म से और अन्त ब्रह्माण्ड पुराण से है। मध्य में ब्रह्मवैवर्त पुराण की परिगणना है। इस प्रकार आदि मध्य और अन्त में ब्रह्म विराजमान है जैसा कि पुराणों के आदि, मध्य और अन्त में हरि के वास सम्बन्धित उक्ति से स्पष्ट होता है।[2] अतः यहाँ पुराणों का मुख्य लक्ष्य वेदान्त में वर्णित 'ब्रह्म' के नाना रूपों का प्रतिपादन माना जा सकता है। इसीलिए 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत' यह उक्ति पुराणों द्वारा वेद-वाक्यों के प्रतिपादन के सन्दर्भ में उचित प्रतीत होता है।

पद्मपुराण के आदिखण्ड, पातालखण्ड एवं उत्तरखण्ड में अष्टादश पुराणों का

---

1. विष्णुपुराण, 3/6, भागवतपुराण, 12/13, वराहपुराण, 112/ वामन, मत्स्य-53/, अग्नि-202/, नारद-92/

2. "आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते।"

नाम -क्रम कुछ भिन्नता के साथ वर्णित है -

आदिखण्ड	पातालखण्ड	उत्तरखण्ड
1. पद्म	1. ब्रह्म	1. ब्रह्म
2. ब्रह्म	2. पद्म	2. पद्म
3. विष्णु	3. विष्णु	3. विष्णु
4. शिव	4. शिव	4. शिव
5. भागवत	5. भागवत	5. भागवत
6. नारद	6. भविष्य	6. नारद
7. मार्कण्डेय	7. नारद	7. मार्कण्डेय
8. अग्नि	8. मार्कण्डेय	8. अग्नि
9. भविष्य	9. अग्नि	9. भविष्य
10. ब्रह्मवैवर्त	10. ब्रह्मवैवर्त	10. ब्रह्मवैवर्त
11. लिंग	11. लिंग	11. लिंग
12. वाराह	12. वामन	12. वाराह
13. स्कन्द	13. स्कन्द	13. वामन
14. वामन	14. मत्स्य	14. कूर्म
15. कूर्म	15. कूर्म	15. मत्स्य
16. मत्स्य	16. वाराह	16. गरुड़
17. गरुड़	17. गरुड़	17. स्कन्द
18. ब्रह्माण्ड	18. ब्रह्माण्ड	18. ब्रह्माण्ड

वायु पुराण में पुराणों की गणना क्रम में बहुत अन्तर है ।[1] यद्यपि पुराणों

---

1. वायुपुराण, 104/1.

की संख्या अष्टादश बताई गई है किन्तु इसमें वर्णित पुराणों की संख्या कुल सोलह ही है । इनका क्रम इस प्रकार है -

1. मत्स्य
2. भविष्य
3. मार्कण्डेय
4. ब्रह्मवैवर्त
5. ब्रह्माण्ड
6. भागवत
7. ब्रह्म
8. वामन
9. आदिक
10. अनिल अथवा वायु
11. नारदीय
12. वैनतेय (गरुड़)
13. पद्म
14. कूर्म
15. सौकर (वाराह)
16. स्कन्द

इस सूची में 'आदिक' नाम के एक नये पुराण का उल्लेख हुआ है जो प्रचलित अष्टादश पुराणों की संख्या में परिगणित नहीं है । वामन पुराण में भी इस 'आदिक-पुराण' की चर्चा की गई है अतः इस पुराण में 'आदिक पुराण' का क्या तात्पर्य है यह एक विचारणीय विषय है ।

पद्मपुराण में केवल पुराण क्रम में ही नहीं वरन् इनकी संख्या में भी बहुत अन्तर पाया जाता है ।[1] जैसा कि पाताल खण्ड में 22 पुराणों का उल्लेख किया गया है -

1. ब्रह्म
2. पद्म
3. विष्णु
4. ब्रह्मवैवर्त
5. नारद

9. वामन
10. गरुड़
11. लिंग
12. वैनतेय(गरुड़)
13. मत्स्य

16. वाराह
17. ब्रह्मवैवर्त
18. शिव
19. भागवत
20. कूर्म

---

1. पद्मपुराण, पातालखण्ड, 10/51-53.

6. मार्कण्डेय
7. अग्नि
8. कूर्म

14. नृसिंह
15. कपिल

21. भविष्योत्तर
22. भविष्य

इस सूची में वर्णित नृसिंह और कपिल उपपुराण हैं । मार्कण्ड और भविष्योत्तर के नये पुराण प्रतीत होते हैं अतः ये चारों ही सम्भवतः उपपुराण हैं । 'देवीभागवत' में सामान्यतः प्रचलित अष्टादश महापुराणों के नामों का उल्लेख सूत्र रूप में किया गया है[1]-

> "मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
> अनापद्लिंग-कू-स्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक् ॥"

अर्थात् मकारादि से दो पुराण - मत्स्य तथा मार्कण्डेय

मकारादि से दो पुराण - भागवत तथा भविष्य

ब्र अक्षर से तीन पुराण - ब्रह्म, ब्रह्माण्ड एवं ब्रह्मवैवर्त व

अक्षर से चार पुराण - वाराह, वामन, विष्णु और वायु

अ, ना, पद्म, लिं, ग, कू, स्क के अनुसार - अग्नि, नारद, पद्म लिंग, गरुड़, कूर्म तथा स्कन्द पुराण होते हैं ।

विष्णु एवं भागवत पुराण में एक विशेष क्रम से ये ही नाम प्राप्त होते हैं -

1. ब्रह्म
2. पद्म
3. विष्णु
7. मार्कण्डेय
8. अग्नि
9. भविष्य
13. स्कन्द
14. वामन
15. कूर्म

---

1. देवीभागवत पुराण, 1/3/2.

4. शिव	10. ब्रह्मवैवर्त	16. मत्स्य
5. भागवत	11. लिंग	17. गरुड़
6. नारदीय	12. वाराह	18. ब्रह्माण्ड पुराण

विष्णु पुराण में अष्टादश पुराणों का क्रम साभिप्राय एवं मुख्य वर्ण्य-विषय को लक्ष्य करके किया गया है। पुराणों का मुख्य प्रतिपाद्य सर्ग अथवा सृष्टि है जिसका यथोचित प्रतिफल या प्रलय में होता है। सृष्टि निर्माण के लिए ब्रह्म ने ब्रह्मा का रूप धारण किया अतः पौराणिक क्रम सूची में 'ब्रह्म पुराण' को प्रथम स्थान पर रखा गया। ब्रह्मा का उदय पद्म से हुआ। अतः 'पद्मपुराण' को द्वितीय स्थान पर रखा गया। पद्म की उत्पत्ति विष्णु की नाभि से होने के कारण, 'विष्णु पुराण' को तृतीय स्थान प्रदान किया गया। 'वायु पुराण' शेषशय्या का निरूपण करता है और भगवान विष्णु उसी शेषशय्या पर शयन करने के कारण 'वायुपुराण को चतुर्थ स्थान पर रखा गया। शेष भगवान क्षीर समुद्र में रहते हैं और इस समुद्र का रहस्य श्रीमद्भागवत में बतलाया गया है। अतः श्रीमद् भागवत का 'पंचमस्थान' है, एवं भागवत के बाद नारद पुराण का स्थान है क्योंकि नारद जी सदैव भगवान विष्णु का मधुर स्वर में गुणगान किया करते हैं अतः नारद पुराण का स्थान षष्ठ निर्धारित किया गया है। पुष्टिविधायिनी देवी को इस सृष्टि का मूल माना गया है जिसका वर्णन 'मार्कण्डेय पुराण' में है अतः इसे क्रमानुसार सप्तम स्थान प्राप्त हुआ है। घट के भीतर प्राण की भाँति ब्रह्माण्ड के भीतर अग्नि क्रियाशील रहती है। इसका प्रतिपादन अग्नि करता है अतः अग्नि को अष्टम् स्थान पर रखा गया है। अग्नि तत्व का आश्रय सूर्य है जिसका सर्वांगि-णी वर्णन भविष्य पुराण में हुआ है। अतः इस पुराण को नवम् स्थान पर रखा गया। पुराणमतानुसार ब्रह्म से ही जगत की सृष्टि होती है। यह जगत ब्रह्म का विवर्त रूप है ऐसा मानकर ब्रह्मवैवर्त की संज्ञा से ब्रह्म के मूल कारण होने और विश्व का उसका विवर्त होने के सिद्धान्त को, पुराण क्रम में दशम् स्थान पर स्थापित किया गया है।

ब्रह्म की शिव एवं विष्णु रूप में अनेक अवतार होते हैं अतः शिव से सम्बन्धित लिंग पुराण को एकादश एवं स्कन्द पुराण को तेरहवें स्थान पर रखते हैं। वाराह, वामन कूर्म एवं मत्स्य ये चारों अवतार भगवान विष्णु से सम्बन्धित इन पुराणों को क्रम से बारहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें एवं सोलहवें स्थान पर रखा गया है। व्यक्त अथवा स्थूल पदार्थ का पिण्ड कैसे बनता है इस बात का विवेचन वाराह पुराण करता है अतः इस पुराण को बारहवें स्थान पर रखा गया है। अग्नि के पांच प्रकार में से कुमाराग्नि का सम्बन्ध स्कन्द से है क्योंकि कुमार का नाम स्कन्द है और कुमाराग्नि से सृष्टि का बोध स्कन्द पुराण कराता है अतः इसे तेरहवें स्थान पर रखा गया है। कुमाराग्नि अपने स्थान पर फैलता है, जिसे विक्रमण कहते हैं यह विक्रमण तीन है जिसका वर्णन वामन पुराण में किया गया है अतः इसे चौदहवां स्थान प्राप्त है। प्रजापति कूर्म अथवा कच्छप का रूप धारण कर सारे संसार को उत्पन्न करते हैं अतः इस कूर्म पुराण को पन्द्रहवें स्थान पर रखा गया है। सूर्यमण्डल के प्राग्भिमुख में तीन ऋषियों वशिष्ठ, मान्य और अगस्त्य को सृष्टि निर्माण में सहयोगी माना गया है, मध्यस्थित मत्स्य विशेष रूप से सहयोग प्रदान करता है अतः क्रमानुसार मत्स्य पुराण को सोलहवां पुराण कहा जाता है। सृष्टि के पश्चात् जीव को कर्म, ज्ञान और उपासना के सम्पादन से कौन सी गति प्राप्त होती है इसका वर्णन गरुड़ - पुराण में है जो सत्रहवें स्थान पर आता है और इन गतियों के विस्तृत क्षेत्र को बतलाने वाले अन्तिम 'ब्रह्माण्डपुराण' है। अथवा ब्रह्म से प्रारम्भ होकर ब्रह्म से ब्रह्माण्ड पर समाप्त होने वाली सृष्टि क्रिया की पूर्ण जानकारी देने वाले इस ब्रह्माण्ड पुराण को अठारहवें स्थान पर रखा गया है। इस प्रकार सृष्टिक्रिया से सम्बद्ध तथा तदुपयोगी ज्ञान कर्म के प्रतिपादन में इस अष्टादश पुराण का क्रम पूर्णतः स्पष्ट है।

इन अष्टादश पुराणों की श्लोक संख्या के सम्बन्ध में भी विद्वानों में बहुत

मतभेद है । विभिन्न पुराणों में इनकी श्लोक संख्या भी भिन्न-भिन्न है । कुछ विद्वानों का मत है कि कि प्राचीन काल में केवल एकमात्र आदि पुराण था जिसमें श्लोकों की संख्या कुल 10,000,000 (एक करोड़) थी फिर ब्रह्मा ने व्यास का रूप धारण कर इस आदि पुराण का संक्षिप्तीकरण किया । द्वापर युग में इसकी संख्या चार लाख (4,000,000) हो गई । पद्मपुराण एवं स्कन्दपुराण में भी इसकी श्लोक संख्या यही है लेकिन शिव, देवी-भागवत, नारद, ब्रह्मवैवर्त एवं मत्स्यपुराण में अष्टादश पुराणों की जो श्लोक संख्या दी गई है उसमें बहुत ही भिन्नता पाई जाती है ।

परम्परा से प्राप्त अष्टादश पुराणों की श्लोक संख्या निम्न प्रकार से है[1] -

क्रम सं०	पुराणों का नाम	श्लोक संख्या
1.	ब्रह्म	10,000
2.	पद्म	55,000
3.	विष्णु	23,000
4.	शिव	24,000
5.	भागवत	18,000
6.	नारद	25,000
7.	मार्कण्डेय	9,000
8.	अग्नि	10,500
9.	भविष्य	14,500

1. भागवतपुराण, 12/13/4-8, विष्णुपुराण, 3/6, नारदपुराण, 1/2.

क्रम सं0	पुराणों का नाम	श्लोक संख्या
10.	ब्रह्मवैवर्त	18,000
11.	लिंग	11,000
12.	वाराह	24,000
13.	स्कन्द	81,000
14.	वामन	10,000
15.	कूर्म	17,000
16.	मत्स्य	14,000
17.	गरुड़	19,000
18.	ब्रह्माण्ड	12,000

उपपुराण

पुराणों के बाद उपपुराणों की रचना हुई । पुराणों की भाँति उपपुराणों की संख्या भी 18 मानी गई है । वेदों के विशेष मर्मज्ञ श्री षड्गुरु शिष्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेदार्थ-दीपिका' में नृसिंह उपपुराण के श्लोक उद्धृत किये हैं । पुराण विशेषज्ञों ने निर्णयानुसार षड्गुरु शिष्य का प्रादुर्भाव विक्रम की 11वीं शताब्दी के प्रारम्भ में माना है, इससे उपपुराणों की प्राचीनता का पता भली-भाँति लग जाता है । उपपुराणों में स्थानीय सम्प्रदाय एवं पृथक् पृथक् सम्प्रदायों की धार्मिक आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है ।

अरबजाति के विद्वान अलबेरूनी ने अपने भ्रमण वृत्तान्त में अट्ठारह उपपुराणों को चिह्न इस प्रकार किया है –

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमतःपरम् ।
तृतीयं स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम् ।। 1 ।।

चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् ।
दूर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदोक्तमतः परम् ॥ 2 ॥

कपिलं वामनं चैव तथैवोशनसेरितम् ।
ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च ॥ 3 ॥

माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसंचयम् ।
पराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम् ॥ 4 ॥

अर्थात्

1. आदिपुराण (सनत्कुमार ने बनाया)
2. नरसिंह पुराण
3. स्कन्दपुराण (कुमार रचित)
4. शिवधर्मपुराण (नन्दीश रचित)
5. दूर्वासा पुराण
6. नारदोक्त पुराण
7. कपिल पुराण
8. वामन पुराण
9. औशनस पुराण
10. ब्रह्माण्ड पुराण
11. वरुण पुराण
12. कालिकापुराण
13. माहेश्वर पुराण
14. साम्ब पुराण
15. सौर पुराण
16. पराशर पुराण
17. मारीच पुराण
18. भास्कर पुराण

गरुड़ पुराणानुसार 18 उपपुराणों के नाम और क्रम इस प्रकार हैं -

1. सनत्
2. कुमार
3. स्कान्द
4. शिवधर्म
7. कपिल
8. वामन
9. औशनस
10. ब्रह्माण्ड
13. माहेश्वर
14. साम्ब
15. सौर
16. पाराशर

5. आश्चर्य 11. भास्कर 17. मारीच

6. नारदीय 12. कालिका 18. भार्गव

देवीभागवत में उपलब्ध सूची गरुड़ - पुराण से कुछ भिन्न है जैसा कि देवीभागवत् पुराण में गरुड़ पुराणोक्त स्कान्द, वामन, ब्रह्माण्ड, मारीच और भार्गव के स्थान पर क्रमशः शिव, मानव, आदित्य, भागवत और वशिष्ठ उप-पुराणों के नाम अंकित हैं ।

<u>औपपुराण</u>

उपपुराणों की भाँति औपपुराणों की संख्या भी अट्ठारह ही हैं । इनमें बृहन्नारद एवं विशेष कर हरिवंश का तो बहुत ही प्रचार है । अल्बेरूनी के वृत्तान्त में आदित्य और नन्दा नामक औपपुराण का उल्लेख भी मिलता है अतः निर्विवाद यह ग्रन्थ नवीन न होकर अन्य पुराणों की ही भाँति प्राचीनता एवं मौलिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । औपपुराणों का नाम एवं क्रम इस प्रकार है[1]-

"आद्यं सनत्कुमारं च नारदीयं बृहच्च यत् ।
आदित्यं मानवप्रोक्तं नन्दिकेश्वरमेव च ।।

कौर्म्यं भागवतं ज्ञेयं वशिष्ठं भार्गवं तथा ।
मुद्गलं कल्किदेव्यौ च महाभागवतं तथा ।।

बृहद्धर्मं परानन्दं वह्निं पशुपतिं तथा ।
हरिवंशं ततो ज्ञेयमिदमौपपुराणकम् ।।"

---

1. बृहद्विवेक, अध्याय-3, श्लोक संख्या - 37-39.

अर्थात् -

1. सनत्कुमार	7. भागवत	13. महाभागवत
2. बृहन्नारदीय	8. वसिष्ठ	14. बृहद्धर्म
3. आदित्य	9. भार्गव	15. परानन्द
4. मानव	10. मुद्गल	16. पशुपति
5. नन्दिकेश्वर	11. कल्कि	17. वह्नि
6. कौर्म	12. देवी	18. हरिवंशपुराण

ये सभी पुराण औपपुराण की श्रेणी में आते हैं ।

इस प्रकार पुराण, उपपुराण एवं औपपुराण को मिलाकर कुल 54 ग्रन्थ 'पुराण' नाम से विख्यात हैं इनमें लगभग 32 ग्रन्थ यत्र-तत्र प्रकाशित हो चुके हैं ।

पुराणों का विभाजन

अष्टादश पुराणों का विभाजन विभिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न भिन्न प्रकार से किया गया है । सर्वप्रथम इनके पंचलक्षण को आधार मानकर प्राचीन एवं प्राचीनोत्तर ये दो विभाग किये जा सकते हैं, जिसमें वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य एवं विष्णु पुराण को प्राचीन कहा जा सकता है क्योंकि इन पुराणों में सर्ग प्रतिसर्ग आदि पंचलक्षणों का समावेश उचित परिमाणों में उपलब्ध है एवं इसके अतिरिक्त अन्य पुराणों को प्राचीनोत्तर वर्ग में रखा जाता है ।

प्रधानतया पुराणों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया गया है -

1. साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से ।
2. त्रिगुण के आधार पर

3. वर्ण्य - विषय की दृष्टि से ।

पुराणों में विभिन्न देवताओं का चरित्र वर्णित है । किसी में शिव की प्रधानता है तो किसी में विष्णु की । कहीं ब्रह्मा को सर्वश्रेष्ठ देवता माना गया है तो कहीं शक्ति को आद्या एवं परमाशक्ति रूप में वर्णित किया गया है । इस प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों ने पुराणों में अपने विशिष्ट सम्प्रदाय का पुट देने का प्रयास किया है तथा अपने मतानुसार पूजा, अर्चना एवं विधि विधानों का वर्णन किया है ।

उदाहरणार्थ - अनेक पुराणों में विष्णु पूजा की प्रधानता उपलब्ध है एवं वैष्णवों द्वारा तिलक धारण, तप्तमुद्राधारण, तुलसी-पूजा, दीप-दान, शालग्राम पूजा आदि विषयों की चर्चा करते हुए पुराणों की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है । यद्यपि पुराणों में कई देवताओं का चरित वर्णित है, तथापि देवता की प्रधानता के आधार पर उस पुराण का नामकरण किया गया है । इस प्रकार देवताओं के आधार पर पुराणों का वर्गीकरण प्रचलित हो गया । स्कन्द पुराण में वर्णित अष्टादश पुराणों में से दस में शिव, चार में ब्रह्मा, दो में शक्ति एवं दो अन्य पुराणों में विष्णु को प्रधान देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है ।[1]

"अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः ।
चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः ।।"

सम्प्रदायों के अनुसार पुराणों का विभाजन इस प्रकार है -

---

1. स्कन्दपुराण, केदारखंड, अध्याय - 1.

1. <u>शैव पुराण</u>

1. शिव
2. भविष्य
3. मार्कण्डेय
4. लिंग
5. वाराह
6. स्कन्द
7. मत्स्य
8. कूर्म
9. वामन
10. ब्रह्माण्ड

2. <u>ब्राह्म पुराण</u>

1. ब्रह्मवैवर्त
2. ब्रह्म
3. ब्रह्माण्ड
4. पद्म

3. <u>शाक्त पुराण</u>

1. देवीभागवत
2. अग्नि

4. <u>वैष्णव पुराण</u>

1. विष्णु
2. भागवत

स्कन्दपुराण के शिव रहस्य खण्ड के अन्तर्गत सम्भवकाण्ड में पुराणों का जो वर्गीकरण किया गया है, उसके अनुसार शैव, पुराण दस, वैष्णव पुराण चार, एवं ब्रह्मपुराण दो हैं। अग्नि एवं सूर्य की पूजा एवं प्रधानता एक-एक पुराण में की गई है।[1] इस उल्लेखानुसार पुराणों का विभाजन इस प्रकार है -

1. <u>शैव पुराण</u>

1. शिव
2. भविष्य
3. मार्कण्डेय
4. लिंग
5. वाराह
6. स्कन्द
7. मत्स्य
8. कूर्म
9. वामन
10. ब्रह्माण्ड

---

1. स्कन्दपुराण, शिवरहस्य खण्ड, संभव काण्ड - 2/30-38.

2. वैष्णव पुराण

1. विष्णु 2. भागवत 3. नारद 4. गरुड़

3. ब्राह्म पुराण

1. ब्रह्म 2. पद्म

4. अग्नि पुराण

1. अग्नि

5. सवितृ पुराण

1. ब्रह्मवैवर्त

उपरोक्त दोनों उल्लेख से ज्ञात होता है कि प्रथम में ब्रह्मा की प्रधानता चार पुराणों में की गई है तो द्वितीय में यह स्थान विष्णु को प्राप्त है अर्थात् द्वितीय में विष्णु की प्रधानता चार पुराणों में है । इसके अतिरिक्त अग्नि और सविता को एक-एक पुराणों से सम्बन्धित बताया गया है ।

तमिल ग्रन्थों में पुराणों का विभाजन इस प्रकार है -

1. शिव पुराण

1. शिव	5. वामन	8. मत्स्य
2. स्कन्द	6. वाराह	9. मार्कण्डेय
3. लिंग	7. भविष्य	10. ब्रह्माण्ड
4. कूर्म		

2. वैष्णव पुराण

1. नारद 2. भागवत 3. गरुड़ 4. विष्णु

3. ब्राह्म पुराण

1. ब्रह्म 2. पद्म

4. अग्नि पुराण

1. अग्नि

5. शैव पुराण

1. ब्रह्मवैवर्त

त्रिगुणात्मकता अर्थात् सत्व, रज और तम इन तीन गुणों के आधार पर पुराणों का वर्गीकरण पद्मपुराण में इस प्रकार किया गया है -

1. सात्विक पुराण

1. विष्णु	3. भागवत	5. पद्म
2. नारद	4. गरुड़	6. वाराह

2. राजस पुराण

1. ब्रह्माण्ड	3. मार्कण्डेय	5. वामन
2. ब्रह्मवैवर्त	4. भविष्य	6. ब्रह्म

3. तामस पुराण

1. मत्स्य	3. लिंग	5. स्कन्द
2. कूर्म	4. शिव	6. अग्नि

इस प्रकार अठारह पुराणों को तीन गुणों के अन्तर्गत 6-6 की संख्या में विभक्त किया गया है । यह वर्गीकरण विष्णु को सात्विक देव मानकर किया गया

है। इन पुराणों में सात्विक पुराण मोक्ष प्रदान करने वाले हैं, राजस पुराण स्वर्ग प्रदान करने वाले एवं तामस नरकों ओर ले जाने वाले बताये गये हैं।[1]

मत्स्य पुराण इससे कुछ भिन्न बातों की ओर संकेत करता है। इसके अनुसार विष्णु के वर्णनापरक पुराण 'सात्विक', ब्रह्मा और अग्नि के प्रतिपादक पुराण 'राजस', शिव के प्रतिपादक पुराण 'तामस' एवं सरस्वती और पितरों के प्रतिपादक पुराण 'तामस' एवं सरस्वती और पितरों के माहात्म्य का वर्णन करने वाले पुराण 'संकीर्ण' माने गये हैं।[2]

पुराणों का तीसरा विभाजन वर्ण्य-विषय को दृष्टि में रखकर किया गया है। कुछ पुराणों में राजनैतिक इतिहास का वर्णन है और कुछ में साहित्यिक सामग्री अथवा मानव-समाज के लिए उपयोगी आध्यात्मिक एवं भौतिक क्रियाओं का सारांश एकत्र किया गया है। किन्हीं में साम्प्रदायिक विषयों की अधिकता है तो किसी में तीर्थ और व्रत का वर्णन अधिक हुआ है। अतः इन विषय-विभागों के अनुसार पुराणों का विभाजन छः वर्गों में किया गया है -

---

1. सात्विकाः मोक्षदाः प्रोक्ताः, राजसाः स्वर्गदाः शुभाः।
   तथैव तामसाः देवि निरयप्राप्ति हेतवः॥ पद्मपुराण-उत्तरखंड, 263/85.

2. सात्त्विकेषु पुराणेषु माहात्म्यमधिकं हरेः
   राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः।
   तद्वदग्नेश्च, माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च
   संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते॥

   मत्स्यपुराण, अध्याय 53/68-69.

1. साहित्यिक सामग्री प्रधान पुराण

1. अग्नि 2. गरुड़ 3. नारद

2. साम्प्रदायिक विषय प्रधान पुराण

1. लिंग 2. वामन 3. मार्कण्डेय

3. तीर्थ पूत प्रधान पुराण

1. पद्म 2. स्कन्द 3. भविष्य

4. इतिहास प्रधान पुराण

1. ब्रह्माण्ड 2. वायु

5. जिनमें प्रक्षिप्त अंश अधिक है

1. ब्रह्म 2. ब्रह्मवैवर्त 3. भागवत

6. जिनमें आमूल परिवर्तन हो गया है

1. वाराह 2. कूर्म 3. मत्स्य

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न सम्प्रदायों के अनुसार की गई अष्टादश पुराणों के वर्गीकरण की पद्धति ही अधिक वैज्ञानिक है। त्रिगुण के आधार पर किया गया विभाजन किसी विशेष सम्प्रदाय से द्वेष-बुद्धि के द्वारा प्रेरित सा जान पड़ता है एवं वर्ण्य-विषय को दृष्टि में रखकर किया गया विभाजन भी अधिक संतोष-जनक नहीं है।

पुराणों का कालक्रम

पुराणों की निश्चित रचना काल को निर्धारित करना स्वयं में एक जटिल एवं असम्भव कार्य है । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पुराणों की रचना किसी एक विशेष काल में नहीं हुई वरन् विभिन्न कालों में उनमें संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन होने के कारण रचना काल भी भिन्न भिन्न ही रही है । इसी कारण कुछ पुराण तो अत्यधिक प्राचीन हैं और कुछ अर्वाचीन ।

साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार महर्षि वेदव्यास ने प्राची सरस्वती के तट पर स्थित अपने आश्रम में बैठकर ध्यानस्थ हो समग्र पुराणों का प्रणयन किया, जिससे सभी पुराणों के निर्माण स्थल में ऐक्य होने की तरह उनके काल में भी ऐक्य है । किन्तु ऐतिहासिक पद्धति को मानने वाले विद्वानों ने इस मत को किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनका कहना है कि उन पुराण रचयिता ने उस तीर्थ अथवा प्रान्त विशेष से सम्बन्ध रखने के कारण ही उस स्थान को इतना महत्वपूर्ण माना है अन्यथा पुराण के रचना काल से उस स्थान विशेष का कोई संबंध नहीं है । हाँ पुराण के रचना स्थान का कुछ संकेत अवश्य किया जा सकता है ।

महाकवि बाणभट्ट (625 ई0) ने अपने ग्रन्थ हर्षचरित एवं कादम्बरी के वायु पुराण उल्लेख में 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्' कहकर वायुपुराण की रचना को 620 ई0 से पहले की बताई है, लेकिन नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित स्कन्द-पुराण की हस्तलिखित पुस्तक की लिपि से 'वायुपुराण' की रचना सातवीं शताब्दी से पूर्व की ज्ञात होती है । शिलालेखों, दानपत्रों में एवं भूमिदान की प्रशंसा में भी पुराणों से अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं । पद्म, ब्रह्म एवं भविष्य पुराण में इनकी रचना से सम्बन्धित अनेक श्लोक उपलब्ध हैं जिससे ज्ञात होता है कि ये तीनों पुराण 500 ई0 से पूर्व अवश्य विद्यमान थे । सन् 475 से 83 ई0 के बीच दानपत्रों

में जो श्लोक उद्धृत किये गये हैं उनके अनुसार पुराणों की रचना महर्षि व्यास द्वारा महाभारत काल में हुई ही जान पड़ती है। वर्तमान महाभारत में ये उपलब्ध नहीं हैं बल्कि पद्मपुराण एवं भविष्य पुराण में उपलब्ध है जिससे पुराण महाभारत से पूर्व की रचना मालूम होती है।

पुराणों के राजवंश वर्णन में राजा हर्ष तथा 600 ई० के अनन्तर होने वाले अन्य राजाओं का उल्लेख न मिलने के कारण कुछ विद्वानों का मत है कि पंचम शती ई० तक अथवा उससे कुछ पूर्व ही पुराण अपने निश्चित एवं स्थाई रूप पर पहुँच चुका था।[1] फिर भी इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। लोकमान्य तिलक के अनुसार पुराण ग्रन्थों का समय दूसरे ईसवीं शतक के बाद कदापि नहीं हो सकता।[2] पार्जिटर महोदय के अनुसार पुराण मूल रूप में ईसवीं सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के बाद की रचना हो ही नहीं सकती।[3] इन्होंने पुराणों को अत्यन्त प्राचीन काल की रचना माना है। विष्णु पुराण के अंग्रेजी अनुवादक मि० एच० विल्सन ने पुराणों के सम्बन्ध में लिखा है कि 'क्राइस्ट या ईसा के तीन सौ वर्ष पहले तो पुराणों की रचना हुई ही है, किन्तु इस विषय में और जो प्रमाण देखे जाते हैं उसके अनुसार यह और भी अधिक दिनों की तथा इतनी प्राचीन सिद्ध की जा सकती है जो बात पृथ्वी की किसी भी जाति की कल्पना में भी नहीं आ सकती।'

डा० आर०सी० हाजरा ने पुराणों के विषय में मार्क का अनुसंधान करते हुए प्राचीनतम पुराणों में 'मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड, विष्णु, मत्स्य, भागवत एवं कूर्म को रखा है।[4] मार्कण्डेय एवं ब्रह्माण्ड को वे 'विष्णु-पुराण' से प्राचीन स्वीकार करते

---

1. वी० वरदाचारी, ए हिस्ट्री ऑफ दि संस्कृत लिटरेचर, पृ० 58.
2. लोकमान्य तिलक, गीता रहस्य, पृ० 566.
3. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 301.
4. पुराणिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, 1940.

हैं, शेष पुराणों का काल उन्होंने इस प्रकार वर्णित किया है -

'विष्णु पुराण' 400 ई0, 'वायु पुराण' 500 ई0 'भागवत पुराण' 600-700 ई0 और कूर्मपुराण 700 ई0 ।[1] 'हरिवंश पुराण' का काल भी डा0 हाजरा ने 400 ई0 माना है ।[2] एवं 'अग्नि पुराण' की रचना 800 ई0 में तो माना है लेकिन इसमें कुछ सामग्रियों को इस काल से पूर्व की और कुछ को बाद की बताई है । अग्निपुराण की रचना के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है । डा0 सुशील कुमार डे का कथन है कि अग्निपुराण का अलंकार-प्रकरण भामह एवं दण्डी के बाद और आनन्दवर्धन से पूर्व नवम् शती की रचना है ।[3] महामहोपाध्याय पी0 वी0 काणे ने 'अग्निपुराण' को 700 ई0 के पश्चात् और उसके काव्यशास्त्रीय अंश को 900 ई0 का स्वीकार किया है ।[4] नारदीय पुराण' के विषय में ऐसा कहा जाता है कि इसकी रचना दशम शताब्दी ई0 तक हो चुकी थी, बाद में अन्य प्रक्षेपों को जोड़कर इसका कलेवर बढ़ा दिया गया ।[5] डा0 हाजरा ने 'ब्रह्मपुराण' की रचना भी दशम् शती ई0 माना है । यद्यपि उसका कुछ अंश बाद का है । स्कन्द पुराण के कुछ अंश को अष्टम शतक और अधिकतर अंश को इसके बाद की रचनाकाल में रखा है ।[6] गरुड़ पुराण दशम शती ई0 में लिखा गया ।[7] ब्रह्मवैवर्त पुराण के विषय

---

1. 'पुराणिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स', 1940 एवं 'न्यू इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग-1, पृ0 522.
2. न्यू इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग-12, पृ0 683.
3. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, भाग-1, पृ0 102-104.
4. साहित्य दर्पण की अंग्रेजी भूमिका, पृ0 3-5.
5. डा0 हाजरा, इण्डियन कल्चर, भाग-3, पृ0 477.
6. डा0 हाजरा, पुराणिक रेकार्ड्स, पृ0 165.
7. डा0 हाजरा, पुराणिक रेकार्ड्स, पृ0 174 तथा एनल्स, भण्डारकार ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग-19, पृ0 68-75.

में पुराणों का मन्तव्य है कि इसकी रचना 700 ई0 में पूर्ण हो चुकी थी किन्तु इसे वर्तमान रूप सोलहवीं शती ई0 में प्राप्त हुआ।[1]

मत्स्य, वायु एवं ब्रह्माण्ड में कलियुग की वंशावली का जो वर्णन किया गया है उससे ज्ञात होता है कि इन पुराणों ने अपनी सामग्री भविष्यपुराण से ली है। अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर विद्वानों ने यह निश्चित किया है कि भविष्य पुराण की रचना तृतीय शताब्दी के मध्य में हुई एवं मत्स्य, वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों का निर्माण उसके एक शताब्दी बाद यानि चौथी शताब्दी में हुई होगी। कलियुग में राजाओं के वर्णन से भी इसके रचनाकाल पर बहुत प्रभाव पड़ता है। विष्णु - पुराण में वर्णित मौर्यवंश के विवरण से, मत्स्य पुराण के दक्षिण के आंध्रराजाओं (लगभग 225 ई0) के इतिवृत्त से एवं वायुपुराण में वर्णित 'गुप्तराजाओं के प्रारम्भिक साम्राज्य' के विवरण से इन पुराणों की रचना गुप्तकाल के अनन्तर स्वीकार नहीं की जा सकती।

इस प्रकार पुराणों की मूल रचना अतीव प्राचीन है। वैदिक साहित्य में पुराणों का उल्लेख होना, पुराणों को वेदों के समकालीन सिद्ध कर देता है जो कि पुराणों की प्राचीनता का मुख्य प्रमाण है।

छान्दोग्योपनिषद् में अपनी पठित विद्याओं का वर्णन करते हुए नारद जी सनत्कुमार से कहते हैं कि मैंने पुराणों का भी अध्ययन किया है[2] -

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं
चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम् ----।।"

---

1. इण्डियन कल्चर, भाग 4, पृ0 73.
2. छान्दोग्योपनिषद्, 7/1/2.

इस प्रकार उपनिषद् काल में भी पुराणों का उल्लेख मिलता है । इससे भी महत्वपूर्ण उल्लेख अथर्वसंहिता का है जिसमें पुराणों को वेदों का समकालिक घोषित किया गया है -

"ऋचः सामानि छन्दाँसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिविदेवा दिविश्रितः ।।"[1]

इस मन्त्र के अनुसार 'उच्छिष्ट' नाम सेअभिहित 'परमपुरुष से चारों वेदों के अनन्तर 'पुराण' की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है । इस प्रसंग से प्रतीत होता है कि 'पुराण' शब्द से केवल 'पुराने आख्यान' का ही अर्थ बोध नहीं होता वरन् 'विद्या विशेष' अर्थ भी लक्षित होता है ।

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी पुराणों के अध्ययन के महत्व को प्रतिपादित किया गया है और वैदिक काल में होने वाले सुप्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ में पुराणों के पाठ को बताया गया है -

'य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहास पुराणमित्यह रहः स्वाध्यायमधीते स एनं तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैः भोगैः ।।'[2]

'तानुपदिशति पुराणं वेदः सो य मितिकिंचित्पुराणमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः सम्प्रेष्यति ।'[3]

इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण काल में भी पुराणों की सत्ता विद्यमान थी ।

---

1. अथर्वसंहिता, 11/7/24.
2. शतपथ ब्राह्मण, 11/5/7/9.
3. शतपथ ब्राह्मण, 13/4/3/13.

गृह्यसूत्र एवं धर्मसूत्रों में भी पुराणों का उल्लेख मिलता है -

"मांगल्यानीतिहासपुराणानि"[1]

"अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति"[2]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वर्णित भविष्य पुराण के उदाहरण - यथा 'पुनः सर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे' से ज्ञात होता है कि उस काल में पुराणों को मान्यता प्राप्त हो गई थी और वे प्रमाणभूत माने जाते थे । इस प्रकार भविष्य पुराण का रचना काल ईसा की तृतीय शताब्दी पूर्व - चौथी शताब्दी ई० पू० माना जाता है ।

कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में अनेक बार पुराणों का उल्लेख करते हुए पौराणिक सूत एवं मागध के कार्य को बताया है । उन्मार्ग पर चलने वाले राजकुमारों को पुराण का उपदेश देकर सन्मार्ग में लाने का भी वर्णन किया है । इससे स्पष्ट है कि कौटिल्य के काल में पुराण एक प्रसिद्ध और प्रामाणिक रचना माना जाता रहा होगा जिसकी रचना काल चौथी शताब्दी ई०पू० है । अतः स्पष्ट है कि प्राचीनतम पुराणों की रचना इस काल में अवश्य हो गई होगी ।

पुराण रचना की पूर्वावधि से ज्ञात है कि कौटिल्य पुराणों की रचना से निश्चित ही परिचित थे किन्तु पुराणों की अपर अवधि क्या थी अथवा क्या है ? यह भी एक विचारणीय विषय है ।

प्राचीन पुराण वंशकथात्मक थे परन्तु कालान्तर में साम्प्रदायिक सामग्री की

---

1. आश्वलायनगृह्यसूत्र 1/6.
2. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/19/13.

प्रचुरता होने से एवं पुराणों में संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन से इनका स्वरूप साम्प्रदायिक हो गया । वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदाय वालों ने इन पुराणों को अपने धार्मिक प्रचार का साधन बना लिया । इन सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव शंकराचार्य (8वीं 9वीं शताब्दी) के बाद हुआ था । इन सम्प्रदायों में वैष्णव धर्म के प्रतिपादक रामानुजाचार्य का आविर्भाव (12वीं शताब्दी में, मध्वाचार्य का 13वीं शताब्दी में, तथा वल्लभाचार्य का (16वीं शताब्दी हुआ । इन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित हिन्दू-धर्म के अधिकांश सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक तत्व पुराणों में उपलब्ध होते हैं ।

श्री शिवदास शास्त्री ने पुराणों के काल - निर्धारण से सम्बन्धित दो लेख लिखे हैं और इन लेखों में पुराणों के वर्ण्य-विषय के आधार पर इनका काल-निर्धारण किया है । इनके मतानुसार प्रत्येक पुराण की रचना का विचार पृथक्-पृथक् काल में किया जा सकता है । मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु एवं भागवत् में जो ऐति-हासिक राजवंशों का उल्लेख किया गया है उसके आधार पर पार्जिटर आदि विद्वानों ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि इन ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन आन्ध्र राजा यज्ञश्री के काल में (द्वितीय शताब्दी) के अन्त में) हो गया होगा एवं जिन पुराणों में गुप्त राजाओं का वर्णन हुआ है उनकी रचना पाँचवीं शताब्दी के बाद हुई होगी ।

इस प्रकार ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर पुराणों का काल निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है -

1. भविष्य पुराण की रचना काल - द्वितीय शती का अन्त

2. मत्स्यपुराण का निर्माण - तृतीय शती के प्रारम्भ काल में अथवा 236 ईसवी तक ।

3. वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण – गुप्तराज्य के आरम्भ काल तक।

4. विष्णुपुराण का कलियुग वृत्तान्त भी इसी युग का संकेत करता है।

5. श्रीमद्भागवत पुराण – गुप्तकाल की रचना छठीं शती से पूर्व।

पुराणों के विकास में जो विभिन्न अवस्थायें प्राप्त होती हैं उनके आधार पर श्री ज्ञानी ने पुराणों के रचना काल को चार भागों में विभक्त किया है –

1. <u>आख्यान की अवस्था</u> – वैदिक काल से लेकर महाभारत तक। (1200 ई०पू० से 950 ई०पू० तक।

2. विकास की अवस्था – 950 ई०पू० से 500 ई०पू० तक

3. पंचलक्षणात्मक अवस्था – 500 ई०पू० से ईसा की प्रथम शती तक

4. साम्प्रदायिक अवस्था – ईसा की प्रथम शताब्दी से 700 ईस्वीं तक।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम पुराणों के कालक्रम को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं –

1. <u>प्राचीन</u> – प्रथम शती से लेकर 400 ईस्वीं तक – इसके अन्तर्गत वायु, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, मत्स्य एवं विष्णु पुराण को रखते हैं।

2. <u>मध्यकालीन</u> – 500 ई०–900 ई० तक – इस श्रेणी में श्रीमद्भागवत, कूर्म, स्कन्द एवं पद्मपुराण को रखते हैं।

3. <u>अर्वाचीन</u> – 900 ई० – 1000 ईस्वी तक – इस श्रेणी में ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्म, लिंग, वामन आदि पुराणों को रखते हैं।

वामन पुराण - संक्षिप्त-परिचय

सम्पूर्ण विश्व को निमज्जन करने वाले भगवान विष्णु के वामनावतार से सम्बद्ध, इस वामन-पुराण को अष्टादश महापुराणों में क्रम से 14वाँ स्थान प्राप्त है। वामन अवतार का विशद एवं मनोहर वर्णन करने के कारण ही यह पुराण 'वामन-पुराण' संज्ञा से अभिहित किया गया। 'मत्स्य-पुराण' में कहा गया है कि जिस पुराण में त्रिविक्रम अथवा वामन भगवान की गाथा ब्रह्मा द्वारा कीर्तित है एवं जिसमें भगवान द्वारा तीन पगों से ब्रह्माण्ड को नाप लेने का वर्णन है, उसे 'वामन-पुराण' कहते हैं। इस पुराण की श्लोक संख्या दस हजार बताई गई है, जैसा कि सूतपुत्र लोमहर्षण शौनक ऋषि को बतलाते हुए कहते हैं[1]-

"ततस्तु वामनं नाम चतुर्दशमं स्मृतम् ।
संख्यया दशसाहस्त्रं प्रोक्तं श्रूयते पुरा ।"

स्वयं वामन पुराण ने भी फलश्रुति सहित इस दस सहस्त्र संख्या को अभिहित किया है और बताता है कि इसके श्रवण मात्र से मनुष्य के महापापों की निवृत्ति हो जाती है।[2]

"चतुर्दशं वामनमाहुरग्र्यं श्रुते च यस्याघचयाश्च नाशम् ।
प्रयान्ति नास्त्यत्र च संशयो मे महान्ति पापान्यपि नारदाशु ॥"

नारदीय - पुराण में वामन-पुराण के लक्षण-निरूपण प्रसंग में ऐसा कहा गया है कि "जिस पुराण में लोक-पितामह ब्रह्मा के त्रिविक्रम अथवा वामन रूप सुन्दर चरित्र को लक्षित करके कूर्म-कल्प के अनुसार धर्म, अर्थ और कामविषयक वृत्तान्तों का निर्देश किया गया है एवं दस हजार श्लोक संख्या वाला वो पुराण श्रोताओं तथा

---

1. स्कन्दपुराण,
2. वामनपुराण, 69/11.

वक्ताओं को कल्याण प्रदान करने वाला है, एवं दो भागों में विभक्त है वही 'वामन पुराण' कहा जाता है[1] –

> "शृणु वत्स ! प्रवक्ष्यामि पुराणं वामनाभिधम् ।
> त्रिविक्रमचरित्राढ्यं दशसाहस्रसंख्यकम् ।।"
>
> कूर्मकल्पसमाख्यानं वर्गत्रयकथानकम् ।
> भागद्वयसमायुक्तं श्रोतृ - वक्तृशुभावहम् ।।"

किन्तु, मत्स्यपुराण और स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड में वामन पुराण का स्वरूप इस प्रकार अभिहित है – कि 'जिस पुराण में चतुर्मुख ब्रह्मा ने कूर्म-कल्प के अनुसार भगवान वामन के माहात्म्य को अवलम्ब करके त्रिवर्ग के विषय को वर्णित किया है वही दस सहस्र श्लोकों वाला पुराण 'वामन पुराण' कहा जाता है[2] –

> "त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः ।
> त्रिवर्गमभ्यधात् तच्च वामनं परिकीर्तितम् ।।
> पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम् ।।"

इस प्रकार दस-सहस्र संख्यक यह वामन पुराण दो भागों में विभक्त है – 1. पूर्व भाग और 2. उत्तर भाग । नारदीय पुराणानुसार उत्तरभाग का दूसरा नाम 'बृहद्वामन' भी है । इसमें चार संहिताएँ हैं –

1. माहेश्वरी संहिता
2. भागवती संहिता

---

1. नारदीय पुराण, 1/105/1-2.
2. मत्स्यपुराण, 53/44-45, स्कन्दपुराण, 7/2/63-64.

३. सौरी संहिता

४. गाणेश्वरी संहिता

<u>माहेश्वरी संहिता</u> में भगवान् कृष्ण एवं उनके भक्तों के चरित्र का कीर्तन किया गया है।

<u>भागवती संहिता</u> में भगवती (देवी) पार्वती के अवतार की कथा का निरूपण है।

<u>सौरी संहिता</u> में समस्त पापों का विनाश करने वाले भगवान् सूर्य की महिमा का वर्णन है एवं

<u>गाणेश्वरी संहिता</u> में विघ्न समूह का नाश करने वाले भगवान् गणेश एवं शिव के विचित्र चरित्र का वर्णन है। इन चारों संहिताओं में प्रत्येक की श्लोक संख्या एक हजार है, अतः इन चारों संहिताओं की कुल श्लोक संख्या चार हजार है[1] –

> "शृणु वत्सोत्तरे भागं बृहद्वामनसंज्ञकम् ।
> माहेश्वरी भागवती सौरी गाणेश्वरी तथा ॥
> चतस्रः संहिताश्चात्र पृथक् साहस्रसंख्यया ॥"

चार सहस्र श्लोकों वाली संहिताओं से युक्त एवं बृहद्वामन संज्ञा से अभिहित इस वामन पुराण का उत्तर भाग इस समय उपलब्ध नहीं है – केवल लघुभागवतामृत, वीरमित्रोदयादि निबन्ध ग्रन्थों एवं वृन्दावन में स्थित गोस्वामि कृष्ण के भक्ति विषयक ग्रन्थों में बृहद्वामन के कुछ श्लोक दृष्टिगोचर होते हैं। इस

---

1. नारदीयपुराण, 1/105/13-14.

वेंकटगिरि माहात्म्य आदि अनेक प्रसंगों को इस ग्रन्थ से निकाल दिया गया है ।

वामन पुराण में शिव, विष्णु, स्कन्द, सूर्य आदि अन्य देवों की पूजा-विधि, देवी-माहात्म्य से सम्बन्धित विविध आख्यानों एवं उपाख्यानों को एक साथ समन्वित कर विविध धर्मों एवं सम्प्रदायों में एकता की स्थापना तथा धार्मिक सहिष्णुता की भावना को संपुष्ट किया गया है । इसके अतिरिक्त इसमें कुछ ऐसे विषयों को भी अन्तर्भावित किया गया है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते यथा -

शिव के विभिन्न अंगाभूषणों के रूप में सर्पों के नाम का उल्लेख, प्रह्लाद का बदरिकाश्रम में नर-नारायण से युद्ध, देवों एवं असुरों के विविध वाहनों का वर्णन, सुकेशिचरित्र, त्रिविक्रम द्वारा धुन्धुवध, प्रह्लाद की तीर्थयात्रा तथा वामन के विभिन्न स्वरूपों एवं स्थानों का वर्णन ।

इस पुराण में संकुचित साम्प्रदायिक भावना कहीं भी परिलक्षित नहीं होती । अन्य कई पुराणों की तरह इसमें तान्त्रिक - पूजा - विधियों का नितान्त अभाव है । इसके आरम्भ में वामनावतार की कथा वर्णित है और बाद के कई अध्यायों में विष्णु के विविध अवतारों का उल्लेख किया गया है । विष्णु परक पुराण होने से इसमें भगवान विष्णु के चरित का विस्तार से वर्णन किया गया है । इसके अतिरिक्त शिव-माहात्म्य, शिवतीर्थ, उमा-शिव-विवाह, गणेश एवं कार्तिकेय के जन्म की कथा आदि अनेक प्रसंगों का समावेश है । 'मुर - दानव' के आख्यान का वर्णन कर विष्णु भगवान के 'मुरारि' नाम का स्पष्टीकरण भी इसी पुराण में हुआ है तथा भगवान शंकर द्वारा अंधकासुर के वध की कथा भी इसमें वर्णित है । इस पुराण में वर्णित 'शिव-पार्वती चरित' का कालिदास के कुमारसम्भव' के साथ अद्भुत साम्य है ।

वामन पुराण का एक अन्य विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण पक्ष असुरों को प्रधानता

देकर उनके क्रियाकलापों को प्रकाशित करना है । डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल का यह मत कि - "अन्यान्य पुराणों में एक साथ अनेक असुराधिपों के चरित्र एवं कार्यों को इतनी तन्मयता एवं उत्साह के साथ वर्णनाभाव है इस पुराण के संकलन-कर्ता के समन्वयात्मक भाव एवं सांस्कृतिक एकता की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।[1] बहुत ही युक्तिपूर्ण है ।

इस पुराण के प्रथम वक्ता नारद जी हैं, जिन्हें भागवत पुराण का सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठाता माना जाता है । जैसा कि नारदीय पुराण में कहा गया है कि - 'सर्वप्रथम पुलस्त्य मुनि ने देवर्षि नारद को वामन पुराण उपदिष्ट किया, तदनन्तर नारद ने महर्षि व्यास को, महर्षि व्यास ने अपने शिष्य सूत लोमहर्षण को एवं सूतलोमहर्षण ने नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषियों से इस कथा का व्याख्यान किया इस प्रकार परम्परया यह वामन-पुराण लोक-प्रसिद्ध हो गया[2]-

"इत्येतद् वामनं नाम पुराणं सुविचित्रकम् ।
पुलस्त्येन समाख्यातं नारदाय महात्मने ।।

ततो नारदतः प्राप्तं व्यासेन सुमहात्मना ।
व्यासात्तु लब्धवान् वत्स ! तच्छिष्यो लोमहर्षणः ।।

स चाख्यास्यति विप्रेभ्यो नैमिषीयेभ्य एव च ।
एवं परम्परा प्राप्तं पुराणं वामनं शुभम् ।।"

---

1. डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल, वामनपुराण - ए स्टडी, इण्ट्रोडक्शन, पृ0 17.

2. नारदीयपुराण, 1/105/17-18.

वामन पुराण में वैष्णव धर्म की प्रतिपादकता

भारत के स्वर्णयुग में प्रचलित प्रायः सभी आध्यात्मिक एवं धार्मिक विचार धारा से इस पुराण के लघु कलेवर में पूर्णतः सुरक्षित है । इसमें वर्णित अष्टांग धर्म (23, 25, 28) के अन्तर्गत नैतिक धर्म के रूप से यह तथ्य पूर्णतया सिद्ध है कि 'वामन-पुराण कोई धार्मिक-विधि-विधानों को आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं' देता । इस पुराण में प्रह्लाद, बलि, सुकेशि आदि असुरों को भी धर्माचरण के क्षेत्र में महत्ता प्रदान की गई है जिससे इस पुराण की धार्मिक उदारता प्रकट होती है ।

वैष्णव धर्म प्रधान इस पुराण का प्रारम्भ वैष्णवधर्म के प्रसिद्ध मंगलाचरण श्लोक "नारायणं नमस्कृत्यं ——————— जयमुदीरयेत्" से हुआ है जो वामन पुराण के सभी काश्मीरी एवं दक्षिण भारतीय हस्तलेखों में उपलब्ध है । उपसंहार में भी और उनके भक्तों की एवं विष्णु मन्दिरों के निर्माण-कर्ताओं की प्रशंसा तथा भिन्न भिन्न - पत्र-पुष्पों से भगवान विष्णु की पूजा का वर्णन किया गया है । इस पुराण में कुल 28 स्तोत्र हैं जिनमें 17 स्तोत्रों में विष्णु एवं वामन से सम्बन्धित हैं, 11 स्तोत्र शिव के हैं जिनमें 5 शिवस्तोत्रों का वर्णन सरोमाहात्म्य में किया गया है ।

वैष्णवपुराण होते हुए भी यह वामन-पुराण वैष्णव एवं शैव धर्मों के सामंजस्य से परिपूर्ण है । विल्सन ने विष्णु-पुराण के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में कहा है कि - "यह पुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति अधिक उदार है । इसमें बिना किसी पक्षपात के विष्णु एवं शिव का समान रूप से आदर प्रदर्शित किया गया है । अतः यह किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं है ।" परन्तु

प्रधानतया वैष्णव – पुराण होने पर भी वामन पुराण, राजस पुराण ही माना जाता है, जबकि वैष्णव-पुराण को सात्विक-पुराण माना गया है जैसा कि पद्म-पुराण एवं भविष्य पुराण में पुराणों के सात्विक, राजस एवं तामस इन तीनों विभागों से स्पष्टतः लक्षित है –

पद्मपुराण

सात्विक पुराण

1. वैष्णव
2. नारदीय
3. भागवत
4. गरुड़
5. पद्म
6. वाराह

राजसपुराण

1. ब्रह्माण्ड
2. ब्रह्मवैवर्त
3. मार्कण्डेय
4. भविष्य
5. वामन
6. ब्राह्म

भविष्यपुराण

सात्विक पुराण

1. ब्रह्मवैवर्त
2. स्कान्द
3. पाद्म
4. भागवत
5. ब्राह्म
6. गारुड़

राजसपुराण

1. मात्स्य
2. कूर्म
3. नृसिंह
4. वामन
5. शिव
6. वायु

तामसपुराण	राजसपुराण
1. मात्स्य	1. मार्कण्डेय
2. कौर्म	2. वाराह
3. लैंग	3. आग्नेय
4. शैव	4. लिंग
5. स्कान्द	5. ब्रह्माण्ड
6. आग्नेय	6. भविष्य

पद्मपुराणानुसार सात्त्विक-पुराण मोक्षप्रद होते हैं, राजस-पुराण स्वर्गप्रद एवं तामस पुराण नर्क-प्रद होते हैं ।[1]

परन्तु भविष्य पुराणानुसार राजस पुराणों में प्रायः कर्मकाण्ड का प्रतिपादन एवं तामस-पुराण शाक्तधर्मपरायण होते हैं ।[2]

मत्स्य-पुराण के अनुसार-सात्त्विक पुराण में हरिमाहात्म्य की अधिकता होती है, राजस-पुराणों में ब्रह्मा का माहात्म्य, तामस में अग्नि और शिव का माहात्म्य तथा संकीर्ण पुराणों में सरस्वती एवं पितरों का विशेष माहात्म्य होता है[3] -

---

1. सात्त्विका मोक्षदाः प्रोक्ता राजसाः स्वर्गदा शुभाः ।
   तथैव तामसा देवि निरयप्राप्ति हेतवः ।। - पद्मपुराण, 6/263/85.

2. राजसाः स्वल्पफला हीर कर्मकाण्डमया भुवि ।
   तामसाः स्वल्पफलाः प्राहुः शक्तिधर्मपरायणाः ।। -भविष्यपुराण, 33/28/13/15.

3. मत्स्यपुराण, 53/67-68.

"सात्त्विकेषु च माहात्म्यमधिकं हरेः ।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः ॥
तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च ।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणां च निगद्यते ॥"

स्कन्दपुराण की शंकर संहिता के शिवरहस्य खण्ड में वामनपुराण को उन दस पुराणों में अन्तर्भावकृकिया गया है जो शिव-माहात्म्य से सम्बन्धित हैं । विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि वामन पुराण जो यथार्थ में वैष्णवपुराण था बाद में शिव-रहस्य खण्ड के समय शिव-परक बना दिया गया होगा ।

पद्मपुराण में वामनपुराण को भगवान-विष्णु की त्वचा बतलाते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर को त्वचा आवृत किये हुए है उसी प्रकार वामनपुराण विष्णु के सम्पूर्ण माहात्म्य का प्रतिपादन करने वाला है । बलि की यज्ञशाला में भगवान विष्णु का वामन रूप में आकर सम्पूर्ण त्रैलोक को तीन पगों में नाप लेने की कथा ही इस वामन-पुराण का मूल प्रतिपाद्य विषय है । बलि की यज्ञ-शाला कुरुक्षेत्र में बताई गई है एवं कुरुक्षेत्र तथा इसके तीर्थों का विशेष वर्णन किया गया है । सरोमाहात्म्य प्रकरण में सूत एवं ऋषियों का संवाद स्थान भी कुरुक्षेत्र ही बताया गया है जबकि पद्मपुराण में बलि की यज्ञशाला पुष्कर में, अग्निपुराण गंगाद्वार में, स्कन्दपुराण प्रभास के निकट वस्त्रापथ क्षेत्र में एवं मत्स्य पुराण में नर्मदा के उत्तरी तट पर बताया गया है ।

पुराणों में विशेषतया श्रीमद्भागवत में राजा बलि के प्रसंग में वामनावतार का विशद वर्णन उपलब्ध होता है । बलि-वामन कथासार इस प्रकार है -

'स्वर्ग को जीतकर दैत्यराज बलि ने स्वयं इन्द्र बनकर जब देवताओं को स्वर्ग को बहिष्कृत कर दिया, तब उन दुखित देवताओं की विनम्र प्रार्थना सुनकर एवं उनकी

मनोकामनाओं को पूर्ण करने के लिए भगवान विष्णु कश्यप मुनि की पत्नी अदिति के गर्भ से वामन रूप में आविर्भूत हुए एवं दैत्यराज बलि की यज्ञशाला में प्रस्थान कर उससे तीन पग भूमि की याचना की । भगवान विष्णु की याचना पर बलि ने, परमपूज्य गुरु शुक्राचार्य द्वारा मना किये जाने पर भी अपने को धन्य मानते हुए हाथ में कुश और जल लेकर हर्षपूर्वक भगवान वामन की इच्छा को पूर्ण करने का संकल्प किया । तदनन्तर भगवान वामन ने अपने विशाल स्वरूप को प्रकट कर एक पैर से पृथ्वी और दूसरे पैर से सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को आक्रमित कर लिया । तीसरे चरण को स्वयं समर्पित बलि के सिर पर रखकर अपने 'त्रिविक्रम' नाम को चरितार्थ किया । तत्पश्चात् दैत्यराज बलि को पाताल भेजकर तथा इन्द्र को पुनः त्रिलोक प्रदान कर समस्त देवताओं को भयरहित कर और स्वयं बलि के पाताल लोक में द्वारपाल रूप में सदैव उसकी रक्षा करने लगे ।

वामन पुराण-काल निर्धारण

प्राचीन पद्धति के पक्षपाती विशिष्ट विद्वानों ने कलि एवं द्वापर के संधि-काल में व्यासकृत पुराणों को अंगीकृत किया है, एवं अर्वाचीन कुछ विचारकों ने देश काल-परिस्थिति - भाषा भाव-वर्णन एवं शैली के आधार पर विभिन्न कालों में भिन्न भिन्न पुराणों की रचना बताई है, जिसके अनुसार वामन-पुराण अति चिरन्तन पुराण तो नहीं है फिर भी जो तर्क यहाँ प्रस्तुत किया गया है उससे स्पष्ट है कि वामन पुराणीय पार्वती और बटु रूप धारी शिव के संवाद का कालिदास के कुमार-सम्भव में वर्णित संवादों से न केवल अर्थ-समानता ही है बल्कि उन दोनों ग्रन्थों में वर्णित प्रसंग के शब्दों में भी समानता है एवं कुछ छन्द भी समान रूप से ही प्रयुक्त हुए हैं । अतः कुमारसम्भव के प्रमाण से वामन-पुराण का रचना काल कालिदासोत्तर षष्ठ-सप्तम् शताब्दी के मध्य होना ही निश्चित है जो सर्वथा उचित प्रतीत होता

है । किन्तु आज वामन पुराण के रचना काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है, जैसा कि इस पुराण के सम्यक् अनुशीलन से विदित होता है कि इसकी रचना एक समय में नहीं हुई वरन् इस पुराण के संकलन एवं पुनर्संस्करण की परम्परा में समय-समय पर विभिन्न सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अपने मत के अनुरूप अनेक परिवर्तन एवं संशोधन किये । जैसा कि अन्य पुराणों में वामन पुराण से सम्बन्धित विषयों सूचनाओं से ज्ञात है । मत्स्य एवं स्कन्द पुराणों में वामन पुराण के वक्ता ब्रह्मा कहे गये हैं तथा इसका सम्बन्ध कूर्म प्रतिपाद्य विषय 'दस सहस्र श्लोकों में त्रिविक्रम-माहात्म्य तथा कूर्मकल्प सम्बन्धी विषयों का वर्णन बताया गया है ।[1]

नारदीय पुराण[2] में भी वामन पुराण के विषय में लगभग यही कहा गया है, परन्तु इस पुराण के वक्ता ब्रह्मा के स्थान पर पुलस्त्य स्वीकार किये गये हैं । वामन पुराण की उपलब्ध पाण्डुलिपियों में 'सरोमाहात्म्य खण्ड' को छोड़-कर शेष में पुलस्त्य को वक्ता एवं नारद को श्रोता आख्यात किया गया है । इस आलोचित पुराण के कुछ काल-निर्देशों यथा-विष्णु के अवतार-नाम, साम्प्रदायिक सद्भाव की प्रवृत्ति, हिन्द महासागर में स्थित द्वीप-नाम तथा भारत की सीमा-वर्ती जातियों के स्पष्ट नामोल्लेखों के आधार पर श्री हर प्रसाद शास्त्री[3] ने इसे प्रारम्भिक पुराणों में परिगणित किया है जिसका सबल प्रमाण वामन-पुराण में

---

1. "त्रिविक्रमस्य माहात्म्यमधिकृत्य चतुर्मुखः ।
   त्रिवर्गमभ्यधात् तच्च वामनं परिकीर्तितम् ।
   पुराणं दशसाहस्रं कूर्मकल्पानुगं शिवम् ॥
   मत्स्यपुराण, 53/44-45, स्कन्दपुराण 7/1/2/63-64.
2. नारदीय पुराण, 1/105/1-2.
3. हरप्रसाद शास्त्री, कैटलॉग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, भाग 5, प्रीफेस पृ० 182-83.

विष्णु पूजा के प्रसंग में कहीं भी 'तुलसी' का उल्लेख न मिलना भी है ।

उपर्युक्त आधारों के परिप्रेक्ष्य में श्री शास्त्री ने वामन पुराण की रचना-काल को सम्भवतया द्वितीय शती ईस्वी में स्वीकार करना यथेष्ट बताया है । परन्तु श्री शास्त्री के तथ्यों के आलोक में डा० हाजरा ने इस आलोचित पुराण को परवर्ती पुराणों में रखा है । श्री शास्त्री द्वारा प्रस्तुत विष्णु के अवतार नामों की सूची पर टिप्पणी व्यक्त करते हुए डा० हाजरा[1] कहते हैं कि वामन पुराण में विष्णु के अवतारों की न तो कोई क्रमबद्ध सूची दी गई है और न ही यत्र-तत्र उल्लिखित विष्णु के अवतार-नामों को इसके काल-निर्धारण का आधार माना जा सकता है । दशाधिक अवतार-नामों के उल्लेख से इस पुराण की प्राचीनता को सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि कुछ परवर्ती ग्रन्थों में भी विष्णु के दशाधिक नामों की सूची उपलब्ध है ।[2]

श्री शास्त्री ने वामन पुराण में वर्णित साम्प्रदायिक सद्भाव की प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में वामन-पुराण की प्राचीनता को सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु डा० हाजरा ने इस प्रवृत्ति को अन्य ग्रन्थों में भी दृष्टिगत बताया है । शिव एवं विष्णु देवों में समान भाव एवं आस्था की प्रवृत्ति विद्याकर वाजपेयी (1570-1500) के नित्याचार पद्धति[3] में भी उपलब्ध है अतः डा० हाजरा के मतानुसार इसे प्रारम्भिक पुराणों की काल-श्रेणी में नहीं रखा जा सकता ।

---

1. डा० रमेशचन्द्र हाजरा, पूर्वोद्धृत, पृ० 78-79.
2. [illegible], ग्रियर्सन, जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, 1909, पृ० 607.
3. नित्याचार पद्धति, विद्याकर वाजपेयी, पृ० 155.

श्री शास्त्री के 'तुलसी' उल्लेखाभाव के सन्दर्भ में डा० हाजरा ने रघुनन्दन कृत 'स्मृति-ग्रन्थ'[1] में वामन पुराण से उद्धृत एक श्लोक में उल्लिखित 'तुलसी' एवं 'कृष्ण तुलसी' के आधार पर डा० शास्त्री के मत का खण्डन किया है। वामन पुराण में 'तुलसी' का उल्लेख न मिलना इस पुराण के तिथि-निर्धारण के सन्दर्भ में विशेष महत्वपूर्ण है।

श्री आनन्दस्वरूप शास्त्री ने 'स्मृतितत्व' में वर्णित वामन पुराणोक्त श्लोक[2] की शुद्धता पर सन्देह व्यक्त करते हुए बताया है कि 'स्मृति - ग्रन्थ' के समकालीन गोपाल भट्ट गोस्वामिकृत 'हरिभक्ति विलास' तथा मित्र मिश्र विरचित 'वीर मित्रोदय' में भी इस आलोचित पुराण का वही श्लोक उपलब्ध है लेकिन उनमें 'तुलसी' का उल्लेख कहीं भी नहीं है अतः डा० हाजरा का पूर्व विवेचित तर्क उचित नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार वामन-पुराण, अध्याय 68, जिसमें विष्णु पूजा के पुष्पदलों में 'तुलसी' का अभाव है। संभवतः प्राचीन अंश है जिससे इस पुराण का रचना-काल द्वितीय शती ईसवी स्वीकार किया जा सकता है किन्तु पूर्वोक्त कालिदास के काव्य द्वारा प्रचुरता से प्रभावित होने के कारण इसकी रचनाकाल कालिदासोत्तर युग अर्थात् 600 ई० - 900 ई० के बीच मानना उचित है।

वामन पुराण को कालिदास प्रणीत कुमारसम्भव से प्रभावित मानकर इसे

---

1. 'स्मृतितत्व' भाग 1, पृ० 411.

2. "बिल्व पत्रं शमीपत्रं भृंगराजस्य पत्रकम्।
   तुलसी कृष्णतुलसी सद्यस्तुष्टि करं हरेः॥
   स्मृतितत्व, भाग 1, पृ० 411, (वामन-पुराण से उद्धृत श्लोक)

कालिदासोत्तर युगीन 600 - 900 ई0। के बीच स्वीकार करने में सबसे बड़ी
विप्रतिपत्ति यह भी है कि कालिदास ई0पू0 प्रथम शती के हैं अथवा गुप्त युग
के। वामन पुराण को छठीं शती में मानने वाले आलोचक निश्चय ही कालिदास
को गुप्तयुगीन मानते हैं। परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से अधिकांश विदेशी और
भारतीय विद्वान् कालिदास को शुंगवंशी, अग्निमित्र और उज्जैनी के चक्रवर्ती
सम्राट विक्रम का समसामयिक मानते हैं। यदि कालिदास को ई0पू0 प्रथम शती
में मान लिया जाये तो डा0 हर प्रसाद शास्त्री के मत की संगति भी बैठ जाती
है अर्थात् कालिदास से प्रभावित वामन-पुराण दूसरी शती ई0 में विरचित माना
जा सकता है।

परन्तु कल्पनाओं और सम्भावनाओं का तो कोई अन्त होता नहीं।
पौराणिक आख्यानों से प्रेरणा लेकर काव्यरचना करने वाले कवि साहित्यिकता की
दृष्टि से, चरित्र सर्जना की दृष्टि से निश्चय ही आगे बढ़े हैं। मिट्टी की अपेक्षा
उससे निर्मित घट अथवा सुवर्ण की अपेक्षा तत्-निर्मित आभूषण निश्चय ही कला की
दृष्टि से श्रेष्ठतर होते हैं। ऐसी स्थिति में यह मानना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता
कि कालिदास प्रणीत कुमारसम्भव की मनोरम कल्पनाओं, रस-व्यंजनाओं और साहि-
त्यिक मूल्यों के अनुकरण के परिप्रेक्ष्य में वामन-पुराण का शिव-पार्वती अंश लिखा
गया होगा। क्योंकि किसी भी वस्तु का परिष्कार उसकी अगली अवस्था का
द्योतक होता है। यहाँ प्रश्न यह है कि कालिदास का शिव-पार्वती प्रसंग परिष्कृत
है अथवा वामन-पुराण का ? यदि वामन-पुराण की शिव-पार्वती संदर्भ की कविता
कालिदास की कविता की तुलना में परिष्कृत नहीं है, श्रेष्ठ नहीं है, तब फिर उसे
कुमारसम्भव से प्रभावित कैसे माना जा सकता है ? क्या यह संभव नहीं कि जैसे
कालिदास ने अभिज्ञान - शाकुन्तल की प्रेरणा पद्मपुराण और महाभारत से ली,
विक्रमोर्वशी की प्रेरणा ऋग्वेद के पुरूरवा-उर्वशी संवाद से ली, ठीक उसी प्रकार
कुमारसम्भव की भी प्रेरणा वामन-पुराण से ली ? सौभाग्यों का विषय आग्रह है

कि इस मत को भी तर्कतः स्वीकार किया जाना चाहिए और इस परिस्थिति में वामन-पुराण को हम महाकवि कालिदास की पूर्ववर्ती कृति अर्थात् ईसा की प्रथम शती से पूर्व की रचना स्वीकार कर सकते हैं। ऐसा मानने से निश्चय ही उन विद्वानों के मतों का समर्थन होगा जो वामन-पुराण को प्राचीन-पुराणों की कोटि में परिगणित करते हैं।

अष्टादश महापुराणों में वामन पुराण का स्थान

प्रायः सभी पुराणों में महापुराणों की सूची में वामन-पुराण का नाम उपलब्ध है, केवल गरुड़[1] पुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण[2] की सूची में महापुराणों के अन्तर्गत वामनपुराण का उल्लेख नहीं हुआ है, बल्कि इनमें उपपुराणों की सूची में वामनपुराण की गणना की गई है। 'कूर्म-पुराण[3]' में वामनपुराण के विशेष महत्व को प्रतिपादित करते हुए इसे महापुराणों की सूची में अंकित किया जाता है।

डा० हाजरा ने उपपुराणों की तेरह सूचियों को प्रकाशित कर मात्र चार सूचियों में वामन-पुराण को उपपुराण सूची में रखा है एवं वर्तमान वामनपुराण को उपपुराण की कोटि में रखना ही अधिक समीचीन बताया है।[4]

अतः प्रश्न उठता है कि वामन पुराण को महापुराण की कोटि में रखा जाये अथवा उपपुराण की कोटि में इस समस्या के समुचित समाधान हेतु गरुड़ तथा

---

1. गरुड़पुराण, 1/215/15-16.
2. ब्रह्मवैवर्तपुराण, 1/25/20-22.
3. कूर्मपुराण, 1/1/13-20.
4. 'स्टडीज इन दि उपपुराणाज' डा० हाजराकृत, भाग-1, पृ० 1-13.

बृहद्धर्म-पुराण में उल्लिखित महापुराण की सूची में वामनपुराण के नाम के अभाव पर विमर्श करना आवश्यक है।

'विष्णु पुराण' के महापुराण सूची में महापुराणों का नाम-क्रम इस प्रकार रखा गया है - विष्णु, अग्नि, भागवत, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, मत्स्य, नारदीय, पद्म, स्कन्द तथा वराह।[1] लिंगपुराण[2] की सूची में सर्वप्रथम लिंग पुराण तदुपरान्त शिव आदि पुराणों का नामक्रम प्राप्त है। इस प्रकार उक्त तीनों महापुराणों के नाम-क्रम सूची में अठारह महापुराणों के नाम वे ही हैं, केवल उनके क्रमोल्लेख में कुछ भेद अवश्य हैं। विष्णु एवं कूर्म पुराणों की महापुराण सूची में वामन पुराण के क्रमशः चौदहवाँ तथा लिंग पुराण की सूची में तेरहवाँ स्थान प्राप्त है। भागवत पुराण की सूची में महापुराणों के नाम क्रम में किंचित अन्तर है।

इस प्रकार वामन पुराण, महापुराण के रूप में प्रायः सभी सूचियों में वर्णित है। स्वयं वामन-पुराण ने भी अपने लिए यही श्रेणी निर्धारित कर चौदहवें महापुराण के रूप में लोकविश्रुत होने का दावा किया है।[3] भविष्यपुराण[4] की

---

1. विष्णु पुराण, 3/6/21-24.

2. लिंग पुराण, 1/39/61-64.

3. "चतुर्दशं वामनमाहुरग्र्यम्" - वामन पुराण, 69/11.

4. भविष्यपुराण, 3/3/28/10-14.

सूची में नारदीय एवं ब्रह्मवैवर्त पुराणों को महापुराण की सूची से बाहर रखकर उनके स्थान पर क्रमशः नृसिंह एवं शैव[1] उपपुराणों को सम्मिलित किया गया है। मत्स्यपुराण[2] की सूची में वामन-महापुराण के स्थान पर शैव उपपुराण (वायुपुराण के अतिरिक्त) को सम्मिलित किया गया है।

प्रायः यह भी माना जाता है कि अशोकान्त के काल में अथवा बाद में पुराणों में कुछ नवीन विषयों को सम्मिलित करते हुए उन्हें संस्कृत एवं संशोधित किया गया और उनमें कुछ प्राचीन विषयों को गौण प्रतिपाद्य विषय के रूप में स्वीकार किया गया। यही कारण है कि प्रायः महापुराणों में पंचलक्षणों को प्रधान मान-कर उनसे सम्बद्ध विषय-वस्तु का संकलन नहीं किया गया है, फिर भी वामनपुराण में सृष्टि एवं प्रलय वर्णन, स्वायंभुवसृष्टि, एवं सप्तमन्वन्तरों की उत्पत्ति प्रसंग में सातों मनुओं एवं मन्वन्तरों का संक्षिप्त उल्लेख[3] तथा आशोपाख्यान[4] में इक्ष्वाकु-वंशीय कुछ राजाओं का वर्णन पुराण के पंचलक्षणों के प्रतिपादन को संकेतित अवश्य

---

1. आनन्दस्वरूप शास्त्री के अनुसार शिवभक्ति-प्रतिपादन के कारण वायु-पुराण का दूसरा नाम शैव-पुराण माना जा सकता है। यथा -

   'चतुर्भेदाकुलाप्रोक्तं वायवीयमिति स्मृतम्।
   शिवभक्तिसमायोगात् शैवं तच्चापराख्यया ॥'

   वेंकटेश्वर प्रेस.

   मुद्रित अष्टादश पुराणदर्पण में 'वायु माहात्म्य' से उद्धृत। परन्तु उक्त शैव पुराण में वायुपुराण से इतर शिवपुराण मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।
2. मत्स्य पुराण, 1/2/5/15-16.
3. वामनपुराण, 46/1-76.
4. वामनपुराण, 37/25-37.

करता है। डा० हाजरा के अनुसार आलोचित पुराण को उपपुराण मानने के दो सबल आधार हैं -

1. इसमें महापुराणों के पंच लक्षणों का अभाव है।

2. इस पुराण के जो लक्षण मत्स्य-पुराण[1] तथा स्कन्दपुराण में उल्लिखित है वह वर्तमान वामन पुराण के लक्षणों से पूरी तरह मेल नहीं खाते। इन दोनों पुराणों में ब्रह्मा को वामन पुराण का वक्ता स्वीकार किया गया है तथा इनमें कूर्म कल्प सम्बन्धी वर्णनों का होना आवश्यक बताया गया है, परन्तु वर्तमान वामन पुराण में उपर्युक्त दोनों ही तथ्य अनुपलब्ध है।

इस पुराण के वक्ता, ब्रह्मा के स्थान पर पुलस्त्य है तथा इसमें कूर्म-कल्प का वृत्तान्त भी नहीं रखा गया यहाँ तक कि लोमहर्षण एवं ऋषियों का संवाद भी नहीं है अतः वर्तमान वामन-पुराण मत्स्य तथा स्कन्द पुराणोक्त महापुराण नहीं स्वीकारा जा सकता।

इस प्रकार डा० हाजरा के निष्कर्ष या विश्लेषण करने के उपरान्त उक्त दोनों हेतुओं पर पुनः विचार करते हुए हम यह कह सकते हैं कि वस्तुतः पंचलक्षणों के विवरण के आधार पर हम किसी पुराण को महापुराण अथवा उपपुराण नहीं मान सकते। क्योंकि यह लगभग निश्चित हो चुका है कि पुराणों का विकासक्रम, काल एवं युगीन मान्यताओं को आत्मसात करते हुए हुआ है। उदाहरणार्थ-प्राचीन

---

1. त्रिविक्रमस्य माहात्म्यं अधिकृत्य चतुर्मुखः।
   त्रिवर्गमभ्यधात्, तच्चवामनं परिकीर्तितम्।
   पुराणं दस सहस्र, कूर्म कल्पानुगं शिवम्।।" मत्स्यपुराण, अध्याय 53.

2. स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड, 1/2/263-64.

पुराणों में सृष्टि की उत्पत्ति तथा धर्मशास्त्र सम्बन्धी विषयों[1] का विवेचन ही उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय था । नारदीय पुराण[2] में भी वामन पुराण में कूर्म-कल्प आख्यान की विद्यमानता एवं दससहस्र श्लोकों की संख्या को स्वीकार किया गया है जो कि मत्स्य एवं स्कन्द पुराण के उद्धरणों से बहुत कुछ साम्य रखती है । इन पुराणों के अनुसार ब्रह्मा को वामन पुराण के वक्ता के रूप में स्वीकरण तथा इसमें बृहत्कल्पाश्रयान धर्मों का उल्लेख मत्स्य एवं अग्निपुराण[3] में वर्णित वामन-पुराण विषयक विवरणों से साम्य रखता है । अतः 'कूर्मकल्पानुग', 'कूर्मकल्पसमा-ख्यान' तथा 'बृहत्कल्पाश्रयान् धर्मान्' शब्दों का आशय यही माना जा सकता है कि पुराणों में कूर्म-कल्प सम्बन्धी आख्यान अथवा धर्मादि का होना आवश्यक है न कि कूर्म कल्प अथवा बृहत्कल्प का वर्णन । जैसा कि वामन पुराण में कूर्मकल्प-सम्बन्धी आख्यान एवं धर्मों का वर्णन किया गया है न कि कूर्मकल्प का उल्लेख ।

---

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/6/19/13; आदि में कुछ पुराण् श्लोकों का उदाहरण धर्मशास्त्र सम्बन्धी पुराणगत विषयवस्तु के मुख्य विषय को प्रतिपादित करता है ।

2. "शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुराणं वामनाभिधम् ।
   त्रिविक्रमचरित्राढ्यं दशसहस्रसंख्यकम् ।
   कूर्मकल्पसमाख्यानं वर्गत्रयकथानकम् ॥"

   नारदीयपुराण, 1/105/1-2.

3. "यत्राह नारदो धर्मान् बृहत्कल्पाश्रयाणि च ।
   पंचविंशति सहस्राणि नारदीयं तदुच्यते ॥"

   मत्स्यपुराण, अध्याय 53 एवं

   अग्निपुराण, अध्याय 272, श्लोक 2.

अतः एस0डी0 गुलाम्कर[1] का यह मत है कि वर्तमान वामन पुराण में कूर्मकल्पादि का अभाव न होने के कारण इसको स्वच्छन्दतापूर्वक महापुराण की कोटि में अन्तर्भावित करना सर्वथा समीचीन है।

डा0 हाजरा द्वारा प्रस्तुत महापुराणों की 23 सूची में केवल चार सूचियों में ही वामन उपपुराण का उल्लेख मिलता है, शेष उन्नीस सूचियों में 'वामन' के स्थान पर 'मानव उपपुराण' का उल्लेख किया गया है।

आनन्द स्वरूप शास्त्री के अनुसार डा0 हाजरा ने जिन चार सूचियों में वामनपुराण का संकेत किया है उनमें से दो सूचियाँ कूर्म पुराण से उद्धृत की गई हैं इनमें प्रथम सूची कूर्म कल्प के वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण से तथा दूसरी सूची नृसिंह वाजपेयी के 'नित्याचार प्रदीप' भाग 1, पृष्ठ 19 से उद्धृत है, परन्तु कूर्मपुराण के तीन उप-पुराण सूचियों में जो रघुनन्दन के 'मलमासतत्त्व' तथा हेमाद्रि के 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में उद्धृत है, उनमें 'वामन' के स्थान पर 'मानव' का ही उल्लेख प्राप्त है। अतः शास्त्री जी का निष्कर्ष है कि डा0 हाजरा ने जिन चार सूचियों में वामन पाठ का संकेत किया है वह 'मानव' का ही त्रुटिपूर्ण पाठ प्रतीत होता है।[2] स्वयं डा0 हाजरा ने भी वामन पाठ की शुद्धता पर सन्देह व्यक्त किया है।[3] उनका अनुमान है कि मानव के स्थान पर वामन नामोल्लेख होना इस आशय की ओर संकेत करता है कि या तो लोग उक्त उपपुराण के वास्तविक शीर्षक से अथवा पुराण के मूल विषयवस्तु से अनभिज्ञ रहे होंगे जिसके फलस्वरूप उक्त दोनों नाम प्रारम्भिक अवस्था में अदल-बदल कर उपपुराण सूचियों में आकलित कर दिये

---

1. गुलाम्कर, एस0डी0, पुराण पत्रिका, भाग 12, पृष्ठ 143, जनवरी 1970.
2. आनन्दस्वरूप गुप्त, वामनपुराण, हिन्दी अनुवाद, भूमिका, पृ0 14.
3. आर0सी0 हाजरा, स्टडीज इन दि उपपुराणाज, भाग 2, पृ0 312, तथा भाग 1, पृ0 413.

गये। इस प्रसंग में विशेष विचारणीय तथ्य यह भी है कि उक्त-उपपुराण सूचियों में वामन पुराण के अतिरिक्त नारदीय, ब्रह्माण्ड, गरुड़, कूर्म तथा भागवत पुराणों को भी सम्मिलित किया गया है।

डा० हाजरा इस तथ्य पर विशेष बल देते हुए संकेत करते हैं कि उपपुराण के रूप में उपर्युक्त किसी भी पुराण की न तो कोई पाण्डुलिपि उपलब्ध है और न ही उनके कथनों के उद्धरण परवर्ती किसी ग्रन्थ में उद्धृत है, अतः 'वामन' नाम के उपपुराण के अस्तित्व को स्वीकार करना ही वास्तविक तथ्यों के आलोक में असमीचीन है। जहाँ तक 'मानव उपपुराण के अस्तित्व का सम्बन्ध है, इसकी भी कोई पाण्डुलिपि आज तक उपलब्ध नहीं हो पायी है। इसके अतिरिक्त इस पुराण का कोई भी उद्धरण कालान्तर के प्रबन्धों में भी कहीं प्राप्य नहीं है। अतः इस पुराण के विषय में निश्चित रूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु 'मानव उपपुराण' वामन उपपुराण की अपेक्षा अस्तित्व की दृष्टि से अधिक संभाव्य है क्योंकि इस उपपुराण का उल्लेख अधिकांश उपपुराण सूचियों में उपलब्ध है।

वर्तमान वामन-पुराण के प्रतिपाद्य-विषयवस्तु, श्लोक संख्या तथा लक्षणात्मक विवरणों के आधार पर डा० हाजरा ने इस बात का संकेत किया है कि इसे उपपुराण के रूप में स्वीकार करना ही विशेष रूप से उपयुक्त प्रतीत होता है।[1]

अतः उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गरुड़ तथा बृहद्धर्म पुराणों[2] की सूचियों में महापुराण के रूप में अनुल्लिखित एवं शेष सूचियों में सम्मिलित नामोल्लेख के समक्ष ऐसा कोई भी महत्वपूर्ण साक्ष्य नहीं है। जिससे कि वामन पुराण को

---

1. आर०सी० हाजरा, 'पौराणिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स' पृष्ठ 77.
2. बृहद्धर्म पुराण, 1/25/20-22.

महापुराण के रूप में स्वीकार न किया जाये । वस्तुतः वामनपुराण की सांस्कृतिक विषयवस्तु किसी काल विशेष में (गरुड़ एवं बृहद्धर्मपुराण काल में) अन्य पुराणों की तुलना में समसामयिक नहीं प्रतीत हुई होगी जिससे इस पुराण का महत्व कम हो जाने से इसे महापुराण ~~का महत्व कम हो जाने से इसे महापुराण~~ की कोटि से हटाकर उपपुराण की सूची में सम्मिलित कर दिया गया होगा । परन्तु कूर्मपुराण की दोनों सूचियों में वामनपुराण को महापुराण एवं उपपुराण दोनों ही रूपों में आख्यात होने से इस पुराण की महापुराणता स्वतः सिद्ध हो जाती है । लेकिन एक ही पुराण को महापुराण और उपपुराण दोनों ही रूपों में क्यों वर्णित किया गया अथवा वामन पुराण के अतिरिक्त कोई अन्य वामन उपपुराण भी था, यह एक विचारणीय प्रश्न है, जिसका निर्धारण आवश्यक है ।

प्रस्तुत प्रसंग में डा० हाजरा द्वारा प्रस्तुत सेकत उपपुराण सूचियों के परिशीलन से यह समस्या और भी जटिल बन जाती है ।

इसी प्रकार उक्त पुराणों में वामन पुराण की दस सहस्त्र श्लोक संख्या की अप्राप्ति सम्बन्धी विषय को भी पौराणिक साक्ष्यों के आलोक में सुलझाया जा सकता है । वर्तमान वामन-पुराण में विभिन्न आख्यानों के प्रतिपाद्य विषय एवं विषयक्रम की जो स्थिति प्राप्त है, वह नारदीय पुराणोक्त वामनपुराण के वर्णनक्रम के अनुरूप ही है । नारदीय पुराण[1] में वामनपुराण की वक्ता पुलस्त्य एवं श्रोता नारद कहे गये हैं । इस पुराण में वामन पुराण के उत्तरभाग (बृहद्वामन) की चारों संहिताओं, यथा - माहेश्वरी, भागवती, सौरी तथा गाणेश्वरी, की कुल श्लोक संख्या चार सहस्त्र निर्दिष्ट है, जो अब अप्राप्य है ।[2] नारदीय पुराण

---

1. नारदीय पुराण, 1/105/3-17.
2. वही, 1/105/3-4.

के अनुसार वामन पुराण की श्लोक संख्या 6 सहस्त्र मानी गई है जो उपलब्ध वामन पुराण की श्लोक संख्या से साम्य रखती है । अतः नारदीय पुराण के साक्ष्य के आधार पर वर्तमान वामन पुराण को महापुराण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।

वामनपुराण के इस पुनर्संस्करण में युगीन परिस्थितियों के अनुरूप 'कूर्मकल्प' के स्थान पर 'कल्पाश्रयी धर्म' को स्थान देकर उसे पुलस्त्य एवं नारद संवाद के साथ प्रस्तुत किया गया है । अतः वामन पुराण में जिन धर्मों तथा आख्यानों का वर्णन किया गया है, वे कूर्मकल्प से इतर नहीं है । नारदीय पुराण में वामन पुराण की जो विषय-सूची दी गई है, उन विषयों का उसी क्रम में उल्लेख वर्तमान वामनपुराण में प्राप्त है । अतएव उपलब्ध वामनपुराण का ना0 नारदीय पुराणोक्त वामनपुराण के लक्षणों से भिन्न प्रतीत नहीं होता जिससे 'वर्तमान वामन पुराण को निःसंकोच महापुराण की कोटि में रखना प्रामाण्यतः सिद्ध है ।

प्रस्तुत शोध विषय की अपेक्षा एवं औचित्य

यद्यपि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के पुराण वाङ्मय को अप्रामाणिक अथवा अर्धप्रामाणिक स्वीकार किया है, उनकी यह मान्यता ऐतिहासिक साक्ष्य की दृष्टि से है, परन्तु भारतीय चिन्तन और आलोचना की दृष्टि से पुराण ही एक मात्र ऐसे ग्रन्थ है जिनसे इस देश की ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों के ज्ञान के साथ ही साथ प्राचीन राजवंशों की स्थिति का भी ज्ञान हो पाता है । ऐसी स्थिति में कोई भी भारतीय पुराणों की सत्ता, प्रामाणिकता और ऐतिहासिकता पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगा सकता ।

प्रस्तुत शोध की सबसे बड़ी आवश्यकता यही है कि यह उपर्युक्त दृष्टियों

से सम्पन्न किया जाने वाला एक अनुसंधानात्मक प्रयास है, जैसे - 'शंकराचार्य द्वारा व्याख्यात दश उपनिषदों' को उपनिषद् वाङ्मय में विशेष महत्व दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार विशाल पुराण वाङ्मय में भी वैष्णव महापुराणों को विशेष गौरव प्राप्त है, उनमें भी वामन पुराण इसलिए विशेष महत्व का है, क्योंकि इसका सम्बन्ध भगवान के उन प्राचीन अवतारों में से एक के साथ है जो कि मत्स्य, कूर्म, और वाराह की तरह पशु योनि से सम्बद्ध न होकर वामन अर्थात् मानव रूप से सम्बद्ध है ।

इस प्रकार वामनपुराण पर नई दृष्टि से शोध कार्य करने का औचित्य सिद्ध हो जाता है ।

वामन पुराण से सम्बद्ध, प्रस्तुत शोध का सबसे बड़ी औचित्य इस ग्रन्थ रत्न में तिरोहित विविध सूचनाओं और मानवजीवनोपयोगी शाश्वत आदर्शों को प्रकाशित करना भी है । प्रायः प्रत्येक पुराण अपने अधिष्ठित देवता के कारण इसी के चरित से सम्बद्ध है, जैसे - मत्स्य में, मत्स्यावतार की कथा तो कूर्मपुराण में कूर्मावतार की कथा आदि । परन्तु पुराणों की इस प्रधान कथा के साथ ही साथ जो हजारों उपाख्यान अथवा आयान्तर वृत्तान्त उनमें प्रतिपादित हुए हैं, उनका सम्बन्ध सम्पूर्ण विश्व मानवता से है । तन्त्र, औषधि विज्ञान, रत्न-विज्ञान, पशु-चिकित्सा, अभिचार-कर्म, विष-वैद्यकी और विभिन्न ज्ञान-विज्ञान का रहस्य इन पुराणों में कथाओं के माध्यम से अनुस्यूत है । उस दृष्टि से भी वामन पुराण के अध्ययन का औचित्य स्वतः सिद्ध है ।

------:0:------

द्वितीय अध्याय

मूल कथानक - विवेचन

कथावस्तु का शास्त्रीय स्वरूप

वामन पुराण के मूल कथानक का सविस्तृत विवेचन करने से पूर्व कथावस्तु के शास्त्रीय स्वरूप पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है क्योंकि भारतीय वाङ्मय में श्रव्य काव्य की परिधि में परिगणित रामायण, महाभारत एवं पुराण आदि की प्रधान संपदा वर्णना (वर्णशैली) रही है । यही वर्णना सुख दुःखात्मक लोक-चरित की बहुविधता का संवेदनात्मक प्रतिफलन होने के कारण ही मानव के जीवन-सागर में एक हिलोर उत्पन्न कर देती है । वर्णन शैली के प्रधान तत्वों में कथा-वस्तु को काव्य अथवा पुराण का शरीर कहा गया है जो कथा अथवा कथानक का पर्याय है । स्थूल रूप से तो ये दोनों सम है लेकिन सूक्ष्मतया भिन्न है । कथा और कथावस्तु का सम्बन्ध किसी न किसी कहानी से होता है चाहे वह ऐतिहा-सिक हो, पौराणिक हो अथवा सामाजिक । पौराणिक कथाओं में मानव के मानस भावों से सम्पन्न, विभिन्न अवस्थाओं से युक्त, लोकवृत्त का चित्रण किया जाता है । इन्हीं कथाओं को कथावस्तु के रूप में स्वीकार कर अनेक प्रसंगों के साथ जोड़कर पुराणकार इसे बृहत्तर रूप प्रदान करता है ।

सामान्य कहानियों के लिए तो हम कथा शब्द का व्यवहार करते है लेकिन जब कथावस्तु शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि इसमें कोई ऐसा प्रसंग अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य विद्यमान है जो हम पाठकों के मन में जिज्ञासा उत्पन्न कर रही है । इस प्रकार कथा के माध्यम से जब किसी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक विषय की चर्चा की जाती है तो हम स्पष्टतः यह कह सकते हैं कि इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक अथवा पौराणिक है ।

कथावस्तु एक उच्चस्तरीय साहित्यिक संगठन है । इसमें रचनाकार किसी घटना को सीधे-सादे-ढंग से प्रस्तुत न करके उसको समुचित व्यवस्था, क्रम-विधान

एवं विभिन्न प्रसंगों के साथ प्रस्तुत करता है । जैसे पुराणों में कथाओं को कहने वाला कौन होगा इसका निर्णय भी पुराणकार को ही करना पड़ता है । इसी कारण सामान्य कहानी और कथा में जो अन्तर दिखलाई पड़ता है उसका मुख्य कारण कथा का कथावस्तु रूप में परिवर्तन है ।

कथावस्तु में घटनाओं का सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित वर्णन प्रस्तुत किया जाता है जिसमें कारण और उससे उत्पन्न परिणाम पर विशेष बल दिया जाता है । जिस प्रकार कुम्हार गीली मिट्टी के लोंदें को चाक पर रखकर उसे सुन्दर एवं आकर्षक खिलौनों में बदलकर उपयोगी बना देता है उसी प्रकार पुराणकार कथा को काँट-छाँट कर सजा-सवाँरकर कथावस्तु का रूप प्रदान करता है । इससे स्पष्ट है कि कथा, वस्तु का जन्मदाता व नींव है अथवा यमले रूपी कथा का वस्तु प्रस्फुटित पुष्प है जैसे आलोचित पुराण में वर्णित बलि-वामन की कथा में भगवान वामन का प्रादुर्भाव तत्पश्चात् दैत्यराज बलि का पातालगमन, यह तो हुई वामन पुराण की मूल कथावस्तु । कथा का रूप कथावस्तु में पूर्णतः सुरक्षित रहता है लेकिन 'कारण' इतना प्रभावशाली हो जाता है कि वह समय को आच्छादित कर लेता है । उदाहरणार्थ - प्रस्तुत वामन पुराण में भगवान विष्णु के देव-हितार्थ वामन रूप में अवतरित होकर के राजा बलि से तीन पग भूमि की याचना कर सम्पूर्ण त्रैलोक्य को आक्रान्त कर अन्ततः बलि को पाताल भेजा,[1] इस घटना क्रम में समय (याचना) का महत्व है लेकिन भगवान के वामन रूप छद्म वेष के कारण बलि पराजित होते हैं । अतः इसमें वामन रूप (कारण) का महत्व समय (याचना) से अधिक बढ़ जाता है । अतः कारण पर विशेष बल देने के कारण ही कथावस्तु का पर्याप्त विस्तार सम्भव हो पाता है । समय में विस्तार नहीं

---

1. डा० एस०पी० शर्मा - नाटक की परख, पृ०सं०, पृ० 275.

लाया जा सकता लेकिन कारणों में विस्तार की कोई सीमा नहीं है। पुराणकार पुराण का क्षेत्र जितनी स्वीकृति देता है, वह कारणों को उतनी ही विस्तृति प्रदान करता है। जैसे प्रस्तुत वामन पुराण में वामन की याचना स्व समय। तीन पग भूमि ही है जिसको संकल्प के बाद बढ़ाना सम्भव नहीं, लेकिन भगवान वामन के विराट् रूप अधिक से अधिक विस्तार प्रस्तुत किया जा सकता है। जिसको पुराणकार महर्षि व्यास प्रस्तुत पुराण के क्षेत्र के परिमाप से प्रस्तुत किया जाय।

कथा और कथावस्तु के प्रधान भेद से यदि हम आलोचित पुराण के 'राजाबलि का पाताल गमन' प्रसंग को लें और उसे एक कहानी मान लें तो हम यह जानने की इच्छा रखेंगे कि इसके बाद क्या हुआ ? और यदि इसे कथावस्तु मान लें तो हमारे मन में यह प्रश्न उठेगा कि ऐसा क्यों हुआ ? यों इससे हमें कारण प्रधान कथावस्तु का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।

पौराणिक घटनायें प्रायः समयक्रम में व्यवधान उपस्थित होने पर ही घटती है जैसे राजा बलि के तीन पग भूमि देने का संकल्प कर लिए जाने पर भगवान वामन का विराट् रूप ग्रहण करना एवं त्रिविक्रम रूप से सम्पूर्ण लोक को आक्रान्त कर अन्त में बलि को पाताल लोक भेजना यह भी समय में अर्थात् याचना के गर्भ में छिपा हुआ रहस्य है। इस प्रकार कथावस्तु में रहस्य का होना भी अति आवश्यक है।

स्मरण शक्ति और ज्ञान का भी कथावस्तु से निकट सम्बन्ध है क्योंकि जब तक किसी वस्तु का स्मरण नहीं होता तब तक उस वस्तु का पूर्ण ज्ञान भी हमें नहीं हो सकता जैसा कि यदि कुछ समय बीत जाने के कारण हम यह भूल जाये कि वामन पुराण में भगवान विष्णु वामन रूप में अवतरित हुए थे, तो हम यह कभी नहीं जान सकते कि राजा बलि के पाताल गमन का क्या कारण है।

इसी प्रकार कलात्मकता भी कथावस्तु का एक महत्वपूर्ण अंग है । यदि कथावस्तु का प्रारम्भ (निर्माण) कलात्मकता के साथ होता है तो रचना (कृति) का अन्तिम निष्कर्ष आरम्भ की वर्णन शृंखलाओं एवं रहस्यमय संकेतों तक ही सीमित न रहकर कृति में नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देता है ।

इसी प्रकार कथावस्तु में घटना-सम्बद्धता, रुचिरता, कल्पना, संक्षिप्तता, सोद्देश्यता आदि का होना भी अपेक्षित है । 'कार्य' का भी कथावस्तु से घनिष्ट सम्बन्ध है । दोनों आपस में इस तरह गुंथे हैं कि उनको एक दूसरे से अलग कर पाना कठिन है जैसे - वामन पुराण की कथावस्तु से भगवान वामन के अवतरण, बलि के अश्वमेध यज्ञ, बलि की यज्ञशाला में वामन का प्रवेश एवं तीन पग भूमि की याचना, वामन का विराट् रूप ग्रहण कर त्रैलोक्य को नापना आदि कार्यों को अलग करना कठिन है । अतः स्पष्ट है कि कार्य ही कथावस्तु का आधार है ।

आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथा

कथावस्तु में क्रमबद्धता और प्रभावक्षमता लाने के लिए संस्कृताचार्यों ने अधिकारी की दृष्टि से कथावस्तु के दो भेद किये हैं -

1. आधिकारिक कथावस्तु
2. प्रासंगिक कथावस्तु

इन दोनों (आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथा) की समन्वय योजना की जाती है । अतः इसके अन्तर्गत इनकी (इन कथाओं की) सुस्पष्टतम अभिव्यक्ति होनी चाहिए ।

आधिकारिक इतिवृत्त[1] ।कथा। फलोन्मुख होता है अर्थात् ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि के द्वारा जिस कार्य व्यापार का अवसान फल-प्राप्ति के रूप में होता है वही आधिकारिक वृत्त होता है क्योंकि आधिकारिक वृत्त का सीधा सम्बन्ध मुख्य पात्र ।नायक। से होता है अतः समस्त कार्य-व्यापार का फल-भोक्ता होने के कारण यही वृत्त आधिकारिक है । घटना प्रवाह की सहजता रोचकता तथा प्रासंगिक कथाओं की अन्विति करना आधिकारिक कथा का उल्लेखनीय गुण है । यथा - वामन-पुराण में पराजित देवताओं के अनुनय पर भगवान विष्णु का देवमाता अदिति के गर्भ से वामन रूप में अवतीर्ण होकर दैत्यराज बलि की यज्ञशाला में प्रवेश कर स्वयं तीन पग भूमि की याचना कर सम्पूर्ण त्रैलोक्य को आक्रान्त करना, तदनन्तर बलि को सुतल लोक भेजकर देवराज इन्द्र को स्वर्ग लोक प्रदान करना ही आधिकारिक ।मूल। कथा है ।

इस प्रकार के आधिकारिक कथा के अतिरिक्त महाकाव्य, उपन्यास एवं नाटकों की भाँति पुराणों में भी प्रसंगानुसार अन्य संक्षिप्त घटनाओं का समावेश रहता है जिसे प्रासंगिक अथवा आनुषंगिक कथा कहते हैं । कथावस्तु में विचित्रता और रोचकता लाने में इन घटनाओं का विशेष योगदान होता है । ये कथायें गौण होती हैं और मूल कथा (आधिकारिक कथा) की उपकारक होती है ।

प्रासंगिक कथायें मूल ।आधिकारिक। कथा को फलाभिमुख होने में सहायता

---

1. "अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ।।"

आचार्य शेषराज शर्मा - 'साहित्य दर्पण' 6/43, पृष्ठ 409.

प्रदान करती है । साथ ही प्रसंगवश अपने स्वार्थ की सिद्धि में भी तत्पर रहते हैं[1] - जैसे प्रस्तुत आलोचित पुराण में बलि-वामन की कथा तो आधिकारिक है लेकिन प्रसंगानुसार आये हुए अदिति और प्रह्लाद की कथा प्रासंगिक है ।

कोई भी इतिवृत्त मूलतः न तो आधिकारिक होता है और न ही प्रासंगिक । उसे यह दिव्य रूप तो रचनाकार अथवा कवि-कल्पना द्वारा प्राप्त होता है परन्तु कवि भी इतना स्वतंत्र नहीं होता कि वह जब चाहे तब इच्छानु-सार आधिकारिक व प्रासंगिक कथावस्तुओं की कल्पना करें । फलोत्कर्ष अथवा आधिकारिक कथा की कल्पना औचित्यमूलक होती है । प्रासंगिक कथा की योजना सर्वत्र आवश्यक भी नहीं होती क्योंकि अपने कार्यसिद्धि में नायक जहाँ पर अन्य की सहायता की अपेक्षा करता है वहीं प्रासंगिक कथा की योजना की जाती है ।

विस्तार की दृष्टि से प्रासंगिक इतिवृत्त को दो भागों में विभक्त किया जाता है -

§1§ पताका §2§ प्रकरी

<u>पताका</u>[2] का विस्तार कथावस्तु के विभिन्न क्षेत्रों में होता है अथवा जिस

---

1. 'प्रासंगिकं परार्थस्य स्वार्थोयस्य प्रसंगतः ।' - दशरूपकम्, हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रथम प्रकाश, श्लोक सं0 - 13
   एवं
   द्रष्टव्य, 'साहित्यदर्पण' - आचार्य शेषराज शर्मा, पृष्ठ 410, 6/44.

2. 'व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते ।'
   पूर्वोक्त साहित्यदर्पण, 6/67, पृष्ठ 425.

प्रासंगिक कथावृत्त की विशेष पुराण, उपन्यास अथवा नाटक आदि में निरन्तर अन्विति रहती है उसे 'पताका' कहते हैं। यह आधिकारिक कथा अथवा मुख्य पात्रों से अनिवार्यतः सम्बद्ध रहता है जैसे - रामकथा में राम-रावण युद्ध आधिकारिक वस्तु है और सुग्रीव व विभीषण राम के उपकारक होने पर स्वयं भी उपकृत है और इनकी अन्विति निरन्तर बनी रही है। इसी प्रकार प्रस्तुत वामन पुराण में भगवान वामन द्वारा बलि से तीन पग भूमि की याचना कर उससे सर्वस्व छीन लेना तो आधिकारिक (मूल) वस्तु है और इस आधिकारिक वस्तु के मुख्य पात्रों अर्थात् वामन और दैत्यराज बलि से अनिवार्यतः सम्बद्ध होने के कारण भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद 'पताका' स्वरूप है। (क्योंकि जहाँ एक ओर प्रह्लाद 'भगवान विष्णु (वामन) के श्रेष्ठ भक्त हैं वहीं दूसरी ओर वे असुरश्रेष्ठ के पूज्य पितामह भी हैं)। जिस प्रकार पताका आधिकारिक कथा का उपकारक तो होता ही है पर साथ ही उसके स्वयं का भी महत्व होता, उसी प्रकार वामन पुराण के पताका स्वरूप प्रह्लाद भगवान वामन के सहयोगी होने के साथ-साथ स्वयं भी भगवान् विष्णु के श्रेष्ठ भक्त हैं।

'प्रकरी'[1] का विस्तार स्वल्प होता है अर्थात् ये शीघ्र ही समाप्त हो जाने वाली प्रासंगिक कथावृत्त हैं। ये मुख्यतया परार्थवादी होती हैं - प्रस्तुत वामन पुराण में वामन द्वारा बलि-बन्धन प्रसंग में बलिपुत्र बाण की कथा, बलिशुक्र संवाद में कौशकारसुत की कथा एवं धुन्धु - वामन (त्रिविक्रम) आख्यान में वरुण गोत्रोत्पन्न प्रभास पुत्र मेत्रभास।

---

1. 'प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥'

साहित्यदर्पण, 6/68/, पृष्ठ 426.

कथावस्तु के उपर्युक्त भेदोपभेद के अतिरिक्त फलागम के आधार पर हम इसको सुखान्त एवं दुःखान्त के रूप में भी विभाजित कर सकते हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथा में बुद्धि की कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान होता है ।

अवस्थायें

कथा-गति में सन्तुलन बनाये रखने के लिए कथावस्तु में अपेक्षित गुणों की व्यवस्था हेतु कार्य की पाँच अवस्थायें बतलाई गई हैं -

1. आरम्भ, 2. यत्न 3. प्राप्त्याशा,
4. नियताप्ति एवं 5. फलागम ।

देवासुर संग्राम में पराजित देवताओं को महर्षि कश्यप एवं माता अदिति के साथ ब्रह्मा के शरण में जाना, तदनन्तर ब्रह्मा के उपदेश से देवहितार्थ अदिति द्वारा घोर तपस्या किया जाना, तदनन्तर तपस्या से प्रसन्न हुए भगवान विष्णु का प्रकट होकर अदिति को वरदान प्रदान करना और देवताओं के कार्य सिद्धि हेतु देवमाता (अदिति) के गर्भ से वामन रूप में अवतरित होने की उत्सुकता ही कार्य की आरम्भावस्था[1] है ।

इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु भगवान-विष्णु विभिन्न प्रकार का व्यापार (कार्य) करते हैं । अदिति के गर्भ से वामन रूप में अवतीर्ण होकर एवं ब्रह्मा द्वारा स्तुत्य होकर राजा बलि की यज्ञशाला में प्रवेश कर बलि से तीन पग भूमि की

---

1. 'भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये' ।।
   - साहित्यदर्पण, 6/71, पृ0 427.

याचना करना आदि ये सभी व्यापार भगवान वामन के प्रयत्न सूचक है। कार्य की यह दूसरी अवस्था ही 'प्रयत्न'[1] के नाम से पुकारी जाती है।

याचना के पश्चात् बलि की दानशीलता का स्मरणकर उससे तीन पग भूमि प्राप्त करने की आशा और साथ ही न प्राप्त होने का संदेह भी बना रहता है। इस प्रकार फल प्राप्त करने की जो आशा बनी होती है वही कार्य की तीसरी अवस्था अथवा 'प्राप्त्याशा'[2] कहलाती है।

जहाँ फल प्राप्त होने की सम्भावना तो होती है लेकिन वह विघ्न एवं अपाय दोनों की आशंकाओं से घिरी होती है। अनेक उपाय करने से जब विघ्न बाधायें हट जाती है और व्यक्ति को यह विश्वास हो जाता है कि वह कार्य-सिद्धि में सफल होगा तब उस कार्य की चौथी अवस्था 'नियताप्ति'[3] होती है यथा – आलोचित पुराण में भगवान वामन द्वारा तीन पग भूमि की याचना करने पर राजा बलि द्वारा वामन रूप धारी ब्रह्मचारी को भगवान विष्णु के निकट भी याचना स्वीकार[4] कर लिए जाने पर फल प्राप्त होने की संभावना तो होती

---

1. 'प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारो तित्वरान्वितः'।
   – पूर्वोक्त, साहित्यदर्पण, 6/72, पृ0 427.
2. 'उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः'।।
   – पूर्वोक्त, 6/72, पृ0 428.
3. 'अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता।'
   –पूर्वोक्त, 6/73, पृ0 428.
4. वामनपुराण, 65/14.

है लेकिन शुक्राचार्य के द्वारा बलि को दान देने से मना करने रूप अपाय (विघ्न) उपस्थित हो जाने एवं शुक्राचार्य द्वारा मना किये जाने और शापित होने के बाद भी बलि का अपने वचनों पर अडिग रहने रूप उपाय से जब पूर्व उपस्थित विघ्न हट जाता है तो भगवान वामन को यह पूर्ण विश्वास हो जाता है कि वह बलि से तीन पग भूमि प्राप्त करने में अवश्य ही सफल होंगे । कार्य की यही चौथी अवस्था नियताप्ति है और अन्त में जैसे ही राजा बलि कमण्डलु के जल से तीन पग भूमि दान करने का संकल्प करते हैं उसी समय भगवान वामन तीनों लोकों को नापने के लिए अपने सर्वदेवमय विराट् रूप[1] धारण कर सम्पूर्ण लोक को आक्रान्त कर, बलि को पाताल भेजकर देवराज इन्द्र को पुनः त्रिलोकी का राज्य प्रदान कर देते हैं । इस प्रकार समस्त विरुद्ध स्थितियों के समाप्त होने और फलप्राप्ति की निश्चित स्थिति आने के बाद जब कार्य लक्ष्य की सिद्धि हो जाती है तब फल प्राप्ति होने से कार्य की अन्तिम अवस्था 'फलागम'[2] होती है ।

कार्यावस्था का यही क्रम प्रायः प्रत्येक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक कथाओं अथवा अ नाटकों की कथावस्तु अथवा मूल कथानक के विषय में चरितार्थ होती है । यद्यपि ये अवस्थायें काल और स्वभाव की दृष्टि में तो भिन्न होती है, परन्तु निश्चित फल को दृष्टि में रखकर एक भाव से सम्बद्ध होकर ही इनका विन्यास होता है । अवस्थाओं का यह परस्पर समागम ही फल का हेतु होता है ।

कार्य की दशा का यह विश्लेषण नितान्त सुन्दर एवं व्यावहारिक होने

---

1. वामन पु0 - 65/18.

2. "सा वस्था फलयोगः स्यादः समग्रफलोदयः" ।।

   - पूर्वोक्त, साहित्यदर्पण - 6/73, पृ0 429.

के साथ-साथ गूढ़ मनोवैज्ञानिकता का पर्याप्त सूचक है । इससे स्पष्ट है कि मानव को अपने जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए विभिन्न विरुद्ध घटनाओं के साथ संघर्ष करना पड़ता है जो कि कथावस्तु का आवश्यक अंग है । यह संघर्ष बाह्य घटनाओं में तो अत्यन्त स्थूल होता है लेकिन मानसिक वृत्तियों पर जब यह संघर्ष दृष्टिगोचर होने लगता है तो अत्यन्त सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है । संघर्ष जितना सूक्ष्म होगा कथावस्तु उतना ही प्रभावशाली अन्तरंग एवं प्रख्यात होगी जैसा कि कालिदास के प्रसिद्ध 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक में काम एवं धर्म का, तथा कर्त्तव्य एवं स्नेह का परस्पर संघर्ष और अन्त में धर्म की विजय द्वारा नाटक का महत्त्व और औदार्य प्रस्फुटित होता है ।

कालिदास के इस नाटक की तरह ही वामन पुराण में भी असुर भाव पर दैव - धर्म की प्रभुता का वर्णन किया गया है अर्थात् काम (अहंकार) रूप बलि के साथ धर्म रूप भगवान वामन के परस्पर संघर्ष का वर्णन किया गया है जिसमें छद्म-वेशधारी भगवान विष्णु (वामन) दैत्यराज बलि से तीन पग भूमि की याचना कर अपने विराट् रूप से त्रैलोक्य को आक्रान्त कर लेने एवं बलि के वरुण पाशों से आबद्ध कर लिये जाने का वर्णन है लेकिन साथ ही यदि हम राजा बलि के गुणों की ओर दृष्टिपात करें, तो देखते हैं कि भगवान वामन द्वारा त्रैलोक्य को आक्रांत कर लिये जाने एवं वरुण पाशों के बाँधे जाने के बाद भी उदारचेता, राजा बलि की विनम्रता, धर्मनिष्ठा, श्रद्धा एवं भक्ति से पराजित भगवान विष्णु (वामन) को प्रसन्न हो बलि को सावर्णिक मन्वन्तर में इन्द्र बनने का वरदान प्रदान कर[1] व्याधि रहित निवास करने हेतु सुतल नामक पाताल[2] में भोग प्रदान करने के लिए विवश होना पड़ता जिससे इस पुराण की महत्ता एवं औदार्य स्पष्ट हो जाता है ।

---

1. वामन पुराण – 65/52
2. वामन पुराण – 65/54-55.

अर्थप्रकृति

पूर्वोक्त अवस्थाओं की भाँति कथावस्तु में अर्थप्रकृति का भी महत्वपूर्ण स्थान है । अर्थ का तात्पर्य है - प्रयोजन अथवा वस्तु का फल तथा प्रकृति का अर्थ है कारण अर्थात् फल-प्रयोजन की सिद्धि का कारण ।

कथावस्तु के फलरूप प्रयोजन की सिद्धि में अनेक आवान्तर घटनायें मिलकर व्यापार करती हैं तब कहीं जाकर फल की सिद्धि होती है । आवान्तर घटनाओं के इन्हीं व्यापार को अर्थप्रकृति कहते हैं ।

अवस्था का सम्बन्ध तो प्रधान रूप से नायक की मानसिक दशा एवं कथा के विकास क्रम से होता है लेकिन अर्थप्रकृति का सम्बन्ध कथावस्तु के उपादान कारणों अथवा बाह्य-प्रवृत्तियों से होता है जैसा कि - आलोचित वामन पुराण में भगवान विष्णु (वामन) को राजा बलि से त्रिलोकी को जीतकर देवराज इन्द्र को प्रदान करने रूप प्रयोजन में अनेक प्रकार के व्यापार करने पड़े जो उनके इष्ट-लक्ष्य की 'प्राप्ति' के साधन रूप है । शास्त्रीय भाव में इन्हीं को अर्थप्रकृति अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति को साधन कहा जाता है ।[1]

उपायमूलक ये अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं :-

1. बीज	2. बिन्दु	3. पताका,
4. प्रकरी	और	5. कार्य ।

---

1. रूपतत्त्व कलाशास्त्र

डा0 कान्ति चन्द्र पाण्डेय, पृ0 437.

__बीज__[1]

'बीज कथावस्तु का वह आरम्भिक अंश है, जो बिना किसी गम्भीर प्रयोजन अथवा संवेदना के ही घटता है और धीरे धीरे विस्तृत होता हुआ फल-रूप में समाप्त होता है जैसा कि प्रकृति से स्वतः उत्पन्न अल्पाकार बीज फलरूप में परिणत होता है ।

वामन पुराण का आरम्भ भी भगवान विष्णु की आराधना रूप बीज से होता है जो आधिकारिक (मूल) कथा से सर्वथा सम्बन्धित है । यथा -

"त्रैलोक्यराज्यमाक्षिप्य बलेरिन्द्राय यो ददौ ।
श्रीधराय नमस्तस्मै छद्म वामनरूपिणे ।।"

__बिन्दु__[2]

'बिन्दु' कथा का वह महत्वपूर्ण अंश होता है जो पौराणिक कथाओं अथवा नाट्य के इतिवृत्त के अवसान काल तक वर्तमान रहता है, चाहे भले ही इतिवृत्त अथवा आवश्यकतावश प्रयोजन का विच्छेद भी क्यों न हो जाये । तात्पर्य यह है कि अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर भी जो घटना उसे प्रधान कथा के साथ साथ जोड़ने वाली होती है उस हेतु को बिन्दु कहते हैं ।

जैसा वामनपुराण के दृष्टान्त को देखने से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत पुराण के कार्य की प्रयोजन शक्ति अर्थात् भगवान वामन (विष्णु) द्वारा राजा बलि को पराजित करने अथवा असुर शक्ति पर देवशक्ति की प्रभुता का लगभग प्रत्येक अध्याय में स्मरण किया गया है ।

---

1. "फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते" । - साहित्यदर्पण, 6/66, पृ0 424.
2. "अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्" ।। - पूर्वोक्त, 6/66, पृ0 424.

प्रस्तुत आलोचित पुराण के प्रारम्भ में भगवान विष्णु के स्मरण के पश्चात् जब देवर्षि नारद महर्षि पुलस्त्य से वामन से सम्बद्ध पुराण की कथा पूछते हुए भगवान विष्णु के पूर्व काल में वामन शरीर ग्रहण करने एवं दैत्यों में श्रेष्ठ प्रह्लाद के वैष्णव होने पर भी देवताओं के साथ संग्राम में प्रवृत्त होने का कारण एवं प्रजापति दक्ष की कन्या सती का भगवान शंकर की प्रिय पत्नी होने, सती द्वारा दक्षयज्ञ में देह त्यागकर पर्वतराज हिमालय के घर पुनः जन्म लेने एवं पुनः महादेव की पत्नी बनने के कारणों के साथ-साथ विविध तीर्थों, दानों एवं व्रतों के अनुष्ठान विधि से सम्बद्ध प्रश्न किये जाने पर[1] महर्षि पुलस्त्य उन घटनाओं का वर्णन प्रारम्भ करते हैं जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है ।[2]

आलोचित वामन पुराण के आरम्भिक अध्यायों में भगवान शिव से सम्बन्धित हरलीला प्रसंग[3] के पश्चात् नर-नारायण की तपश्चर्या के प्रसंग में काम की अपंगता का वर्णन[4], नर-नारायण के साथ प्रह्लाद का युद्ध[5], देवों से अंधक का युद्ध एवं हरिहर स्वरूप वर्णन[6] आदि वृत्तान्त को इसलिए वर्णित किया है क्योंकि भगवान शिव, विष्णु के ही समरूप हैं अर्थात् हर और हरि परस्पर अभिन्न हैं । शिव विष्णु और विष्णु में शिव सर्वथा विद्यमान हैं इनको एक पल भी एक दूसरे से

---

1. वामनपुराण - 1/2-8.
2. वही, 1/10.
3. वही, अध्याय 1 से 5, पृ0 1 से 21.
4. वही, 6/26-107.
5. वही, 7/45 से लेकर 8/31 तक
6. वही, 36/23-31.

भिन्न नहीं किया जा सकता जैसे नेत्र से ज्योति को । अतः इन प्रसंगों का मुख्य उद्देश्य भगवान शिव एवं विष्णु की एकरूपता को प्रदर्शित करना है । कथा का नायक फलानुसंधान उपाय में प्रवृत्त रहता है जैसा कि प्रस्तुत वामन पुराण में भगवान वामन (विष्णु) । मुख्य पात्र के निरन्तर प्रयत्नों का विस्तार जल की सतह पर डाले गये तेल बिन्दु की तरह होता है क्योंकि जिस प्रकार पानी की सतह पर डाला गया तेल पूरी सतह पर फैल जाता है उसी प्रकार कार्य के प्रयोजक शक्ति का स्मरण (भगवान विष्णु) सम्पूर्ण वामन पुराण में सर्वत्र विद्यमान हैं इसी कारण बिन्दु के नाम से पुकारते हैं ।

3. पताका

कथावस्तु के विकास की दृष्टि से 'पताका'[1] का महत्वपूर्ण स्थान है । प्रायः कथा के मुख्य पात्र के कार्य की सिद्धि उस व्यक्ति के सहयोग पर निर्भर करता है जो राजमंत्री अथवा अन्य भृत्यों के तरह मुख्यपात्र के आश्रित न होकर स्वतंत्र व्यक्ति होते हैं । वे या तो किसी निजी लक्ष्य सिद्धि केलिए अथवा बिना किसी महत्वपूर्ण निजी लक्ष्यसिद्धि के लिए ही कथा के प्रधान पात्र के सहयोगी बन जाते हैं यथा - आलोचित पुराण के प्रधान नायक भगवान वामन (विष्णु) हैं और देवमाता अदिति उनके मुख्य सहयोगी है क्योंकि राजा बलि से त्रिलोकी का राज्य प्राप्त करना देवमाता अदिति के सहयोग पर अवलम्बित है । भगवान की कार्य-सिद्धि हेतु अदिति भगवान को अपने गर्भ में धारण करती है और अपने देवपुत्रों के छीने गये राज्य को दैत्यों से पुनः प्राप्त कराने में भगवान को सहयोग प्रदान करती है और साथ ही अपने दुःखी देवपुत्रों के शोक को दूर कराने में अपनी घोर तपस्या का सुखद परिणाम भी प्राप्त करती है ।

---

1. 'पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम्' ।

   - साहित्यदर्पण, 6/67, पृ0 425.

किन्तु यदि हम आलोचित पुराण में राजा बलि को मूलकथा का नायक मानकर चलें तो भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि राजा बलि अपनी सत्यनिष्ठा, दानशीलता एवं धर्मभक्ति से देवों द्वारा भी सर्वथा अजेय रहे हैं और अन्त में भगवान वामन द्वारा सर्वस्व ग्रहण कर लिये जाने पर भी अपनी प्रतिज्ञा पर अडिग रहे जिससे प्रसन्न हुए भगवान द्वारा उन्होंने सावर्णिक मन्वन्तर में इन्द्र बनने का वरदान प्राप्त किया । भगवान में प्रगाढ़ भक्ति एवं निष्ठा की प्राप्ति राजा बलि को पितामह प्रह्लाद के सहयोग से प्राप्त होता है क्योंकि प्रह्लाद के शाप से दुःखी होकर ही राजा बलि ने देवेश्वर ।विष्णु। का स्मरण किया और तदनन्तर प्रसन्न हुए प्रह्लाद से हितकर उपदेश को ग्रहण कर बलि भग-वान के प्रति श्रद्धायुक्त एवं नतमस्तक हुए । अतः बलि के नायक पक्ष में प्रह्लाद 'पताका' कहा जा सकता है क्योंकि सत्यनिष्ठ बलि की पूजा को स्वीकार कर लिये जाने पर प्रह्लाद ने स्वयं भी विमुक्ति मार्ग को प्राप्त कर मन को ध्यानपथ-गामी बनाकर एवं जनार्दन देव के स्वरूप का चिन्तन कर अदिति के गर्भ में वामना-कृति ।भगवान। का दर्शन किया ।[1] जो उनका अपना लक्ष्य था । इस प्रकार बलि के सहयोग से प्रह्लाद निजी लक्ष्य को भी प्राप्त कर लेते हैं ।

किन्तु पौराणिक कथाओं में उदात्त चरित व्यक्ति अर्थात् देवों की ही प्रधान रही है अतः स्पष्ट है कि किसी भी पुराण में चाहे वह वामन पुराण हो, कूर्मपुराण में, ब्रह्म अथवा पद्म पुराण हो सभी के प्रधान नायक देवता ही रहे हैं । अतः वामन पुराण में भी भगवान वामन को प्रधान नायक माना जाना ही सर्वथा उचित है और उनके सहयोगी अदिति, प्रह्लाद आदि पताका' स्वरूप वर्णित किये गये हैं ।

---

1. वामनपुराण, स०मा०, 8/8-15.

इस प्रकार शास्त्रीय भाषा में उपकथानक (प्रासंगिक कथा) के नायक को जो कि मूल कथानक (कथावस्तु) के नायक को सहयोग प्रदान करता है 'पताका' कहते हैं। यह एक देशवर्ती होकर भी सम्पूर्ण कथावस्तु को प्रकाशित करता है तथा प्रधान का उपकारक होकर भी प्रधानवत् होता है।

<u>प्रकरी</u>

पताका के समान प्रकरी[1] भी प्रासंगिक इतिवृत्त की होती है लेकिन मूलकथा के किसी विशेष भाग में ही उसका उपभोग होता है। यह नितांत परार्थ और उपकारक होती है अर्थात् जब किसी उपकथानक का नायक बिना किसी निजी लक्ष्य के सिद्धि हेतु मूलकथानक के प्रधान नायक का सहयोगी बनता है तो उसे शास्त्रीय भाषा में 'प्रकरी' कहते हैं। जैसा कि वामन पुराण में प्रह्लाद-तीर्थ यात्रा-प्रसंग में धुन्धु एवं त्रिविक्रम आख्यान के अन्तर्गत आये हुए वत्स गोत्रोत्पन्न प्रभास नामक ब्राह्मण के पुत्र नेत्रभास का प्रसंग[2] 'प्रकरी' का कार्य करता है। क्योंकि राजा धुन्धु से त्रैलोक्य को जीतने के लिए भगवान विष्णु एक कल्पित कहानी में नेत्रभास को अपना बड़ा भाई बनाकर ही अपनी करुण दशा से भार्गव कुल को आदृभूत कर अपने तीन पग की याचना रूप कार्य की सिद्धि में सफल होते हैं अतः नेत्रभास की उपकथा प्रकरी का एक उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है यद्यपि नेत्रभास का अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं होता है जैसा कि रामकथा कथा में शबरी का चरित।

इस प्रकार यह 'प्रकरी' रूप उपकथा मूलकथा के एक ही स्थल पर वर्तमान होता है और उसी स्थल पर उसका अन्त भी हो जाता है। वामन पुराण में कुरुक्षेत्र निर्माण प्रसंग में संवरण एवं तपती का वृत्तान्त[3] भी प्रकरी का प्रसिद्ध

---

1. 'प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता' ।।-साहित्यदर्पण, 6/68, पृ० 426.
2. वामनपुराण्, 52/60.
3. वही, 22/26-61.

उदाहरण रहा है ।

कार्य

वह साध्य, जिसकी सिद्धि हेतु कथाओं में सामग्रियाँ एकत्र की जाती हैं कार्य[1] कहलाता है । यह अर्थप्रकृति का पाँचवा अंग है । इस प्रसंग में 'कार्य' शब्द का शास्त्रीय अर्थ उपर्युक्त साधन स्वरूप वे सभी वस्तुएँ हैं जिन पर नायक अथवा प्रमुख पात्र का निजी अधिकार होता है । बिना कार्य के कथा अथवा नाटक की रचना सम्भव नहीं क्योंकि प्रत्येक कथा का उद्देश्य प्रधान पात्र के उस विशिष्ट अंश को प्रदर्शित करना है जिसमें वह किसी लक्ष्य की सिद्धि करता है अतएव साधन रूप उन सभी कार्यों का उल्लेख करना आवश्यक है जो उसके लक्ष्य सिद्धि में सहायक हैं । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आधिकारिक वस्तु का प्रयोग प्रधान नायक, पताका नायक और प्रकरी नायक द्वारा होता है ।

वामन पुराण में भगवान विष्णु को राजा बलि से त्रैलोक्य को जीतकर इन्द्र को प्रदान करने रूप लक्ष्य सिद्धि हेतु देवमाता अदिति एवं कश्यप के साथ देवताओं का ब्रह्मलोकगमन, कश्यप द्वारा नारायण का स्तवन, विष्णु द्वारा देवों को वरदान, अदिति की तपश्चर्या अदिति द्वारा विष्णु की स्तुति, विष्णु द्वारा अदिति को वरदान प्रदान कर अदिति के गर्भ में स्थिति, तदनन्तर अदिति के गर्भ से वामनरूप में अवतरण, ब्रह्मा द्वारा वामनस्तुति, वामन का बलि के यज्ञ शाला कि हेतु प्रस्थान एवं राजा बलि से तीन पग भूमि की याचना तथा अपने सर्वदेव-मय विराट् रूप का प्रदर्शन कर तीन पग में त्रैलोक्य को नापना और अन्त में बलि

---

1. "समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम्" ।

   - साहित्यदर्पण, 6/70, पृ0 426.

2. वामनपुराण, सरो0 माहा0 अध्याय 3, 5, 6, 7, 8, 9 एवं 10.

को वरुण पाशों से आबद्ध कर पाताल लोक भेजना आदि अनेक साधन रूप कार्यों का उल्लेख किया गया है जो उनके लक्ष्य सिद्धि में सहायक है । इसके अतिरिक्त अन्य अचेतन सामग्रियों का प्रयोग भी लक्ष्यसिद्धि हेतु किया जाता है ।

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कथा में अर्थप्रकृति के पाँचों अंगों का पूर्णतया समावेश हो क्योंकि प्रायः कुछ कथाओं में नायक को बिना किसी सहयोगी के स्वतंत्र रूप से लक्ष्यसिद्धि करते हुए दर्शाया जाता है । उसमें पताका एवं प्रकरी नामक अर्थप्रकृतियों का समावेश नहीं होता । अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक कथावस्तु में चाहे वह पौराणिक कथा से सम्बन्धित हो अथवा सामाजिक उनमें बीज, बिन्दु एवं कार्य रूप अर्थप्रकृतियों का समावेश आवश्यक है ।

पंचसंधियाँ

संधि अर्थात् जोड़ कथा के विभिन्न कथानकों के अवसान व आरम्भ को परस्पर मिलाने वाला तत्व है । कथा का इतिवृत्त मनुष्य के शरीर स्वरूप होता है क्योंकि जिस प्रकार मानव शरीर का विभिन्न अंग भिन्न भिन्न ग्रंथियों से जुड़ा होता है उसी प्रकार कथा के प्रत्येक इतिवृत्त प्रारम्भ यत्न आदि कार्यावस्था एवं बीज, बिन्दु आदि अर्थप्रकृति रूप ग्रंथि से परस्पर जुड़ा होता है । जैसे - प्रस्तुत वामनपुराण में प्रह्लाद-तीर्थ यात्रा प्रसंग में धुन्धु एवं त्रिविक्रम का आख्यान एवं बलि-शुक्र संवाद में कोशकारसुत की कथा ।

बलि वामनचरित के साथ कुरुक्षेत्र महिमा का वृत्तान्त, पार्वतीजन्मादि वृत्तान्त के साथ स्कन्दोत्पत्तिवृत्तान्त, एवं नमुचि-चण्ड-मुण्डादिवधोपाख्यान के साथ शुम्भ-निशुम्भवध एवं स्कन्दकृतमहिषासुरादिवध आदि उपाख्यान । इन अनेक जोड़ों को समुचित रीति से मिला देने पर समग्र पदार्थ (इतिवृत्त) एक समन्वित रूप में हमारे सामने दृष्टिगत होने लगता है ।

दशरूपककार धनंजय संधि का सामान्य लक्षण इस प्रकार करते हैं -

'अन्तरैकार्थसम्बन्ध सन्धिरेकान्वये सति' ।

अर्थात् किसी एक प्रयोजन से परस्पर अन्वित कथांशों को जब किसी दूसरे प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाता है तो वह सम्बन्ध संधि कहलाता है ।

वामनपुराण में यज्ञ के लिए बलि का कुरुक्षेत्र में प्रवेश कर वहाँ के निवासी मुनियों का पलायन कथांश के साथ वामन जन्म, ब्रह्मा द्वारा वामन स्तुति एवं जातकर्म आदि क्रियायें, वामन की बलि यज्ञ में जाने की इच्छा तथा भरद्वाज में वामन का रूपनिपात-कथन आदि को सम्बद्ध करना संधि का उदाहरण है ।

नाटकीय कार्य के दृष्टिकोण से संधियों का विवेचन विभिन्न कार्यावस्थाओं एवं साधनों के आधार पर किया गया है जिसमें भरत मुनि एवं अभिनवगुप्त के समीचीन विचारों से स्पष्ट होते हैं कि जिस प्रकार बीज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के प्रतीक संधियों के मध्य बीज कभी अंकुरित होता है कभी बाधाओं से घिरकर छिप जाता है कभी पुनः प्रकट होता है और अन्ततः फलरूप में परिणत होता है ठीक उसी प्रकार नाट्य व्यापार अथवा कथाओं में मुख्य नायक से सम्बन्धित मुख्य साध्य प्रयत्न-प्रेरित हो कभी साध्याभिमुख होता है, कभी बाधायें उपस्थित होती हैं, कभी प्राप्य फल अप्राप्य सा हो जाता है और कभी पुनः दृष्टिगत होने लगता है । इस प्रकार उत्थान-पतन के इस व्यापार में अन्ततः नायक अपने साध्य फल प्राप्त कर लेता है ।

प्रासंगिक कथाओं की संधियाँ मुख्य कथावस्तु की अनुयायी होती हैं इसी कारण अनुसंधि कही जाती हैं । प्रासंगिक इतिवृत्तों में पूर्णसंधि नहीं होती क्योंकि वे परार्थ होती हैं लेकिन इनमें प्रधान कथावस्तु का अविरोधी वृत्त कल्पित

होना भी आवश्यक है । जैसे प्रस्तुत वामन पुराण में सारस्वत स्तोत्र के प्रसंग में विष्णुपंजर स्तोत्र एवं राक्षसवृत्तान्त तथा राक्षस-गृहीत मुनि द्वारा अग्नि की प्रार्थना एवं सारस्वत स्तोत्र, राक्षसमुक्त-मुनि का उनको उपदेश, मार्कण्डेयोक्त पाप-प्रशमन स्तोत्र एवं अगस्त्योक्त पाप-प्रशमन स्तोत्र आदि प्रासंगिक इतिवृत्तों में पूर्ण संधि तो नहीं है लेकिन फिर भी मूल कथावस्तु बलि-वामन चरित के नायक वामन देव का वृत्त पूर्णतया अनुस्यूत है । नाट्य अथवा कथाओं में ये संधियाँ पाँच प्रकार की होती हैं -

1. मुख	2 प्रतिमुख	3. गर्भ
4. अवमर्श	और	5. निर्वहण ।

1. <u>मुख संधि</u>

कथावस्तु का वह अंश जो बीज एवं कार्य के आरम्भ भाग को स्पष्ट कर परस्पर सम्बन्धित कर प्रदर्शित करता है उसे शास्त्रीय भाषा में 'मुखसंधि'[2] कहते हैं । जैसे वामन-पुराण में बलि और वामन के चरित का बीज विभिन्न अर्थ से परिपुष्ट होता है अथवा वामन पुराण के प्रारम्भ से लेकर उस समय तक का अंश जब महात्मा प्रह्लाद द्वारा विष्णु का अदिति के गर्भ में प्रविष्ट होने की बात सुनकर भी बलि विष्णु के प्रति दुर्वचनों को कहते हैं तदनन्तर प्रह्लाद द्वारा शापित बलि पितामह प्रह्लाद से क्षमा याचना कर उपदेश देने का अनुनय करते हैं और विष्णु के वामन रूप में अवतीर्ण होना सत्य मान लेते हैं - मुख संधि का उत्कृष्टतम उदाहरण है ।

---

1. स्वतंत्र कलाशास्त्र, डा0 कान्तिचन्द्र पाण्डेय, पृ0 447.

2. "यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
   प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् ।।"

   साहित्यदर्पण, 6/76-77, पृ0 430.

2. प्रतिमुख संधि

कार्यावस्था के यत्न और अर्थप्रकृति के बिन्दु भाग को मिलाने वाली संधि 'प्रतिमुख'[1] कहलाती है। 'प्रतिमुख संधि' में मुखसंधि से उत्पन्न बीज रूप इतिवृत्त का उद्घाटन तो होता है लेकिन आंशिक रूप से प्रकट रूप में इसलिए भी है क्योंकि राजा बलि के पितामह प्रह्लाद[2] एवं मार्गदर्शी शुक्राचार्य[3] को भी भगवान विष्णु के वामन रूप ग्रहण करने का मुख्य कारण पूर्णतया ज्ञात है। परन्तु यह अप्रकट भी है क्योंकि भगवान वामन के अवतरित होते ही दैत्यों के तेज का विनाश होना प्रत्यक्ष देखकर[4] सोचकर चिन्तित हो जाने पर प्रह्लाद से भगवान विष्णु का वामन रूप में उत्पन्न होना जान लेते हैं।

अभिनव गुप्त यह मानते हैं कि बीज का आंशिक रूप से प्रत्यक्ष होना और आंशिक रूप से अप्रत्यक्ष होना मुख संधि में प्रदर्शित करना चाहिए जैसा कि वामन पुराण के 'वामनचरित' के प्रारम्भ में यह तथ्य प्रकट रूप में स्पष्ट है। इसमें देवासुर संग्राम में असुर के विजयी होने के पश्चात् दैत्यराज पद पर बलि का अभिषेक होना, बलि का ऐश्वर्य वर्णन, तदनन्तर दुःखी देवताओं का देवमाता अदिति के साथ महर्षि कश्यप के आश्रम में प्रवेश करना और कश्यप के साथ ब्रह्मलोक की

---

1. "फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ।
   लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ॥
   साहित्यदर्पण, 6/77-78, पृ0 430.
2. दशरूपकम्, 11.
3. वामनपुराण, सरो0 माहा0 8/1.
4. वामनपुराण, सरो0 माहा0 10/3.
5. वामनपुराण, सरो0 माहा0 8/1-2.

और बाणा ब्रह्मा से अपनी दयनीयता एवं पराजय को बतलाकर उनके उपदेश से देवताओं का श्वेत द्वीप में आकर तपस्या करना यह अनुकूल दशा में कभी सक्रिय होता है और कभी प्रतिकूल अवस्था अथवा कालात्मक प्रतिनायकता के प्रभाव से अलक्षित सा रहता है जैसा कि वामन पुराण देवताओं एवं माता अदिति की प्रार्थना पर भगवान विष्णु देवराज इन्द्र को निष्कण्टक त्रैलोक्य प्रदान करने के लिए अदिति के गर्भ से वामन रूप में अवतरित तो होते हैं लेकिन राजा बलि की यज्ञशाला के लिए प्रस्थान करना मात्र से आवृत्त ज्ञान बीज की तरह है। अतएव इस विषय में यह कहा जा सकता है कि प्रतिमुखसंधि का मुख्य कार्य उस बीज को पूर्ण रूप से स्फुट करना है जो मुख-संधि में प्रत्यक्ष होते हुए भी इस प्रकार के पृष्ठभूमि में पटक दिया जाता है कि वह अप्रत्यक्ष के समान रह जाता है। जैसा कि – प्रस्तुत वामन पुराण के 'सरोमहात्म्य' वर्णन के अन्तर्गत आये हुए 'वामन-चरित'[1] के अवलोकन से स्पष्ट है कि बीज अर्थात् भगवान विष्णु के वामन अवतार का मुख्य कारण 'बलि से त्रैलोक्य को प्राप्त करना' देवताओं और देवमाता अदिति व महर्षि कश्यप को स्पष्ट ज्ञात है। अतः भगवान वामन का बलि से त्रैलोक्य प्राप्त करना, अदिति की तपश्चर्या से प्रसन्न हो भगवान विष्णु का अदिति को दर्शन देकर वर प्रदान करना तदनन्तर अदिति के गर्भ में प्रविष्ट हो दैत्यों के विनाश हेतु वामन रूप में अवतरित होना ये सभी क्रियाएँ भावी विकासों की जननी होने के कारण बीज स्वरूप है। जिस प्रकार बीज को भूमि ढक लेती है उसी प्रकार भगवान विष्णु के वामन रूप में जन्म लेते ही दैत्यों के तेज का विनाश होता हुआ देखकर भय को प्राप्त राजा बलि का अहंकार (अविवेक) अधिक विस्तृत हो जाता है जिससे वह पितामह प्रह्लाद के उपदेश को सुनकर भगवान् वामन की उपेक्षा करता है।[2] लेकिन जिस प्रकार बीज को अपने में ढक कर भूमि यथार्थ

---

1. वामनपुराण, सरो० महा०, अध्याय 2 से 10 तक
2. वामनपुराण, सरो० महा०, 8/29-32.

में उसको विकसित करने में सहायक होती है ठीक उसी प्रकार भगवान वामन का जन्म भी यथार्थ में राजा बलि के अहंकार, दुर्बुद्धि व अविवेक को नष्ट करने में सफल होता है ।

अतः स्पष्ट है कि मुख संधि में प्रत्यक्ष होते हुए भी विशेष परिस्थिति में अप्रत्यक्ष हुए बीज का 'प्रतिमुख संधि' में पूर्णतया स्पष्टीकरण होता है ।

3. <u>गर्भ संधि</u>

प्रतिमुख संधि के उपरान्त बीज की अगली क्रम दशा को गर्भ-संधि[1] प्रकट करती है । इसमें प्राप्त्याशा एवं पताका का योग आवश्यक होता है । यद्यपि 'पताका' की विद्यमानता सर्वत्र आवश्यक नहीं है, परन्तु प्राप्त्याशा का होना अनिवार्य है । कथानक के इस अंश में नायक को लक्ष्य प्राप्त करते हुए, खोते हुए और पुनः प्राप्त कर, पुनः खोते हुए और प्रत्येक बार इष्ट लक्ष्य के खो जाने पर अनेक प्रकार के नये नये प्रयत्नों को करते हुए प्रदर्शित किया जाता है जैसा कि वामन पुराण में भगवान् विष्णु का दैत्यराज बलि से त्रैलोक्य को प्राप्त करने के लिए अदिति के गर्भ से वामन रूप में अवतरित होने के लिए, प्रविष्ट होना[2], तद-नन्तर दैत्यों के तेज का विनाश[3] होते देख बलि द्वारा प्रह्लाद से कारण पूछे जाने पर प्रह्लाद के वचनों को सुनकर, अज्ञान वश विष्णु की अवहेलना करना[4], तदनन्तर प्रह्लाद द्वारा बलि को ऐश्वर्यच्युत होने का शाप देना[5], बलि का प्रह्लाद से क्षमा

---

1. "फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किंचन ।
   गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः ॥"
   साहित्यदर्पण, 6/78, 79.
2. वामनपुराण, स0मा0, 7/14
3. वही, 7/16.
4. वामनपुराण,स0मा08/29-32
5. वही, 8/49.

याचना[1] कर देवेश्वर का स्मरण करना[2] तथा पितामह के शेष वचनों को ग्रहण करना । तत्पश्चात् भगवान विष्णु का दसवें मास में वामन रूप में उत्पन्न होना[3], एवं ब्रह्मा द्वारा स्तुति एवं जातकर्मादि किये जाने के पश्चात् बलि की यज्ञशाला में प्रवेश करना[4], तदनन्तर बलि द्वारा अर्घ्य आदि से वामन देव की पूजा करना[5], और उनको अभीष्ट का वरण करने हेतु प्रेरित करना[6], अनुरक्ति बलि के प्रीतियुक्त वचनों से वामन का अपने इष्ट लक्ष्य को प्राप्त होने की आशा से बलि से पद-त्रय भूमि की याचना करना ।[7] इन विभिन्न कार्यों अथवा प्रयत्नों से भगवान वामन को अपना लक्ष्य सिद्ध हुआ सा जान पड़ता है लेकिन शुक्राचार्य और बलि का पूर्व संवाद पुनः भगवान वामन के इष्ट लक्ष्य की सिद्धि में विघ्न सा जान पड़ता है लेकिन दृढ़ प्रतिज्ञा राजा बलि द्वारा कमण्डलु के जल को हाथ में लेकर दान के लिए संकल्प किये जाने पर पुनः इष्ट प्राप्ति की आशा का संचार होने लगता है ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इष्ट लक्ष्य को खोता सा जान पड़ता ही गर्भसन्धि का विशेष महत्व है ।

अवमर्श संधि

यह कथानकांश का वह विभाग है जिसमें कार्य की उस विकासावस्था का

---

1. वामनपुराण, स०मा० 9/1
2. वही, 9/11
3. वही, 9/13
4. वही, 9/33
5. वही, 9/40
6. वही, 9/41-42
7. वही, 10/44.

प्रदर्शन किया जाता है जहाँ नायक के अन्तःकरण में आशा का संचार एवं इष्टसिद्धि की प्राप्ति, सम्भावना के क्षेत्र में तो प्रदर्शित हो चुकती है लेकिन विघ्नों के उपस्थित होने से उसमें व्याघात पहुँचता है । कथानकांश का यह भाग अवमर्श अथवा 'विमर्श संधि'[1] कहलाता है । इस संधि में फल प्राप्ति की पर्यालोचना (विचार) की जाती है । इसी कारण इसे विमर्श कहते हैं । इसमें नियताप्ति तथा प्रकरी का योग अपेक्षित होता है ।

प्रस्तुत वामनपुराण में इस स्थल को इस प्रकार दर्शाया गया है - 'दैत्य-राज बलि द्वारा तीन पग भूमि देने का संकल्प कर लिए जाने के अनन्तर भगवान वामन ने अपने दिव्य विराट्रूप को धारण कर[2] भुजों के द्वारा सर्वमय होकर एक पद से ही चराचर सहित पृथ्वी लोक का हरण कर लिया[3], और दूसरे चरण के आधे से स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक और तपोलोक को आक्रान्त कर शेष आधे से सत्यलोक तथा मध्यभाग से आकाश को आपूरित किया ।[4] इस प्रकार तीसरे पग के लिए कोई जगह अवशेष न रहने से जब   में विघ्न उत्पन्न होता है तो तीसरे चरण के पूर्ण न होने पर भगवान वामन बलि के पास जाकर तीसरा पद (दान) को पूर्ण करने अथवा बन्धन स्वीकार करने को कहते हैं ।[5] इसी बीच बलि का पुत्र बाण वहाँ उपस्थित होकर भगवान वामन से हेतुयुक्त वचन कहता है कि

---

1. "यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।
   शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः ।।"
   साहित्यदर्पण, 6/79-80, पृ0 432.
2. वामनपुराण 65/18.
3. वही, 65/29.
4. वही, 65/31.
5. वही, 65/33-35.

हे भगवान जिस पृथिवी की कमी को आप पूर्ण न कर सके उसको पूज्य पिता बलि कैसे पूरा करेंगे! पृथिवी को स्वयं ही महाप्राण को बनाकर बलि को बांधना उचित[2] नहीं, गुरु (आप) भी चाहते हैं वही करते हैं" बलि पुत्र बाण के इन वचनों को सुनकर भगवान जनार्दन (वामन) कहते हैं - कि हे बलिनन्दन ! तुम्हारे पिता से मैंने पहले ही कहा था कि मुझे मेरे प्रमाणानुसार तीन पग भूमि दो, और उन्होंने (बलि ने) निःशंकभाव से मेरे अनन्त तीन पगों का दान किया । वस्तुतः मैं अपने एक पद से ही सम्पूर्ण विश्व को आक्रान्त कर सकता था लेकिन तुम्हारे पिता (बलि) के हित के लिए ही मैंने तीन पगों को किया, वह दान को पूरा करने में समर्थ न हो सकें । क्योंकि तुम्हारे पिता ने मेरे हाथ में पुष्कल जल दिया है अतः इनकी आयु एक कल्प की होगी और सावर्णिक मन्वन्तर आने पर ये (बलि) (इन्द्र) बनेंगे ।"[3] ऐसा कहने के पश्चात् राजा बलि को वरुण पाशों से बांधकर वामन को अपने इष्ट प्राप्ति की पूर्ण सम्भावना दृष्टिगत होने लगती है ।

अतः स्पष्ट है कि इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में इस प्रकार की पर्यालोचना (विचार) किये जाने के कारण ही कथानकांश का यह भाग (अवमर्श/विमर्श) कहा जाता है ।

---

1. वामन पुराण, 65/39.

2. वामन पुराण, 65/45.

3. वामन पुराण, 65/46-52.

निर्वहण संधि

कार्य की पंचावस्था एवं पंच अर्थप्रकृति का सुखदुःखात्मक इतिवृत्त का रसात्मक रूप में फल-निष्पत्ति के लिए समागमन होने पर निर्वहण संधि[1] होती है । अर्थात् जहाँ प्रयोजन की पूर्ण सिद्धि हो जाती है वहाँ - निर्वहण संधि होती है जैसा कि वामन पुराण में 'राजा बलि को वरुण पाशों' से बाँधने के बाद से लेकर कथानक के अन्त तक का अंश निर्वहण संधि का दृष्टान्त है ।

इस प्रकार संधियों के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कथावस्तु में मुख संधि से कार्य आरम्भ होकर प्रतिमुख की ओर बढ़ता है, प्रतिमुख से गर्भ में पहुँच कर उत्कर्ष को प्राप्त होता है तदनन्तर विमर्श में फल की ओर उन्मुख होकर निर्वहण में पूर्ण सिद्धि को प्राप्त करता है ।

वामन पुराण की आधिकारिक कथा का विवेचन

समष्टि धर्म की रक्षा एवं तामस धर्म के विनाश हेतु सर्वजनहितकारी भगवान विष्णु के वामन अवतार का विशद वर्णन वामन पुराण में स्पष्टतः दृष्टिगत है । वामन पुराण में वर्णित बलि-वामन चरित (कथा) को आधिकारिक (मूल) कथा के रूप में स्वीकार करते हुए इस प्रकार दर्शाया गया है -

देवासुर-संग्राम में देवताओं के पराजय से दुःखी देवमाता अदिति ने जब

---

1. "बीजवन्तो मुखाद्यर्था विकीर्णा यथायथम् ।
   एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि   तद् ॥"
   साहित्यदर्पण, 6/80-81, पृ0 433.

देवगणों के पराजय का कारण जाना तब उन्होंने ऐसा अनुमान किया कि समस्त मरुद्गण के साथ मिलकर भी देवगण युद्ध में विरोचन पुत्र बलि को पराजित नहीं कर सकते, क्योंकि दानवी शक्तियों के पराक्रम को विष्णु की कृपा से ही जीता जा सकता है । अतः अदिति के साथ देवता शीघ्र कश्यप के समीप गये और उनसे अपने मंगल की कामना की । तदनन्तर ब्रह्मा जी से अपनी पराजय को कहने के लिए अदिति के साथ महर्षि कश्यप के आश्रम में आये सभी देवों ने ब्रह्म-सदन को प्रस्थान कर श्रेष्ठ आसन पर विराजमान ब्रह्मा को प्रणाम किया । ब्रह्मा के आदेश से महर्षि कश्यप, अदिति एवं देवगणों ने श्वेतद्वीप के लिए उत्तर दिशा को प्रस्थान किया और क्षीर समुद्र के तट पर पहुँच कर भगवान विष्णु को को प्रसन्न करने के लिए वेदोक्त स्तव का पाठ किया ।[1]

तदनन्तर कश्यप द्वारा की गई श्रेष्ठ स्तुति से प्रसन्न हुए भगवान नारायण ने देवताओं को वर मांगने को कहा । भगवान द्वारा ऐसा कहे जाने पर कश्यप ऋषि ने कहा कि हे सुरश्रेष्ठ ! यदि आप प्रसन्न हैं तो हम सभी का यह निश्चय है कि आप श्रीमान् भगवान् स्वयं इन्द्र के लघु भ्राता के रूप में अदिति के हार्दिकों के आनन्दवर्धक पुत्र बनें ।[2] तदनन्तर भगवान द्वारा इष्ट वर स्वीकार कर लिये जाने पर पुनः देवगण सहित, कश्यप एवं अदिति ने भगवान का पूजन किया और प्रणाम करने के उपरान्त कश्यप के आश्रम लौट आये । तदनन्तर देव-माता अदिति ने देवों के आग्रह पर सहस्र वर्षों तक घोर तप किया और आदि-मध्य-अन्तस्वरूपी विष्णु की श्रेष्ठ वाणियों से स्तुति की, जिससे प्रसन्न हुए भगवान वासुदेव (विष्णु) ने अदिति को वांछित वर प्रदान करते हुए अपने अंश से कश्यप के द्वारा अदिति के गर्भ में देवकल्याणार्थ प्रवेश किया ।

---

1. वामनपुराण – स०मा०, 3/1 से अध्याय 5 तक ।
2. वही, 6/1 से 9/11.

तदनन्तर भगवान वासुदेव के अदिति के गर्भस्थ होने पर सभी दैत्यों के तेज की हानि होने लगी। दैत्यों को निस्तेज हुआ देखकर बलि ने पितामह प्रह्लाद से जब इसका कारण पूछा तो, भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद द्वारा भगवान विष्णु के अदिति के गर्भ में प्रवेश को असुर की हानि का कारण बताये जाने पर अज्ञान वश बलि के मुख से भगवान की अवहेलना पूर्ण शब्दों को सुनकर क्रुद्ध हुए प्रह्लाद द्वारा बलि को ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाने का शाप दिये जाने पर पश्चाताप को प्राप्त हुए बलि द्वारा पितामह से बार बार क्षमा याचना किये जाने पर प्रसन्न हुए प्रह्लाद द्वारा पुनः बलि को ज्ञानामृत का पान कराया गया।

तदनन्तर दसवें मास में अदिति के गर्भ से वामन रूप में अवतीर्ण हुए भगवान वासुदेव ने (विष्णु) ब्रह्मा द्वारा जातकर्मादि संस्कार कर लिए जाने के पश्चात् दैत्यराज बलि की यज्ञशाला की ओर प्रस्थान किया। भगवान वामन के यज्ञ मण्डप की ओर प्रवेश करते ही वन-पर्वतों सहित संक्षुब्ध हुई पृथ्वी को देखकर बलि द्वारा शुक्राचार्य से कारण पूछे जाने पर, भगवान के निकट आगमन को सुनकर हैमांचित हुए बलि ने शुक्राचार्य द्वारा भगवान के याचना करने पर कुछ भी देने की असमर्थता को न स्वीकार किये जाने एवं दान की विशिष्टता को बताते हुए यज्ञ-स्थल में प्रविष्ट हुए भगवान वामन को देखा।[1]

तदनन्तर दैत्यराज बलि द्वारा आतिथ्य सत्कार किये जाने एवं याचना के लिए आग्रह करने पर भगवान वामन ने बलि की तथा उनके पूर्वजों की प्रशंसा करते हुए बलि से तीन पग भूमि की याचना की।[2] बलि द्वारा भगवान वामन

---

1. वामन पुराण, स०मा० 1/13-10/33.

2. वही, 10/37-44.

की याचना को स्वीकार किये जाने एवं हाथ में जल लेकर तीन पग भूमि दान देने का संकल्प करते ही भगवान वामन ने तीनों लोकों को नापने के लिए अतिविराट विश्वमय रूप को धारण कर[1] एक पग से सम्पूर्ण पृथ्वी तथा दूसरे पग से त्रिविक्रम स्वर्ग को आक्रान्त कर लिया । तदनन्तर भगवान के तीसरे पग हेतु स्थान अवशेष न होने पर वरुण पाशों से आबद्ध बलि ने स्वयं को भगवान वामन के लिए समर्पित कर दिया जिससे प्रसन्न हुए भगवान वामन ने बलि को सावर्णिक मन्वन्तर में इन्द्र बनने का वर प्रदान कर उसे पत्नी सहित सुतल लोक भेज दिया और इन्द्र को स्वर्ग का राज्य प्रदान कर तथा देवताओं को यज्ञ-भाग का भोक्ता बनाकर स्वयं अदृश्य हो गये ।[2]

इस प्रकार बलि वामन की ये कथा ही आलोचित पुराण (वामन पुराण) की मूल (आधिकारिक) कथा है ।

आलोचित पुराण की ये आधिकारिक कथा (बलि वामन कथा) प्रस्तुत पुराण में तीन पृथक् पृथक् स्थलों पर मिलती है । इनमें दो स्थलों के आख्यान[3] भगवान विष्णु द्वारा वामन रूप ग्रहणकर छल द्वारा बलि से त्रिलोक को छीनने की कथा से सम्बद्ध है तथा तीसरे स्थल पर वर्णित आख्यान धुन्धुकथा[4] के सन्दर्भ में है ।

---

1. वामनपुराण, स०मा० 10/48; 65/18.
2. वामनपुराण, 65/52-62.
3. वामनपुराण, स०मा० 2 से 10 तक, एवं 51/11 से अध्यायान्त तक.
4. वही, 52/51-56.

आलोचित पुराण के सरोमाहात्म्य अध्याय 2 से 10 में बलि-वामन कथा प्रसंग कुरुक्षेत्र में स्थित वामनक तीर्थ के वर्णन के साथ आख्यात है ।[1] अध्याय 92 में यह कथा प्रह्लाद की तीर्थ यात्रा प्रसंग में धुन्धु एवं त्रिविक्रम आख्यान के रूप में वर्णित है । इसमें नारद एवं पुलस्त्य संवाद में वामनाख्यान विवृत्त है । इसी प्रकार अध्याय 50, 51 एवं 62 में यह आख्यान बलि-चरित के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है ।[2]

आलोचित पुराण में वर्णित बलि वामन कथा का अधिकांश 'वाल्मीकि रामायण' में कथित 'बलि-वामन' कथा के समान ही है । केवल दो बातों में इसका वैशिष्ट्य है -

1. जैसे ही अदिति के गर्भ से भगवान विष्णु ने वामनावतार लिया वैसे ही स्वर्ग में निवास करते हुए भी बलि का तेज क्षीण हो गया । बलि ने अपने पितामह प्रह्लाद से इसका कारण पूछा । प्रह्लाद ने वामनावतार की बात बलि को बताई किन्तु बलि ने भगवान विष्णु की निन्दा की जिससे प्रह्लाद ने क्रुद्ध होकर उसे श्रीच्युत होने का शाप दे दिया । बलि द्वारा क्षमा याचना किये जाने पर प्रह्लाद ने उसका अज्ञान दूर किया ।

2. वामन के साथ-अन्य देवतागण भी बलि के यज्ञमण्डप में गया । जब ये देवगण इधर-उधर जा रहे थे तब पृथ्वी प्रकम्पित हुई और समुद्र में क्षोभ हुआ । बलि ने जब कारण जानना चाहा तो शुक्राचार्य ने उसे भगवान वामन (विष्णु) के आगमन की बात कही । राजा बलि भगवान वामन को अपने यज्ञमण्डप में इस प्रकार स्वतः आया जानकर बहुत प्रसन्न हुआ और उनके बिना मांगे ही उन्हें तीन पग भूमि का दान दिया ।

---

1. कुरुक्षेत्रं कुरुः प्रोक्तं वामनस्य महात्मनः ।
उत्पत्तिं च प्रभावं च निवासं कुरुजाङ्गले ॥ वामनपुराण, स०मा० 2/2.
2. वामनपुराण, अध्याय 50, 51, 62-66.

अन्यान्य महाकाव्यों एवं पुराणों में बलि-वामन कथा प्रसंग

वामन पुराण में वर्णित अलौकिकता से परिपूर्ण, बलि-वामन कथा, जिसके अन्तर्गत भगवान विष्णु के वामन अवतार में दैत्यों द्वारा अधिकृत समस्त लोकों को अपने तीन पगों से नापकर देवताओं के कल्याणार्थ उन लोकों को देवराज इन्द्र को प्रदान कर दिये जाने एवं दैत्यराज बलि को सुतल लोक भेज दिये जाने की विस्मय पूर्ण घटनाओं का रोचक एवं प्रभावपूर्ण वर्णन उपलब्ध है, वामनपुराण के अतिरिक्त अन्य अनेक पुराणों एवं काव्यग्रन्थों में भी कुछ विशद एवं अल्प रूप में संगृहीत है ।

वैदिक साहित्य में वामनावतार की कथा संक्षिप्त रूप में उपलब्ध है । ऋग्वेद में वामन के तीन पगों में तीन लोकों को नापने का उल्लेख हुआ है ।[1] यास्क मुनि ने 'निरुक्त'[2] में भगवान विष्णु (वामन) के तीन पगों को पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश में रखने का वर्णन किया है । ऋग्वेद में वामन को इन्द्र का अनुज कहा गया है ।[3] भगवान विष्णु ने अपने वामन रूप से किस प्रकार देवताओं को युक्तिपूर्वक त्रिलोक का स्वामि बनाया इसका उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' में किया गया है । इसमें स्पष्ट रूप से विष्णु को वामन कहा गया है तथा इसी रूप द्वारा भगवान विष्णु असुरों से सम्पूर्ण पृथ्वी प्राप्त करते हैं ऐसा वर्णित है । यहाँ पर वर्णित कथा इस प्रकार है -

---

1. ऋग्वेद ; 1/22/17-21, 1/154/14, 3/54/14, 8/12/27, 8/29/7.
2. निरुक्त; 1/2/19.
3. ऋग्वेद ; 8/12/27.
4. शतपथ ब्राह्मण ; 1/2/2/1-5.

देवासुर-संग्राम में देवों की पराजय के पश्चात् जब असुरों ने आपस में पृथ्वी का बँटवारा करना चाहा, तब देवताओं ने भी इस बँटवारे में अपने को भागीदार बनाते हुए असुरों से अपना हिस्सा माँगा । असुरों ने देवताओं को वामन (विष्णु) के शरीर के बराबर भूमि देना ही स्वीकार किया और जब भूमि को नापने का अवसर आया तब देवताओं ने भगवान वामन (विष्णु) को पूर्व की ओर लिटाकर तीनों ओर से छन्दों (मन्त्रों) द्वारा घेरकर समस्त पृथ्वी को प्राप्त कर लिया ।[1]

इस प्रकार यहाँ पर वामन और विष्णु का परस्पर तादात्म्य स्थापित किया गया है जैसा कि आलोचित वामन पुराण में । यद्यपि इस स्थल पर विष्णु के तीन पगों द्वारा त्रिलोक को नापने का वर्णन नहीं हुआ है जैसा कि वामन पुराण में वर्णित है लेकिन एक अन्य स्थल पर विष्णु के तीन डगों द्वारा लोकों को नापने का वर्णन उपलब्ध है जो देवताओं के कल्याणार्थ किया गया था ।[2] अतः शतपथ ब्राह्मण का यह वर्णन वामन-पुराण के बलि - वामन प्रसंग से मिलता है ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी विष्णु के वामन अवतार का वर्णन किया गया है लेकिन इसमें भगवान वामन का दैत्यराज बलि से त्रैलोक्य को छीनने का वर्णन नहीं है अपितु इन्द्र एवं विष्णु का असुरों के साथ युद्ध होने पर असुर-द्वारा इस बात पर सहमत होने का, कि तीन पगों से विष्णु जितना स्थान नाप सकेंगे, उतना स्थान देवताओं का हो जायेगा, तदनुसार विष्णु द्वारा अपने तीन पगों से क्रमशः तीनों लोक, वेदों और वाक् को नाप लेने का वर्णन है ।[3]

---

1. शतपथ ब्राह्मण, 1/2/5/1-6.
2. वही, 1/9/3/9; 3/6/3/3.
3. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 6/3/7.

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में भगवान विष्णु के वामन अवतार की कथा तो प्रायः उपलब्ध है लेकिन बलि-वामन की कथा जैसा कि वामन-पुराण में संगृहीत है, उसका उल्लेख कहीं भी दृष्टिगत नहीं है । अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में भगवान विष्णु का वामनावतार मुख्य रूप से दैत्यों के विरुद्ध देवताओं की सहायता हेतु हुआ है जबकि वामन पुराण में भगवान विष्णु दैत्यराज बलि से अपने तीन पगों से त्रिलोक को प्राप्त कर उसे देवराज इन्द्र को प्रदान करने एवं बलि को सावर्णिक मन्वन्तर में इन्द्र बनने का वरदान प्रदान करने हेतु अदिति के गर्भ से वामन रूप में अवतरित होते हैं ।

राजा बलि विरोचन के पुत्र और प्रह्लाद के पौत्र थे, जैसा आलोच्य पुराण में स्पष्ट वर्णित है ।[1] बलि - वामन की कथा विस्तृत रूप में सर्वप्रथम 'वाल्मीकि-रामायण'[2] में उपलब्ध होती है । रामायण में वर्णित बलि-वामन की परमपवित्र इस कथा को विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को सुनाया है । विश्वामित्र कहते हैं कि जिस आश्रम में मैं रहता हूँ, उसमें रहकर पहले भगवान् विष्णु ने सैकड़ों युगों तक तपस्या की थी, इसीलिए वह सिद्धाश्रम कहलाता है । इस युग की एक कथा विश्वामित्र इस प्रकार बताते हैं - विरोचन के पुत्र राजा बलि ने उन दिनों इन्द्र और मरुद्गणों सहित समस्त देवताओं को जीतकर तीनों लोकों पर अपना राज्य स्थापित कर एक यज्ञ आरम्भ किया । देश देश से आये हुए याचक यज्ञ-दीक्षित बलि से जो कुछ माँगते थे वह उन्हें देता था । अग्निदेव को आगे कर सब देवता

---

1. वामनपुराण्, अध्याय 23, सरोमाहात्म्य ; 2 से 10,
   श्रीमद्भागवतपुराण, 6/18, 8/13; महाभारत-आदिपर्व, 65;

2. वाल्मीकि रामायण, 29/3-21.

इस आश्रम में विष्णु के पास आये और सहायतार्थ प्रार्थना की । इसी बीच प्रजापति कश्यप अपनी पत्नी अदिति सहित सहस्रों वर्षों की तपस्या समाप्त कर आये और विष्णु से प्रार्थना किया कि आप अदिति के पुत्र-रूप में जन्म लें और इन्द्र के छोटे भाई बनकर शोकार्त देवताओं की सहायता करें । तदनन्तर भगवान विष्णु अदिति के गर्भ से वामनावतार धारण कर राजा बलि की यज्ञ-शाला में गये और उससे तीन पग भूमि की याचना की । तीन पग भूमि का दान पाकर देव-हितार्थ-भगवान वामन ने तीन पगों से तीनों लोकों को नापकर, इन्द्र को त्रैलोक्य का राज्य देकर बलि और अपने बल-प्रभाव से बांध लिया और पाताल लेकर भेज दिया । इस प्रकार पुनः तीनों लोक इन्द्र के अधीन हो गया ।[1]

'महाभारत' में यह कथा आदिपर्व, वनपर्व, सभापर्व एवं शान्तिपर्व में उपलब्ध है । 'आदि पर्व' में केवल इतना ही पता चलता है कि इन्द्र और विष्णु के मध्य पृथ्वी पर अवतार ग्रहण करने के सम्बन्ध में कुछ बातें हुईं और बलि विरोचन का पुत्र था ।[2]

'वनपर्व' में ऐसा उल्लेख है कि नृसिंहावतार में हिरण्यकशिपु का वध करके भगवान विष्णु ने एक हजार वर्ष तक अदिति के गर्भ में रहने के बाद वामन रूप में अवतार लिया । ब्राह्मण-वेश में भगवान् वामन दानवराज बलि की यज्ञ-शाला के समीप गये । बृहस्पति की सहायता से उन्होंने बलि के यज्ञ-मण्डप में प्रवेश किया । राजा बलि वामन को देखकर प्रसन्न हुआ और बोला कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? वामन ने बलि से तीन पग भूमि की याचना की, बलि

---

1. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 29/3-21.

2. महाभारत, आदिपर्व, 65/1 और 20.

ने दे दी । तदनन्तर भगवान् वामन ने अद्भुत विराट रूप से तीन पगों द्वारा सम्पूर्ण भूमण्डल को नापकर इन्द्र को सौंप दिया ।[1]

"सभापर्व" में वामनावतार प्रसंग में बताया गया है कि दैत्यकुल में बलि ने इन्द्र का राज्य छीन लिया । इन्द्र पहले ब्रह्मा की शरण गये, फिर उन्हें लेकर विष्णु के पास आये । उनकी प्रार्थना पर विष्णु ने अदिति के गर्भ से वामन-रूप में जन्म लिया । ब्रह्मचारी वेश में बालक वामन ने अकेले ही बलि के यज्ञ-मण्डप में प्रवेश कर तीन पग भूमि की याचना कर अपना विराट् रूप धारण कर एक पग से पृथ्वी, दूसरे से आकाश और तीसरे पग से स्वर्ग को नाप लिया ।

स्वर्ग को नापते समय उनका पैर ब्रह्माण्ड के कपाल से जा टकराया । जिसके आघात से ब्रह्माण्ड के कपाल में छिद्र हो गया जिससे एक स्रोतस्विनी प्रकट हुई जो नीचे उतरकर समुद्र में जा मिली । यही गंगा है । इस प्रकार भगवान् विष्णु ने असुरों की संपदा छीनकर शम्बर, नमुचि, प्रह्लाद आदि को पाताल भेज दिया और अभिमानी बलि को यज्ञ-मण्डप में ही बाँध लिया, और बाद में पाताल भेज कर देवराज इन्द्र को त्रिलोकी का राज्य प्रदान कर दिया।[2]

"शान्तिपर्व" से केवल इतना ही पता चलता है कि देवासुर-संग्राम समाप्त होने के बाद विष्णु ने वामनावतार धारण कर अपने पैरों से तीनों लोकों को नाप लिया तदनन्तर इन्द्र देवताओं के स्वामी बन गये ।[3]

---

1. महाभारत, वनपर्व, 272/62-70.

2. वही, सभापर्व, 38/29 एवं 409/9।.

3. वही, शान्तिपर्व, 227/7-8.

'हरिवंश-पुराण' के भविष्य – पर्व[1] में इस कथा का विस्तार से वर्णन किया गया है । 31वें अध्याय में केवल इतना ही बताया गया है कि महान् तेजस्वी, नामी और दानी राजा बलि का यह राजसूय यज्ञ, जिसमें वामन रूप से उपस्थित होकर वामनावतारी विष्णु ने तीन पग भूमि की याचना की थी, गंगा-यमुना के मध्यवर्ती भूभाग में हुआ था और इस यज्ञ में मुख्य होता बलि के गुरु शुक्राचार्य जी थे । वामन द्वारा अपने राज्य का अपहरण हो जाने के बाद बलि अपनी सेना, अस्त्र-शस्त्र, आदि लेकर पाताल-गुफा में चले गये ।[2] इसके बाद की इतनी कथा और मिलती है कि इन्द्र एवं विष्णु के साथ दैत्यगण पुनः पाताल से शीघ्र ही उठे । देवताओं ने प्रसन्नतापूर्वक बलि को त्रिलोकेश्वर के पद पर अभिषिक्त किया । बलि ने देवताओं को पितृ-पद पर प्रतिष्ठित करके उन्हें स्वधायुक्त अमृत से तृप्त किया । ब्रह्माजी ने यह अक्षय एवं अविकारी अमृत इन्द्र को दिया । बलि के इस कर्म से दैत्येन्द्र सुरक्षित हो गये ।[3] 48वें अध्याय में बलि को सत्यवादी, जितेन्द्रिय, तत्त्वदर्शी शक्तिशाली और दैत्येन्द्र विशेषणों से विभूषित किया गया है ।[4] ब्रह्माजी ने भी बलि का हिरण्यकशिपु के राज्य पर अभिषेक किया था ।[5] दानवों ने बलि को ही इन्द्र बनाया[6] और दानवों के कहने पर ही बलि ने देवताओं से त्रैलोक्य का राज्य छीन लिया था जिसे बाद में भगवान विष्णु ने वामन रूप में युक्तिपूर्वक देवों को दिलाया ।

---

1. हरिवंशपुराण, भविष्यपर्व, अ० 31, 48, 67-72.
2. वही, अ०, 31/3-14.
3. वही, 31/13-16.
4. वही, 48/18-20.
5. वही, 48/21.
6. वही, 48/24.

भविष्यपर्व के 67वें से लेकर 72वें की कथा दी गई है उसमें कुछ विशेष बातें हैं जो इस प्रकार है – देवतागण बलि से संत्रस्त होकर ब्रह्मा के पास गये । ब्रह्मा ने सुझाव दिया कि सब कश्यप-अदिति सहित क्षीरसागर के उत्तरी "अमृत" नामक स्थान पर एक सहस्र वर्ष तक विष्णु की आराधना करें ।[1] विष्णु के प्रकट होने पर कश्यप-अदिति उनसे अपने पुत्र-रूप में अवतरित होने का वर मांगे और इन्द्र विष्णु का अपना छोटा भाई बन जाने की प्रार्थना की[2]। हरि ने वैसा ही किया । तदनन्तर कश्यप-अदिति तथा देवताओं को विष्णु द्वारा इच्छित वर प्राप्त हुआ । भगवान वामन स्वयं ही बलि की यज्ञ-शाला में पहुंचे, देवगुरुबृहस्पति की सहायता से नहीं । वामन ने बलि से अपने गुरु के लिए अग्निशाला बन जाने के निमित्त तीन पग भूमि की याचना की ।[3] शुक्राचार्य ने बलि को समझाया कि ये विष्णु हैं, तुम्हें छल लेंगे तुम्हारा सर्वस्व छीन लेंगे[4] लेकिन फिर भी जब बलि सोने की झारी लेकर याचित भूमि का संकल्प करने चले, तब शुक्राचार्य ने बलि को पुनः रोका, लेकिन जब साक्षात् विष्णु दान ग्रहण करने के निमित्त उपस्थित हुए हों तब बलि उनकी वर्जना पर कैसे ध्यान देते ? प्रह-लाद ने भी बलि को दान देने से रोका था लेकिन महादानी बलि ने याचक को बिना दिये लौटाना पाप बताया । हाथ में संकल्प का जल लेते ही विष्णु [illegible] विराट् रूप हो गये । दैत्यगण भगवान विष्णु को मारने दौड़े, लेकिन

---

1. हरिवंशपुराण, भविष्यपर्व, 67/10.
2. वही, 67/11-18.
3. वही, 69/6.
4. वही, 70/10-11.

बलि ने उन्हें रोक दिया । वामन ने बलि को वर-रूप में देवताओं से अभय और सुतल नामक पाताल में दैत्यों सहित निवास प्रदान किया । उन्होंने बलि को इन्द्र से द्रोह न करने का भी परामर्श दिया और बलि से पूर्व त्रैलोक्य के राज्य का इस प्रकार विभाजन किया - इन्द्र को ऐन्द्री या पूर्व दिशा का राज्य एवं सोम को उत्तर की दिशा का राज्य मिला ।[1]

बलि को नागपाश से आबद्ध कर विष्णु स्वर्गलोक को चले गये ।[2] तदनन्तर नारद के परामर्श पर पातालवासी नागपाश से आबद्ध बलि ने विष्णु की आराधना की जिससे प्रसन्न हो विष्णु ने गरुड़ को भेजा । वे गरुड़ को देखते ही नाग डरकर बलि को मुक्त कर नागलोक (भोगवतीपुरी) चले गये ।[3] गरुड़ ने बलि को विष्णु द्वारा बाँधी गई मर्यादा का स्मरण कराया । वह मर्यादा यह थी कि - 'सुतल लोक में दो कोस भी बाहर जाने पर तुम्हारे सिर के सैकड़ों टुकड़े हो जायेंगे ।[4]

'ब्रह्मपुराण'[5] में देवतागण राजा बलि की ऐश्वर्य को सहन न कर पाने के कारण विष्णु के पास जाते हैं । अदिति के गर्भ से वामन की उत्पत्ति, बलि के यज्ञ में जाकर शुक्राचार्य से इनका संवाद आदि 'हरिवंश' के अनुसार ही वर्णित है ।

---

1. हरिवंशपुराण, भविष्यपर्व, 72/53-56, 1/2.
2. वही, 72/59.
3. वही, 72/90.
4. वही, 72/93.
5. ब्रह्मपुराण, अध्याय - 73.

विष्णु ने बलि को वरदान-स्वरूप रसातल का अधिपति बनाया और भावी इन्द्र का पद प्रदान किया ।

'पद्मपुराण' के उत्तरखण्ड[1] 'स्वर्गखण्ड'[2] तथा भूमिखण्ड[3] में भी बलि-वामन की कथा का कुछ विस्तार से वर्णन किया गया है ।

उत्तरखण्ड की कथा का क्रम 'मत्स्यपुराण' एवं 'हरिवंशपुराण' के अनुसार ही है । स्वर्गखण्ड के अध्याय 1 और 2 में वामनावतार की कथा का वर्णन आया है परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि अध्याय 2 में वामनावतार का वैवस्वत मन्वन्तर में होना बताया गया है और भगवान वामन बलि से पृथ्वी का दान ग्रहण करते हैं, जबकि अध्याय एक में वामनावतार स्वारोचिष मन्वन्तर में हुआ बताया गया है और यहाँ वामन बाष्कलि से त्रिविक्रम के रूप में तीन पग भूमि का दान लेते हैं । पहले बाष्कलि वाली घटना घटी बाद में बलि वाली । इस प्रकार यहाँ दो बार वामनावतार होना बताया गया है ।

द्वितीय अध्याय वाली कथा में भगवान वामन बलि के पास अकेले ही दान माँगने जाते हैं किन्तु अध्याय 1 में वामन इन्द्र के साथ बाष्कलि के पास जाते हैं और इन्द्र बाष्कलि से कहते हैं कि तुमने हमारा सारा राज्य छीन लिया है, अब हम इस याचक ब्राह्मण को जो हमसे अग्नि के रक्षार्थ कुटिया बनाने के लिए तीन पग भूमि की याचना कर रहा है, कहाँ से दें ? इन्द्र की बात सुनकर बाष्कलि ने इन्द्र का आदर-सत्कार करके बटुक वेशधारी वामन को तीन पग भूमि

---

1. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, 266-267, अध्याय.
2. वही, स्वर्गखण्ड, अ0 1-2.
3. वही, भूमिखण्ड, अ0 30.

देने का संकल्प कर दिया । शुक्राचार्य यहाँ पर भी बाष्कलि को दान देने से रोकते हैं । प्रथम अध्याय में वर्णित वामनावतार की कथा में कुछ अन्य विशेषताएँ भी हैं जैसे -

1. इन्द्र ने बाष्कलि से याचना करते समय यह स्पष्ट कर दिया था कि मैं अपने लिए याचना नहीं कर रहा हूँ ।

2. वामन ने प्रथम चरण में पृथ्वी सहित नीचे का सारा संसार नाप लिया । उनका दूसरा चरण ध्रुवलोक से जा लगा और तीसरा चरण ब्रह्माण्ड से जा टकराया । जब तीसरे चरण के लिए स्थान अवशेष न रहा तब वामन ने बाष्कलि से कहा कि अब हम तीसरा चरण कहाँ रखें ? बाष्कलि असमर्थ होकर सिर झुकाये खड़ा रहा तब वामन भगवान ने प्रसन्न हो बाष्कलि को वरदान-स्वरूप अपनी भक्ति प्रदान कर यह कहा कि 'जब मैं वाराह रूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार करने पाताल जाऊँगा तब यदि तुम मेरी चपेट में आ गये तो मैं तुम्हें मार डालूँगा और श्वेत द्वीप में स्थित कर तुम्हारी इच्छा को पूर्ण करूँगा । इस प्रकार भगवान वामन ने तीनों लोकों को अपने पैरों से नापकर उसे इन्द्र को दे दिया और बाष्कलि को पाताल भेज दिया ।

3. इस कथा के साथ ही गंगा की उत्पत्ति की कथा भी जुड़ी मिलती है । विष्णु का तीसरा चरण जब ब्रह्माण्ड की ओर बढ़ा तब उनके अँगूठे की ठोकर से उसका एक खण्ड अलग हो गया जिससे वहाँ से एक जल की धारा निकली जो ब्रह्मलोक, ध्रुवलोक और सूर्यलोक आदि को छूती हुई नीचे की धरातल पर पहुँची । वह धारा पुनः विष्णु के पग में समा गयी । यही विष्णुपदी गंगा हुई ।

पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड के अध्याय 30 में भी यही कथा मिलती है ।

'विष्णु – पुराण' में केवल इतना ही वर्णन उपलब्ध है कि विरोचन पुत्र बलि प्रह्लाद का पौत्र था और भगवान विष्णु ने अदिति के गर्भ से वामन रूप में अवतरित हो बलि से तीन पग की याचना से सम्पूर्ण त्रैलोक्य को जीत लिया ।

'श्रीमद्भागवत'[1] में इस कथा का कुछ विस्तार से वर्णन किया गया है । इन्द्र को पराजित करके बलि का शुक्राचार्य के सहयोग में विश्वजित् यज्ञ कराना और अग्नि से दिव्य रथ तथा अस्त्रादि प्राप्त कर त्रिलोक विजय करना एवं अदिति के गर्भ से वामन (विष्णु) का पुत्र रूप में उत्पन्न होना आदि घटनायें 'महाभारत' के शान्तिपर्व एवं 'रामायण' से मिलती – जुलती हैं ।

शुक्राचार्य यहाँ भी बलि को दान करने से मना करते हैं और न मानने पर उसे श्रीभ्रष्ट होने का शाप भी देते हैं । जब वामन-बलि को नागपाश से बाँधने लगते हैं तब दैत्यगण उन्हें मारने दौड़ते हैं लेकिन बलि उन्हें मारने से रोकता है जो कि 'हरिवंश-पुराण' के अनुसार ही वर्णित है । प्रह्लाद और ब्रह्मा की प्रार्थना पर विष्णु (वामन) ने बलि को नागपाश से मुक्त कर दिया तथा उसे सुतल लोक भेज दिया ।[2]

'बृहन्नारदीयपुराण' में बलि द्वारा देवताओं के पराजय, देवमाता अदिति का विष्णु को पुत्र-रूप में प्राप्त करने के लिए तप तथा विष्णु का उसके लिए तत्पर होना आदि घटनायें अन्य पुराणों की तरह ही हैं लेकिन साथ ही भगवान वामन के अंगुष्ठाग्र भाग से ब्रह्माण्ड के टूटने और उससे गंगा के प्रवाहित होने की कथा का

---

1. श्रीमद्भागवतपुराण, स्कन्ध 8, अध्याय 15-23.

2. वही, स्कन्ध 8, अ० 23.

भी संकेत किया गया है। यद्यपि 'बृहन्नारदीय उपपुराण' बहुत बाद की रचना है तथापि उसमें एक अन्य रोचक तत्व भी इस कथा के साथ जोड़ दिया गया है। वह यह कि जब शुक्राचार्य के बार बार मना करने पर भी बलि दान का संकल्प करने से विरत नहीं होते तब अपने शिष्य को भावी अनिष्ट से बचाने हेतु शुक्राचार्य स्वर्णकलश की टोंटी में जा घुसे। जिससे संकल्प के लिए जल बाहर न आ सके। इस पर भगवान वामन के कहने पर बलि ने कुश से कलश की टोंटी को साफ किया। टोंटी का छिद्र तो साफ हो गया लेकिन बेचारे शुक्राचार्यजी की एक आँख फूट गयी। तब से वह एकाक्ष हो गये।[1] शेष कथा-रामायण के समान है।

'अग्नि-पुराण'[2] में यह कथा 'ब्रह्म-पुराण' के समान ही वर्णित है अन्तर केवल इतना है कि अग्नि - पुराण में इस कथा को बहुत ही संक्षेप में दर्शाया गया है।

'स्कन्द-पुराण' में यह कथा कई स्थानों[3] पर वर्णित है। अवन्तीखण्ड तथा प्रभास खण्ड के गिरिनारक्षेत्रमाहात्म्य अध्याय की कथा और 'ब्रह्म-पुराण' में उपलब्ध कथा में पूर्ण समानता है। प्रभासखण्ड के द्वारका-क्षेत्र-माहात्म्य में आगत कथा बहुत संक्षिप्त है। विष्णु का पाताल में बलि का द्वारपालत्व है इसकी ही घटना के अलावा शेष घटनायें ब्रह्म-पुराण के सदृश ही है। माहेश्वर खण्ड की कथा में कुछ नवीन बातों का संग्रह है - जैसे - देवताओं द्वारा पराजित होकर

---

1. बृहन्नारदीयपुराण, अध्याय 10.
2. अग्निपुराण, अ0 4.
3. स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड, अवन्ती-क्षेत्र-माहात्म्य, अध्याय 63.64. प्रभासखण्ड, गिरनारक्षेत्र माहात्म्य, अ0 17-19, प्रभासखण्ड, द्वारका, क्षेत्र माहात्म्य, अ0 18; माहेश्वर खण्ड (केदारखण्ड) अ0 17-19.

बलि द्वारा शुक्राचार्य के परामर्श पर विश्वजित् यज्ञ करना, अग्नि से दिव्य रथ तथा आयुध प्राप्त कर उस पर सवार होकर दिग्पालों की सहायता से देवताओं को जीतना, अदिति की तपस्या, वामन का प्रादुर्भाव आदि कथाएँ तो 'श्रीमद् भागवत्' और अन्य पुराणों की ही तरह है किन्तु बलि के पूर्व-जन्म से सम्बन्धित वृत्तान्त बिल्कुल नया और अनूठा है । इसमें बताया गया है कि बलि पूर्वजन्म में पापी, जुआरी और वेश्यागामी था । एक दिन वह अपनी प्रिया वेश्या के पास पुष्पहार आदि लेकर जा रहा था कि उसे ठोकर लग गई । गिरते ही उसे सुबुद्धि आ गई और उसने वे हार आदि शिव की मूर्ति पर चढ़ा दिये । इससे प्रसन्न होकर यमराज ने उसे तीन घड़ी तक के लिए स्वर्ग का राज्याधिकार दे दिया । बलि ने उस अल्पावधि में इन्द्र के उच्चैःश्रवा अश्व, ऐरावत गजराज तथा अप्सराओं आदि को ऋषियों को दान कर दिया । इस दान के प्रभाव से बलि को स्वर्ग का राजा बना दिया गया । बलि ने अपने सभी दैत्यों को भी स्वर्ग में लाने का विचार किया, किन्तु शुक्राचार्य ने बताया कि स्थायी रूप से स्वर्ग में निवास करने के लिए सौ अश्वमेध यज्ञ करने पड़ते हैं । बलि ने 99 अश्वमेध यज्ञ तो कर लिए लेकिन 100वाँ यज्ञ करने जा ही रहे थे कि भगवान विष्णु वामन रूप में आ पहुँचे । शुक्राचार्य ने वामन के छल से बलि को सावधान किया लेकिन बलि न माने ।

उन्होंने तीन पग भूमि दान करने का संकल्प कर लिया । तदनन्तर वामन ने अपना विराट् रूप धारण कर अपने दो पगों से सारा ब्रह्माण्ड नाप लिया और अपने तीसरे चरण को उन्होंने जैसे ही सत्यलोक तक पहुँचाया, ब्रह्मा ने उनका चरण धोया और चरणोदक को अपने कमण्डलु में भर लिया । वही सुर-सरिता गंगा हुई । जब वामन के तृतीय-चरण के लिए कोई स्थान न रहा तब बलि की पत्नी ने उस चरण को अपने पति व पुत्र के मस्तक पर रखने को कहा ।

कृष्णमृगचर्म, वशिष्ठ ने कमण्डलु, मारीच ने दण्ड, पुलह ने अक्षसूत्र तथा पुलस्त्य ने श्वेत वस्त्र प्रदान किया । वेदमय और देवमय होकर वामन बलि की यज्ञशाला पहुँचे । वामन जैसे ही यज्ञमण्डप के समीप पहुँचे सारी पृथ्वी काँपने लगी और अग्नि ने असुरों के लिए भाग को खाना बन्द कर दिया । बलि द्वारा इसका कारण पूछने पर शुक्राचार्य ने इसका कारण वामन (विष्णु) का आगमन बताया । शुक्राचार्य ने बलि को पहले ही आगाह कर दिया था कि वामन तुमसे दान माँगेंगे, तुम साफ नकार जाना । परन्तु बलि, याचक बनकर आये भगवान के लिए कुछ भी अदेय नहीं मानता । यहाँ वामन इन्द्र के साथ नहीं, अकेले ही बलि के यज्ञमण्डप में प्रस्थान करते हैं । ब्रह्माण्ड के टूटने से गंगा की उत्पत्ति का उल्लेख इसमें नहीं हुआ है । तीन पग में वामन त्रैलोक्य को नाप लेते हैं और इन्द्र को दे देते हैं और बलि को सुतल में स्थापित कर देते हैं ।

उपरोक्त विभिन्न महाकाव्यों एवं पुराणों में वर्णित बलि वामन कथा के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि इन कथाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है । सभी कथाओं में दैत्यराज बलि अपने घोर तप द्वारा देवताओं को पराजित कर आगे बढ़ जाते हैं । तथा देवताओं पर शासन करना चाहते हैं । अतएव भगवान् विष्णु वामन रूप धारण कर देवताओं की रक्षा करते हैं । प्रायः सभी पुराणों में का वामन रूप में बलि से तीन पग भूमि की याचना करने का उल्लेख मिलता है । उपर्युक्त पुराणों के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड, देवी भागवत् एवं वराह पुराण में भी इस बलि वामन कथा प्रसंग उपलब्ध है । भगवान विष्णु के मत्स्य, कूर्म तथा वराहादि अवतारों को प्रारम्भ से ही प्रजापति से सम्बन्धित किया गया है किन्तु वामन अवतार के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रारम्भ से ही इस अवतार को विष्णु से सम्बद्ध किया गया है ।

महाकाव्य के रचनाक्रम में वामन कथानक पर भी कवियों की दृष्टि गई

है । महाकवि क्षेमेन्द्र (11वीं शती ई0) प्रणीत 'दशावतार-चरित' में वामन प्रसंग का सविस्तार विवेचन है । इसी प्रकार स्फुट खण्ड काव्यों एवं स्तोत्रों में भी वामन सम्बन्धी स्तुतियाँ उपलब्ध होती हैं । सम्भवतः बलि-वामन प्रसंग को लेकर लिखा गया संस्कृत का नवीनतम महाकाव्य 'वामनावतरण' ही है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वामन पुराण में मूल कथानक के नेता वामन (विष्णु) का सम्बन्ध वैदिक काल से लेकर पुराणकाल तक विवेचनीय है परवर्ती काल में यह आख्यान कुछ तीर्थों के माहात्म्य में उपबृंहित किया गया है । वामन-पुराण में भगवान वामन का बलि तथा धुन्धु असुरों के साथ वर्णन इस आशय को व्यक्त करता है कि परवर्ती पुराणों की संरचना काल तक विष्णु द्वारा असुरों का वध असुर-संस्कृति के आर्यीकरण का प्रमुख साध्य हो गया था ।

वामन पुराण की कथावस्तु का सांस्कृतिक महत्व

भारतीय धर्म एवं आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से वामनपुराण एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । यद्यपि संसार के अधिकांश लोग किसी न किसी रूप में ईश्वर का अस्तित्व मानते हैं, पर किसी जाति अथवा धर्म से उसको सम्बद्ध अवश्य कर देते हैं जबकि हमारा यह विशाल पुराण साहित्य ईश्वर को विभाजनीय न करके केवल जीव मात्र से सम्बद्ध करता है जैसा कि महर्षि वेदव्यास जी ने वामनपुराण में भगवान-विष्णु (वामन) को बताया है ।

जिस प्रकार भगवान विष्णु के प्रथम चार अवतार मत्स्य, कूर्म, वाराह एवं नृसिंह का सम्बन्ध मानवजाति के पूर्ववर्ती प्राणि-जगत के साथ है उसी प्रकार वामन-पुराण में वर्णित भगवान विष्णु के वामन-अवतार का सम्बन्ध मनुष्य की आदिम अवस्था से है । अर्थात् जिस समय मनुष्य जाति का आविर्भाव हो चुका था पर उसकी बाह्य और आन्तरिक शक्तियाँ अविकसित एवं न्यून थी उस समय

का व्यक्तित्व पूर्ण विकसित एवं स्थूल की तुलना में वामन (बौना) था । यह 'वामनपुराण' में जिस अतिमानवीय सत्ता का वर्णन किया गया है उसका आधार उपरोक्त सिद्धान्त के अलावा उन वैदिक व्याख्याओं को माना जा सकता है जिसमें स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण जगत को विष्णु के तीन चरणों में स्थित माना गया है -

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचयः पार्थिवानि विममेरजांसि ।

---- य उत्रिधातु-पृथिवी-मुतद्यामेकोदाधारभुवनानि विश्वा ।।[1]

इसके अतिरिक्त मूल वामन-पुराण में बलि-वामन कथा प्रसंग के अन्तर्गत भगवान विष्णु (वामन) को तीन पगों में सम्पूर्ण विश्व को आक्रान्त कर लेना इस तथ्य की पुष्टि करता है कि समस्त विश्व भगवान विष्णु में समाविष्ट है अतः भगवान वामन (विष्णु) का यथार्थ और आदर्श के समन्वय को जीवन की अनुभूति मानना प्राणि-मात्र के लिए भक्ति प्रेरणा का एक स्रोत है ।

कवि-कल्पना से परिपूर्ण प्रस्तुत वामन-पुराण के मूल कथावस्तु बलि-वामन उपाख्यान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें इतिहास और कल्पना को मिला-जुलाकर इस प्रकार रचा गया है कि इसमें उपलब्ध वास्तविक तथ्यों और कल्पना को अलग कर पाना प्रायः असम्भव सा प्रतीत होता है । पुराण साहित्य की समीक्षा करते हुए एक रचनाकार ने कहा है -

कि 'आदिमानव की कल्पना ने हर कहीं प्राकृतिक शक्तियों एवं घटनाओं के आधार पर अनेक पोषक और संहारक (रचनात्मक एवं विध्वंसात्मक) देवताओं

---

1. ऋग्वेद, मंडल-1, सूक्त - 154.

को गढ़ा था । इन देवताओं की प्रकृति एवं परस्पर सम्बन्ध एवं व्यवहार तथा मनुष्यों के प्रति इनकी मनोभावना को लेकर अनेक कथायें रची गईं जो प्रतीकात्मक होने के साथ साथ रोचक और रोमांचक भी थीं । पुरोहितों एवं मंत्र तंत्र वालों का धन्धा इन्हीं कथाओं के आधार पर विकसित हुआ तथा आदिम विज्ञान और शिल्प को इन्हीं कथाओं से जीवन का रस मिला । पर जैसे जैसे संस्कृति आगे बढ़ी इन आदिम कथाओं व पौराणिक गाथाओं तथा उनके देवताओं एवं मानवीय इतिहास के वीर पुरुषों के बीच आदान-प्रदान चलना शुरू हो गया । तत्पश्चात् पुराण कभी इतिहास के सांचे में और कभी इतिहास पुराण के सांचे में ढल कर नये रूप में प्रकट होने लगा और धीरे धीरे ये दोनों का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो गया कि दोनों इतिहास व पुराणों को एक दूसरे से अलग कर पाना ही कठिन हो गया ।

इस उपरोक्त कथन के आधार पर बलि और वामन की कथा को एक उच्च कोटि का दृष्टांत कहा जा सकता है जो संसार में ईश्वर के प्रति अगाध स्नेह, श्रद्धा एवं भक्ति को दर्शाता है । यद्यपि वामन पुराण की कथावस्तु इतनी अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण है कि सामान्य पाठक उसकी वास्तविकता पर विश्वास नहीं कर पाते । इस प्रकार हम देखते हैं कि वामन पुराण की कथा का मूल उद्देश्य भारतीय धर्म की उत्कृष्टता को प्रतिपादित कर विभिन्न धार्मिक मान्यताओं का निराकरण करना है जिससे इस पुराण की सांस्कृतिक महत्ता सिद्ध होती है ।

वामनपुराण के प्रारम्भ में पुलस्त्य एवं नारायण के संवाद में भगवान के वामनावतार धारण करने के प्रसंग का भी विस्तृत वर्णन किया गया है । विष्णु-परक होते हुए भी इसमें शिव-माहात्म्य, उमा-शिव-विवाह, गणेशोत्पत्ति और कार्तिकेय-चरित-आदि विषयों की बहुलता से प्रयोग किया गया है । बलि-वामन

कथा में बलि की यज्ञशाला में वामन देव के आगमन और तीन पग भूमि की याचना कर बलि को पाताल लोक से आबद्ध करना अधर्म पर धर्म की विजय अथवा असुर-भाव पर-देव-भाव की प्रभुता को अभिव्यक्त करता है जिससे स्पष्ट है कि जब व्यक्ति अहंकार से पूर्ण हो जाता है अथवा अनीति का अवलम्बन लेता है तो उसका पतन अवश्यम्भावी हो जाता है ।

इस प्रकार इन कथानकों के माध्यम से श्रोताओं (मनुष्यों) के चित्त को पापात्मक प्रवृत्ति से हटाकर पुण्यात्मक प्रवृत्ति की ओर अनुप्रेरित करना है साथ ही साथ इन कथानकों के अनुशीलन से व्यक्ति का विकास भी होते रहना वामन-पुराण की सांस्कृतिक महत्ता को प्रतिपादित करता है ।

वामन-पुराण की कथावस्तु का औपाख्यान प्रभाव एक ओर भक्ति, धर्म-निष्ठा एवं दृढ़ सत्य के अनेक स्थलों (उदाहरणों) को प्रस्तुत करता है और दूसरी ओर भगवान विष्णु के वामन रूप क्रीड़ा से सामाजिक जीवन की बहुमुखी सांस्कृतिक सामग्री को अपनी रोचनात्मक शैली में प्रस्तुत कर पुराणों की शाश्वतकालीन प्रतिष्ठा और लोकप्रियता को अद्यावधि जीवन्त बनाये हुए हैं जिससे वामन-पुराण का सांस्कृतिक महत्व पूर्णतया सिद्ध है ।

---:0:---

तृतीय अध्याय

उपाख्यान - विवेचन

आख्यान अथवा उपाख्यान विवेचन

प्राचीन कथाओं एवं आख्यायिकाओं से संगृहीत पुराणों की कथायें अति प्राचीन काल से पवित्र धरोहर एवं परम्परागत सम्पदा के रूप में सुरक्षित रहा है । यूँ तो इनका प्रणयन धार्मिक दृष्टिकोण से हुआ है किन्तु लौकिक व्यवहारों के समस्त अंगों का वर्णन भी इसमें प्रचुर मात्रा में किया गया है ।

पुराणार्थ-विशारद वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान गाथा तथा कल्पशुद्धि (इन चार उपकरणों के आधार पर पुराणसंहिता की रचना की ।[1] पुराण संकलन की प्रक्रिया में आख्यान एक महत्वपूर्ण उपादान रहा है । संकलित होने से पूर्व पुराण 'आख्यान' का ही पर्याय था । इसकी सत्ता पृथक् नहीं थी, वरन् यह वेद का ही एक अंग था । इस दृष्टि से आख्यान ऋग्वेद में बीजरूप से निहित एक महत्वपूर्ण तत्व है जो मूलतः काल्पनिक है ।

स्कन्दपुराण के एक कथनानुसार पुराणों में पंचलक्षणों (सर्ग, प्रतिसर्ग आदि) के अतिरिक्त जो विवेचनीय विषय हैं वे 'आख्यान' कहलाते हैं ।[2] इसका तात्पर्य यह है कि आख्यान का समावेश पुराणों में एक लघु इकाई के रूप में किया गया । इन आख्यानों का संक्षिप्त रूप ही उपाख्यान कहा गया है । आख्यान एवं उपाख्यान शब्दों के विषय में मतैक्य है । सामान्यतः इन दोनों शब्दों का प्रयोग 'कथानक' के अर्थ में किया जाता है ।

आख्यान स्वयं दृष्ट अर्थ का कथन है – अर्थात् देखे अर्थ का प्रकाशन जिसका

---

1. आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।
   पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थ विशारदः ॥
   विष्णुपुराण – 3/6/15.
2. पंचमानि पुराणस्य चाख्यानमितरत् स्मृतम् । स्कन्दपुराण

साक्षात्कार स्वयं वक्ता ने किया है उसे आख्यान कहते हैं एवं इसके विपरीत सुन सुने गये। अर्थ का कथन अर्थात् वक्ता के द्वारा परम्परया सुने गये अर्थ का जो वक्ता को पूर्ण अनुभूत नहीं था । इसका उपाख्यान शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है ।

इस विवेचन के अनुसार राम, नचिकेता, ययाति वामन आदि के कथानक जो परम्परया सुने हैं - रामोपाख्यान, नचिकेतोपाख्यान, ययात्युपाख्यान एवं वामनोपाख्यान आदि के नाम से क्रमशः अभिहित किया गया है । कुछ विद्वानों के मतानुसार यह भेद दृष्ट एवं श्रुत न होकर महत्-अल्प आकार का ही है । अर्थात् आकार में जो बृहत् हैं वह तो आख्यान है तथा अपेक्षाकृत जो स्वल्प आकार वाला कथानक है वह उपाख्यान के नाम से प्रसिद्ध है । इस आधार पर वामन-पुराण में वर्णित बलि वामन का कथानक आख्यान एवं उसके एकदेश में वर्तमान रहने वाला प्रह्लाद का कथानक 'उपाख्यान' के नाम से प्रसिद्ध है । इस दृष्टि से आख्यान और उपाख्यान में वही सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है जो सम्बन्ध कथा और अवान्तर कथा में है ।[1]

पुराणों के आख्यान प्रतीकात्मक होते हैं । इनके द्वारा किसी न किसी ऐतिहासिक वृत्त का भी संकेत मिलता है । ये आख्यान मात्र प्रतीकात्मक न होकर आध्यात्मिक रहस्यों की भी अभिव्यक्ति नितान्त बोधगम्य रूप से करते हैं । पौराणिक आख्यानों को गहराई से समझना भी आवश्यक है यदि हम पुराणों के एक-दो दृष्टान्तों को देखें तो पूर्वोक्त कथन का समर्थन तथा पुष्टि की जा सकती है । जैसे - दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वंस आख्यान ।[2]

---

1. पौराणिक धर्म एवं समाज, सिद्धेश्वरी नारायण राय, पृ0 15.
2. वामन पुराण, अध्याय 5, पृ0 12-16.

दक्ष प्रजापति ने अपने विशाल यज्ञ में शत्रुता से प्रेरित होकर शिव को कोई भाग नहीं दिया, जिससे क्रुद्ध होकर सती ने योगाग्नि द्वारा अपने शरीर को उस यज्ञ में भस्म कर डाला। इसी का दण्ड था दक्ष का यज्ञ-विध्वंस।

इस साधारण से आख्यान के भीतर एक गूढ़ आध्यात्मिक सत्य का महनीय संकेत है। दक्ष जगत् में नवीन रचना चातुरी का प्रतीक है और विज्ञान के जितने भी नवीन निर्माण हैं वह सब मानव की दक्ष (=दक्षता) के प्रतीक हैं। अतः दूसरे शब्दों में दक्ष भौतिकवाद का प्रतिनिधि है। नयी सृष्टि के उत्पादक होने के कारण वह प्रजापति भी है। दूसरी ओर शिव विश्व के समस्त कल्याण का प्रतीक है और उन्हीं शिव से दक्ष का विरोध बतलाया गया है।

भौतिकवाद (दक्ष) आध्यात्मिक कल्याण (शिव) की उपेक्षा कर स्वतः स्वतन्त्र रूप से अभ्युदय की कामना करता है किन्तु शिव का आग्रह है कि दक्ष को उसके सामने नतमस्तक होना चाहिए अर्थात् आध्यात्मिक समष्टि-कल्याण के समक्ष भौतिकवाद को नतमस्तक होना चाहिए। दोनों का यही संघर्ष जगत् में महान् अनर्थ का कारण बनता है। यद्यपि शिव से विरोध कर दक्ष रह नहीं सकता क्योंकि जामाता होने से शिव का पद उदात्त है और श्वसुर होने के नाते दक्ष का पद शिव से न्यून है लेकिन फिर भी दक्ष शिव से विद्रोह करता है जिससे उसके यज्ञ का तपः विध्वंस कर दिया जाता है क्योंकि जब समष्टि कल्याण के साथ भौतिकवाद का सामंजस्य स्थापित होता है तभी विश्व का कल्याण होता है अन्यथा नहीं। निष्कर्ष यह है कि विश्व के मंगल में शिव का ही प्राधान्य अपेक्षित है, दक्ष का नहीं। शिव का वाहन-वृषभ सांकेतिकता की दृष्टि से धर्म का प्रतीक है जिसका अर्थ है धर्म द्वारा प्रतिष्ठित कल्याण अर्थात् धर्म का आश्रय छोड़ देने पर कल्याण का उदय हो ही नहीं सकता। इसीलिए भौतिक सुख से सम्पन्न होने पर भी धर्म-विहीन समाज की कल्पना भारत की पुण्यमयी भूमि में नितान्त निराधार है।

पौराणिक आख्यानों एवं उपाख्यानों का यही रहस्य है ।

एक आधुनिक विद्वान् के कथनानुसार पौराणिक आख्यानों एवं उपाख्यानों की यह विशेषता रही है कि इनके माध्यम से विषयान्तर को व्यक्त किया जाता था एवं सर्ग प्रतिसर्ग आदि पुराणों के प्राथमिक वर्ण्य-विषयों को सुग्राह्य एवं सार्वजनीन बनाने के लिए प्रायः आख्यान का रूप दिया जाता था ।[1]

आख्यानों एवं उपाख्यानों को इनकी प्रकृति एवं वर्णन शैली के आधार पर चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं -

1. संवादात्मक आख्यान अथवा उपाख्यान ।
2. वर्णनात्मक आख्यान अथवा उपाख्यान ।
3. दानस्तुतिपरक आख्यान अथवा उपाख्यान ।
4. देवों के विविध कार्यों से सम्बद्ध आख्यान अथवा उपाख्यान ।

अतः स्पष्ट है कि आख्यान एवं उपाख्यान पौराणिक कथाओं की परि-चायिका होती है जिनका पुराणों से अविच्छिन्न सम्बन्ध है । उदाहरणार्थ यदि हम वामन पुराण के कथानकों का अवलोकन करें तो हम देखते हैं कि प्रारम्भ में ही पुलस्त्य और नारायण के संवाद में भगवान विष्णु के वामनावतार धारण करने के प्रसंग का विस्तृत उपाख्यान उपलब्ध होता है । विष्णुपरक होते हुए भी इसमें शिव-माहात्म्य, उमा-शिव-विवाह, गणेश की उत्पत्ति, कार्तिकेय का चरित्र, दक्षयज्ञ-विध्वंस आदि विषयों का बहुलता से वर्णन किया गया है । भगवान् शिव के तीर्थ-भ्रमण से सम्बन्धित कथाएँ एवं दुर्गा व पार्वती आदि से सम्बन्धित उपाख्यान

---

1. पौराणिक धर्म एवं समाज, डा० सिद्धेश्वरी नारायण राय, पृ० 52.

भी उपलब्ध है । यही कारण है कि प्रस्तुत आलोचित पुराण में साम्प्रदायिक संकीर्णता का सर्वथा अभाव है । बलि के महायज्ञ में भगवान वामन के आगमन और तीन पग भूमि की याचना कर सम्पूर्ण त्रैलोक्य को आक्रान्त कर बलि को पाताल लोक भेजने की कथा दो बार वर्णित है । शुम्भ-निशुम्भोपाख्यान तथा महिषासुरवधोपाख्यान भी इसमें संगृहीत है । पुराणकार ने देवासुर संग्राम को बड़े-बड़े उपाख्यानों का रूप देकर रोचक कथाओं के रूप में उपनिबद्ध किया है, जिससे अधर्म पर धर्म की विजय का सन्देश प्राप्त होता है ।

पुरूरवस उपाख्यान द्वारा दान की महिमा और भगवान विष्णु की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है । पुरूरवा ने भगवान विष्णु की आराधना करके विरूपता का परित्याग कर श्रीयुक्त रूप-लावण्य की प्राप्ति किस प्रकार की यही इस उपाख्यान में वर्णित है ।

शिव-माहात्म्य को सूचित करने वाली सुदर्शन-चक्र प्रदान करने की कथा भी वर्णित है जिसमें यह बताया गया है कि भगवान शिव व विष्णु की समाराधना से प्रत्येक इच्छित वस्तु प्राप्त की जा सकती है ।

वामनपुराण इसी प्रकार के अनेक आख्यानों, उपाख्यानों एवं कथाओं से संवलित है । धर्मतत्त्वों एवं नीतियों का इसमें बहुलता से उल्लेख मिलता है ।

<u>प्रासंगिक कथा के भेद</u>

जैसा कि पूर्व सूचित है, काव्य में जो इतिवृत्त नाम से वस्तु कही जाती है, वह दो प्रकार की होती है -

(1) आधिकारिक एवं

(2) प्रासंगिक

प्रधान कथावस्तु को आधिकारिक एवं उसके अंगभूत जो कथावस्तु होती है उसे प्रासंगिक कहते हैं ।[1] दूसरे शब्दों में नायक-नायिका आदि का वृत्तान्त जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) से युक्त हो और काव्य अथवा नाट्य के प्रारम्भ से फल-प्राप्ति पर्यन्त चलने वाला हो, वही आधिकारिक कथावस्तु है और उपनायक आदि का वृत्तान्त जो नायक के प्रयोजन के लिए हो और वह प्रयोजन अप्रधान हो, उसे प्रासंगिक कथावस्तु कहा जाता है । प्रस्तुत वामनपुराण में भगवान विष्णु का अदिति के गर्भ से वामन रूप में अवतरित होने से लेकर बलि के सुतल लोक गमन पर्यन्त की कथा आधिकारिक-कथावस्तु है तथा देवमाता अदिति एवं भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद आदि की चेष्टायें प्रासंगिक कथावस्तु है ।

विस्तार की दृष्टि से प्रासंगिक कथावस्तु को पताका एवं प्रकरी जैसे दो भेदों में विभक्त किया गया है -

<u>पताका</u>

जो प्रासंगिक कथा अनुबन्ध सहित होती है[2] तथा नाटक में मूलकथा के साथ दूर तक चलती है, वह पताका कहलाती है अर्थात् उपनायक का वृत्तान्त, जो फल की इच्छा करने वाले नायक के कार्यसिद्धि में सहायक होता है, वह पताका कहलाता है[3] जैसे वामन पुराण में प्रह्लाद का चरित 'पताका' का उदाहरण कहा

---

1. इतिवृत्तात्मकं वस्तु यत्काव्ये तद्द्विधा भवेत् ।।
   आधिकारिकमेकन्तु प्रासंगिकमथापरम् ।
   तत्राधिकारिकं मुख्यमंगं प्रासंगिकं विदुः ।। भावप्रकाशनम्,
   मदनमोहन अग्रवाल
2. सानुबन्धं पताकाख्यम् - भावप्रकाशनम्, डा० मदनमोहन अग्रवाल, पृ० 292.
3. उपनायकवृत्तान्तो नायकस्य फलार्थिनः ।
   साधको सम्पतो व्यापी सा पताकेति कथ्यते ।। वही, पृ० 292.

जा सकता है ।

<u>प्रकरी</u>

जो कथा केवल एक ही प्रदेश तक सीमित रहती है ।[1] अथवा जिसका फल केवल दूसरे के लिए ही कल्पित किया जाता है, उस अनुबन्ध विहीन कथा को 'प्रकरी' की संज्ञा दी गई है ।[2] दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि जो कथावस्तु पूर्व में तो किसी खास हेतु से अर्थात् किसी विशेष प्रयोजन के लिए कही जाये लेकिन बाद में कहीं भी दृष्टिगत न हो वह 'प्रकरी' कहलाती है । जैसे – वामनपुराण में बलि शुक्र संवाद के अन्तर्गत वर्णित कोशकार-सुत की कथा, प्रह्लाद तीर्थयात्रा प्रसंग में धुन्धु एवं त्रिविक्रम आख्यान तथा पुरूरवा के प्रसंग में प्रेत एवं वणिक की कथा आदि ।

इस प्रकार कथावस्तु में जिस प्रकार आधिकारिक कथा का महत्वपूर्ण स्थान है उसी प्रकार प्रासंगिक कथा भी अपने भेदोपभेद की दृष्टि से महत्वपूर्ण एवं अवि-स्मरणीय है । जिस प्रकार पताका अथवा ध्वजा किसी की चिन्ह-रूप होने से शोभा-कारक होती है उसी प्रकार नाटक अथवा कहानी में उपनायक आदि का वृत्तान्त होता है और जैसे वेदिका आदि की शोभा के लिए पुष्प, अक्षत, आदि सामग्रियों को एकत्र किया जाता है उसी प्रकार कथा अथवा नाटक के सौन्दर्य

---

1. प्रकरी च प्रदेशभाक् । भावप्रकाशनम्, डा० मदनमोहन अग्रवाल, पृ० 292.

2. फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थायैव केवलम् ।
   अनुबन्धविहीनां तां प्रकरीमिति निर्दिशेत् ।।
   पूर्वोक्त, भावप्रकाशनम् , पृ० 292.

विभिन्न प्रसंग अथवा उपाख्यान रूप प्रकरी पर आधारित होता है ।[1]

प्रस्तुत आलोचित पुराण के उपनायक भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद के प्रसंग को पताका की संज्ञा प्रदान की जा सकती है क्योंकि नायक भगवान वामन (विष्णु) के श्रेष्ठ भक्त होने के कारण विभिन्न प्रसंगों द्वारा प्रह्लाद की भक्ति को दर्शाया गया है साथ ही प्रह्लाद द्वारा विष्णु का अदिति के गर्भ में प्रविष्ट होने की बात सुनकर दैत्यराज बलि का विष्णु के प्रति दुर्वचन कहना, प्रह्लाद का बलि को श्रीच्युत होने का शाप देना एवं बलि द्वारा प्रह्लाद से अनुनय किये जाने पर प्रह्लाद बलि को उपदेश देना आदि प्रसंग आधिकारिक कथावस्तु के साथ दूर तक चलती रहती है साथ ही प्रधान नायक भगवान् वामन के कार्यसिद्धि में साधक भी है । इस प्रकार अधिकारिक (मूल) कथा वाचक भगवान वामन द्वारा बलि से त्रैलोक्य रूप फल प्राप्ति पर्यन्त बीच-बीच में चलते रहने के कारण प्रह्लाद के वर्णित प्रसंग[2] को पताका कहा जा सकता है ।

वामन पुराण के एक देश (भाग) तक सीमित रहने वाले सभी वृत्तान्त 'प्रकरी' कहे जायेंगे जैसे व सुकेशिचरित, महिषासुरवध प्रसंग, अन्धकविजय, कुरुक्षेत्र निर्माण प्रसंग में संवरण एवं तपती का वृत्तान्त, शिव-पार्वती वृत्तान्त, नमुचि-वध तथा शुम्भनिशुम्भ वृत्तान्त, स्कन्दोत्पत्ति, तथा श्रीदामा का वृत्तान्त आदि ।

---

1. यथा पताका कल्याणि शोभाकृद्विभूतितः ।
   स्वरूपोपनायकादीनां वृत्तान्तोऽप्यकमुच्यते ।।
   पूर्वोक्त, भावप्रकाशनम्, पृ0 293.

2. वामन पुराण, सरो0 माहा0 – 8 एवं 37, 40, 48, 51, 52, 55, 57, 58 तथा 67 अध्याय ।

प्रकरी का उपाख्यानत्व

प्रकरी और उपाख्यान का क्या सम्बन्ध है इस तथ्य की पुष्टि हेतु सर्व-प्रथम हमें प्रकरी और उपाख्यान के अर्थ पर दृष्टिपात करना चाहिए । प्रकरी एक ही प्रदेश तक सीमित रहने वाली कथा एवं उपाख्यान अर्थात् स्वल्प आकार वाली कथा । इस प्रकार एक ही प्रदेश तक सीमित रहने वाली स्वल्पाकार कथा प्रकरी अथवा उपाख्यान कहलाती है ।

एक निश्चित अवधि के पश्चात् विलीन हो जाने वाली यह प्रासंगिक कथा-वृत्त किसी भी इतिहास पुराण, काव्य अथवा नाट्य आदि में उतना ही महत्व-पूर्ण है जितना कि समुद्र के जल में उठे हुए प्रत्येक बुलबुले का महत्व अथवा समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व । अतः स्पष्ट है कि किसी भी ऐतिहासिक, सामा-जिक अथवा पौराणिक कथावस्तु में मूल अथवा आधिकारिक कथा का जितना महत्व होता है उतना ही प्रासंगिक इतिवृत्त प्रकरी अथवा उपाख्यान का भी ।
विभिन्न उपाख्यानों को मिलाकर मूल कथावस्तु को विस्तृत रोचक और प्रभावपूर्ण बनाया जाता है - इस दृष्टि से भी वस्तु-विशेष में उपाख्यानों की अनिवार्यता सिद्ध होती है । इन उपाख्यानों द्वारा विभिन्न विषयान्तरों को व्यक्त किया जाता है । अतः इनकी शोभा हेतु प्रकरी का सहयोग लिया जाता है क्योंकि जिस प्रकार पूजा के निमित्त एकत्र की गई पुष्प, गन्ध, अक्षत, समिधा, आदि पूजा की शोभा को बढ़ा देती है उसी प्रकार काव्य अथवा पुराण के अन्तर्गत आये हुए उपाख्यानों के मध्य प्रकरी का वर्णन सम्पूर्ण काव्य अथवा पुराण की शोभा को द्विगुणित कर देती है । जिस प्रकार उपाख्यान का नायक मूल कथा के नायक को सहयोग प्रदान करता है उसी प्रकार प्रकरी कथा भी मूलकथा के नायक को निःस्वार्थ भाव से सहयोग प्रदान करने वाली होती है । वामन-पुराण में उपाख्यान [illegible] के प्रसंग में विष्णु का बहुमूर्ति-स्वरूप वर्णन एवं बलि-गुरु-संवाद में शोकाकुल की

कथा आदि इस प्रकरी उपाख्यान का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है । चूँकि ये दोनों उपकथायें मूल कथा की फलप्राप्ति में सहयोग प्रदान करने के साथ-साथ पुराण की शोभा में भी वृद्धि करती हैं अतः इस दृष्टि से प्रकरी का उपाख्यान सिद्ध होता है । अतः वास्तव में काव्य और नाटक की प्रकरी ही पुराणों का उपाख्यान है और उपाख्यान ही प्रकरी है - ऐसा मान लेने पर दोनों की अभिन्नता प्रकट हो जाती है और हम दोनों को एक दूसरे का पर्याय भी कह सकते हैं ।

वामनपुराण के उपाख्यानों का क्रमिक विवेचन

विभिन्न धर्मतत्वों एवं नीतियों की बहुलता से युक्त प्रस्तुत वामनपुराण को अनेक उपाख्यानों और कथाओं से संवलित कर एक विस्तृत एवं सुबोध ग्रन्थ के रूप में मानव-जन के समक्ष प्रस्तुत किया गया है । पुराणों की कथा में एक प्रवाह लाने एवं सुग्राह्य बनाने की दृष्टि से ही वामन-पुराण में उपाख्यानों का क्रम से वर्णन किया गया है । जो इस प्रकार है -

1. दक्षयज्ञविध्वंसोपाख्यान

शिव और दक्ष द्रोह, सती द्वारा देह-त्याग एवं दक्षयज्ञविध्वंस आदि सभी कथायें पुराणों में परस्पर सम्बद्ध हैं । ब्रह्म, शिव, श्रीमद्भागवत एवं लिंग आदि पुराणों की भाँति वामन पुराण में भी दक्षयज्ञविध्वंस कथा प्रसंग का सुस्पष्ट वर्णन उपलब्ध है । अन्तर केवल इतना ही है कि वामन पुराण में दक्ष-यज्ञ-विध्वंस उपाख्यान को एक नवीन तथ्य के साथ वर्णित किया गया है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है, वह इस प्रकार है -

शिव पत्नी सती ने जब गौतम पुत्री जया द्वारा दक्ष-यज्ञ का समाचार सुना

और यह जानकर कि उस यज्ञ के अवसर पर शिव को छोड़कर अन्य सभी देवताओं को दक्ष द्वारा आमन्त्रित किया गया है, तो कुपित हुई सती ने अपनी उपेक्षा एवं पति शिव के अनादर का अनुभव कर क्रोध में आकर सती ने योगाग्नि से अपने देह को त्याग दिया । तदनन्तर शोक विह्वल जया से मरण का कारण जानकर सती-वियोग में दुःखी एवं क्रोधान्वित शिव ने अपने वीरभद्र आदि गणों के साथ दक्ष-यज्ञ में प्रवेश कर कालरूप धारणकर बाणों से यज्ञ को विध्वंस कर डाला।[1] सती का शरीरान्त पितृगृह में न होकर पतिगृह में हुआ, यही नवीन तथ्य है ।[2]

<u>शिवस्य कपालित्वम्</u>

ब्रह्महत्या के कारण भगवान शिव के करतल में दारुण कपाल के संश्लिष्ट होने की कथा वामनपुराण में इस प्रकार वर्णित है -

परमात्मा द्वारा अतिदारुण अहंकार की सृष्टि से आक्रान्त हुए ब्रह्मा और शिव में परस्पर विवाद छिड़ जाने एवं लोकपति शंकर के पराजित होने पर क्रोधान्धकारित रुद्र (शिव) से ब्रह्मा जी के पाँचवें मुख ने कहा - हे त्रिलोचन मैं आपको पहचानता हूँ । ब्रह्मा द्वारा ऐसा कहे जाने पर क्रुद्ध शंकर ने ब्रह्मा को भस्म करने की कामना से निरन्तर उनका अवलोकन किया जिससे शिव के पाँच मुख समुद्भूत हुए।[3] शिव के उद्भूत मुखों को देखकर ब्रह्मा ने कहा कि समाहत जल में बुद्बुदे तो उत्पन्न होते हैं किन्तु क्या उनमें पराक्रम होता है ।[4] ब्रह्मा के वचनों से क्रुद्ध हुए शिव ने नखाग्रभाग से ब्रह्मा का सिर काट दिया । शिव द्वारा कटा हुआ ब्रह्मा का वह सिर शिव के वाम हथेली पर गिरा और किसी भी प्रकार हथेली से नीचे नहीं गिरा ।

---

1. वामनपुराण 2/7-5/61
2. वही, 4/10
3. वामनपुराण 2/34.
4. वही, 2/35.

तदनन्तर शिव ब्रह्मा के पास गये और उनकी आराधना करके उनसे ब्रह्म-हत्या के पाप से छूटने का उपाय पूछा । ब्रह्मा ने शिव को विष्णु की शरण में भेज दिया । शिव ने विष्णु के पास जाकर उनकी आराधना की । विष्णु द्वारा ब्रह्म-हत्या की कमन्यता बतलाये जाते हुए शिव को वाराणसी में स्थित भगवान लोल (रवि) के आश्रम में, जहाँ विष्णु अंशरूपेण स्थित है, वहाँ पाप निवृत्ति हेतु भेज दिया गया ।

तदनन्तर परमतीर्थ नगरी में जाकर भगवान शिव ने दशाश्वमेध के साथ भगवान लोल का दर्शन किया और पापमुक्त होकर केशव का दर्शन किया । तदु-परान्त ब्रह्महत्या के नष्ट होने पर भी करतल से कपाल न गिरने के कारण खिन्न हुए शिव को भगवान विष्णु ने कमलों से युक्त दिव्य हृद में स्नान करने को कहा । उस परम श्रेष्ठ तीर्थ में स्नान करते ही भगवान शंकर के करतल से वह दारुण कपाल गिर पड़ा । तदुपरान्त भगवान की कृपा से उस तीर्थ का नाम कपालमोचन पड़ा।[1]

<u>उर्वशी जन्मोपाख्यान</u>

भगवान शिव द्वारा भस्मीभूत अनंग (कामदेव) को देखकर हँसते हुए भगवान नारायण ने दासगण की अप्सराओं का अवलोकन कर एक कुसुमावृत्त मंजरी द्वारा अपने उरु पर एक सुवर्णांगी बाला की सृष्टि की जिसे देखकर कन्दर्प व्याकुल हो उठा । नख से शिर पर्यन्त सर्वांग सुन्दरी उस बाला को देखकर काममोहित कामदेव उसमें अपनी प्रिया रति की परिकल्पना करने लगे । तदनन्तर नारायण देव ने कन्दर्पादि को विस्मयान्वित देखकर, अपने उरु से उत्पन्न बाला उर्वशी को इन्द्र के पास स्वर्गलोक भेज दिया ।[2] भगवान नारायण के उरु से उत्पन्न होने के

---

1. वामनपुराण 2-78-3/5।　　　　2. वामनपुराण 7/1-19

कारण ही उस रूप-यौवन-शालिनी बाला का नाम उर्वशी रखा गया, ऐसा विद्वानों का मत है ।

कामदेव अनंगत्वप्राप्त्याख्यान

महाधनुर्धर कामदेव को देवों द्वारा 'अनंग' क्यों कहा गया इसका वर्णन वामन-पुराण में इस प्रकार वर्णित है कि -

दक्ष-पुत्री सती के देहावसान के पश्चात् दक्ष यज्ञ का विध्वंस कर भगवान शिव को पत्नी के वियोग में दुःखित देखकर कुसुमायुध कन्दर्प ने अपने उन्माद नामक अस्त्र से शिव को आहत कर उन्मत्त बना दिया जिससे महादेव सती का स्मरण करते हुए विरहाग्नि में और भी अधिक दग्ध हो उठे ।

तदनन्तर कामसन्तप्त शिव को कामदेव ने सन्ताप एवं विजृम्भण नामक बाण से आविद्ध किया जिससे अत्यधिक व्याकुल होकर शिव ने पांचालिक नामक पुत्र को उन बाणों को धारण करने का अनुग्रह कर स्वयं विन्ध्यगिरि चले गये । वहाँ भी कामदेव ने शिव का पीछा नहीं छोड़ा और शिव के साथ दारुवन में प्रवेश कर उन्हें सन्तापित करना चाहा लेकिन शिव ने कामदेव को अपने सामने देखकर उस पर अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टि डाली जिससे द्युतिमान् कामदेव पैर से लेकर वक्षपर्यन्त दग्ध हो गया ।

तदनन्तर कुसुमायुध मदन द्वारा फेंके गये श्रेष्ठ धनुष के पाँच टुकड़े हो गये । इस प्रकार शरीर के भस्म हो जाने पर देवताओं में प्रथम पूजित वह कामदेव 'अनंग' कहा जाने लगा ।[1]

---

1. वामनपुराण, 6/23-107.

शिवस्य लिंगोद्भवाख्यान

वामन पुराण में वर्णित इस मौलिक आख्यान का केवल आंशिक रूप ही यहाँ उपलब्ध है । इसमें एक ऐसी कथा का सन्निवेश है, जो जनसाधारण में संभवतः काफी प्रचलित थी । इस विवरण के अनुसार सती के देहावसान के पश्चात् कामदेव ने दुःखी शिव का पीछा किया । उसके प्रभाव से बचने के लिए शिव ने विन्ध्या-चटी का आश्रय लिया, दारुवन में प्रवेश किया, लेकिन कामदेव ने वहाँ भी शिव का पीछा नहीं छोड़ा । इस दारुवन में ऋषिगण अपनी पत्नियों के साथ निवास करते थे । जब शिव ने ऋषिपत्नियों से भिक्षा की याचना की तो शिव को नग्नावस्था में देखकर ऋषियों ने अपना सिर झुका लिया । पर ऋषिपत्नियाँ शिव की उस नग्न मुद्रा को देखकर उनकी ओर आकर्षित हो गई । वे गृह-कार्यों को छोड़कर शिव के पीछे-पीछे घूमने लगीं, जिससे क्रुद्ध हुए ऋषिगण ने शिव-लिंग को च्युत होने का शाप दिया । उनके शाप के कारण शिव लिंग च्युत हो गया और वह रसातल में प्रविष्ट होकर पृथ्वी पर ऊर्ध्व स्थिति में व्याप्त हो गया । ऐसी दशा में सम्पूर्ण चर और अचर में बड़ी खलबली मच गयी । ब्रह्मा और विष्णु परस्पर विमर्श करने लगे । जब उन्होंने पृथ्वी पर स्थित शिवलिंग को देखा तो वे आश्चर्य और जिज्ञासा से ओत-प्रोत हो गये । ब्रह्मा ने द्युलोक तथा विष्णु ने रसातल का भ्रमण किया । पर, अनन्त शिवलिंग के अवसान का उन्हें कहीं पता ही न चल सका । तत्पश्चात् वे फिर उसी स्थान पर गये, जहाँ शिवलिंग पहले च्युत हुआ था । वहाँ पहुँचकर ब्रह्मा और विष्णु ने शिवलिंग की परिक्रमा की, तथा हाथों में अंजलि लेकर शिव की अर्चना करते हुए उनसे च्युत लिंग को पुनः धारण कर लेने का निवेदन किया, पर शिव ने शर्त रखा कि वे लिंग को तभी धारण करेंगे जब कि शिव-लिंग की पूजा को विश्व में प्रतिष्ठित किया जाये । भगवान विष्णु

---

1. वामनपुराण, 6/56-72.

ने शिव के इस शर्त को स्वीकार किया तथा ब्रह्मा ने स्वयं उस सुवर्णमुखी लिंग को अपने हाथों से उठाया । इस प्रकार विश्व में शिव-लिंग की अर्चना प्रारम्भ हो गई ।[1]

इस आख्यान के माध्यम से यह बताया गया है कि लिंग वह आवरण है, जो चित्त शक्ति को अव्यक्त रखता है क्योंकि चित्तशक्ति से सृष्टि को जीवन और गति प्राप्त होती है, अतएव वह श्रद्धा और उपासना का विषय है । साथ ही इस पौराणिक आख्यान से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदोत्तरवर्ती समाज के विशिष्ट और वेद-समर्थक वर्ग में लिंग पूजा के वैदिक दृष्टिकोण का तिरोभाव अभी पूर्ण रूप से नहीं हुआ था ।[2]

नर-नारायणाभ्यां प्रह्लादस्य युद्धम्

प्राचीन काल में हिरण्यकशिपु के मारे जाने के पश्चात् राज्याभिषिक्त हुए दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लाद के शासन काल में राजा लोग विधिपूर्वक यज्ञों का अनुष्ठान, ब्राह्मण लोग तपस्या, धर्म काम एवं तीर्थयात्रा, वैश्य पशुपालन एवं शूद्र लोग शुश्रूषा आदि धर्मकार्यों में तत्पर थे ।

एक बार नर्मदा के नकुलीश्वर तीर्थ में स्नान करने को गये भार्गवश्रेष्ठ महातपस्वी च्यवन ऋषि को जल में केकर लोहित साँप ने पकड़ लिया था । उस साँप द्वारा गृहीत ऋषि ने ज्यों ही भगवान हरि का स्मरण किया वह नाग विषहीन हो गया और उसने ऋषि को ले जाकर रसातल में छोड़ दिया, जहाँ नागकन्याओं

---

1. वामनपुराण, 6/73-86

2. पौराणिक धर्म और समाज, डा० सिद्धेश्वरी नारायण राय, पृ० 394.

द्वारा पूजित एवं विचरण करते हुए उन भार्गवश्रेष्ठ ऋषि को दैत्येन्द्र प्रह्लाद ने
देखा और उनकी यथायोग्य पूजा-सत्कार करके उनसे आगमन का कारण पूछा ।
ऋषि च्यवन सम्पूर्ण वृत्तान्त को सुनकर दितीश्वर प्रह्लाद ने उनसे पृथ्वी, आकाश
और पाताल के तीर्थों के बारे में पूछा । तदनन्तर दैत्येन्द्र प्रह्लाद ने अन्य दैत्यों
के साथ रसातल से निकलकर अतिपवित्र नैमिषारण्य तीर्थ को प्रस्थान किया ।
वहाँ मृगया के लिए विचरण करते हुए उन्होंने कृष्णाजिनधारी, जटायुक्त एवं
तपस्या में लीन दो मुनियों नर एवं नारायण। को शार्ङ्ग एवं आजगव नाम दिव्य
धनुष एवं तरकस से युक्त देखकर उन्हें दाम्भिक समझकर उनकी अवहेलना की ।
तदनन्तर नर ने प्रह्लाद को अपनी प्रचण्ड शक्ति का परिचय देते हुए बताया कि
'हम नर' और नारायण से समर में कोई भी युद्ध नहीं कर सकता' जिसे सुनकर
क्रुद्ध हुए प्रह्लाद ने युद्ध में नर और नारायण को जीतने की प्रतिज्ञा की ।

तदनन्तर दितीश्वर प्रह्लाद और नर युद्ध प्रांगण में एक दूसरे पर सैकड़ों
सुतीक्ष्ण बाणों की वर्षा की किन्तु दोनों में कोई भी एक दूसरे को पराजित न
कर सके ।

तदनन्तर नारायण ने गदापाणि दैत्य को सामने आते देखकर स्वयं युद्ध की
इच्छा से नर को पीछे कर प्रह्लाद से युद्ध करने लगे । इस प्रकार सहस्त्र वर्षों तक
पुरुषोत्तम नारायण से युद्ध करते हुए भी दैत्यश्रेष्ठ प्रह्लाद जब उन्हें पराजित न कर
सकें । तो उन्होंने पीताम्बरधारी विष्णु के पास जाकर इसका कारण पूछा ।
विष्णु के द्वारा महाबाहु धर्मपुत्र को दुर्जेय बतलाये जाने पर प्रह्लाद ने भगवान से
अपने को दीन-दुःखित बतलाकर भगवान के सामने अपने शरीर का शोषण करना
चाहा किन्तु भगवान विष्णु ने दितीश्वर को ऐसा करने से रोकते हुए कहा – कि
जाओ तुम नर एवं नारायण को भक्ति से जीत सकोगे, युद्ध से कदापि नहीं ' क्योंकि

---

1. वामनपुराण 7/22-8/72.

वह मैं ही हूँ। भगवान के वचनों को सुनकर दानवेन्द्र ने उनसे क्षमायाचना की और अन्धक को बुलाकर उसे राज्य का भार सौंपकर स्वयं पवित्र बदरिकाश्रम चले गये। वहाँ पर नर एवं नारायण देव को देखकर उनके चरणों में नतमस्तक होकर क्षमायाचना करते हुए प्रह्लाद ने उनकी विभिन्न प्रकार से स्तुति की जिससे प्रसन्न हुए भगवान नर एवं नारायण ने उनसे कहा कि मैं तुम्हारे अनन्य भक्ति से पराजित हो गया हूँ। इस प्रकार प्रसन्न हुए नर-नारायण देव ने प्रह्लाद को इच्छित वर प्रदान कर उसे पुनः धर्मों के अनुष्ठान एवं राज्य का पालन करने हेतु रत किया। तदनन्तर महासुरेन्द्र प्रह्लाद अन्धक आदि दानवों द्वारा पुनः राज्य स्वीकार करने को आमन्त्रित किये गये किन्तु प्रह्लाद ने राज्य न स्वीकार करते हुए अन्धकादि दानवेन्द्रों को शुभ मार्ग में नियोजित कर स्वयं भगवान केशव के ध्यान और स्मरण में चित्त को संलग्न कर अवस्थित हुए।

<u>अन्धकविजयोपाख्यान</u>

हिरण्याक्षतनय दैत्येन्द्र अन्धक ने जब राज्याभिषिक्त होकर तपस्या द्वारा
से पन्नगों [illegible], अग्नि द्वारा
त्रिलोचन की आराधना कर उनसे सुर, सिद्ध, ऋषि, अदाह्यत्व और जल से अक्लेद्यत्व रूप वरदान प्राप्त कर राज्य का पालन करते हुए एवं शुक्राचार्य को पुरोहित पद पद नियुक्त कर निवास करते हुए, सम्पूर्ण पृथ्वी को आक्रान्त कर श्रेष्ठ राजाओं के अपनी सहायता में नियुक्त, कर वह मेरु-पर्वत के शिखर पर पहुँचा।

दैत्येन्द्र को सेना-सहित आया हुआ देखकर इन्द्र भी देव-सेना को सजाकर ऐरावत पर आरूढ़ होकर दैत्यों से युद्ध करने हेतु 'अमरावती' की सुरक्षा की व्यवस्था कर बाहर निकले। दोनों सेनायें (देव सेना एवं दानव सेना) युद्ध भूमि में अपने-अपने वाहनों सहित एकत्र हो गईं। तदनन्तर संग्राम आरम्भ होने पर सहस्राक्ष (इन्द्र) ने दैत्यों को महान् धनुष एवं बाणों से आघात किया। दैत्यराज अन्धक ने भी वेगशाली एवं तेजस्वी धनुष बाणों को इन्द्र के ऊपर फेंका। इस

प्रकार दोनों ने एक दूसरे को विभिन्न तीक्ष्ण बाणों से आहत किया, क्रोधयुक्त हुए इन्द्र ने हाथ से वज्र घुमाकर दैत्यराज के ऊपर फेंका, जिसे देखकर अन्धक ने भी महास्त्रों बाणों, अस्त्रों एवं शस्त्रों से प्रहार किया । लेकिन इन्द्र के वज्र ने उन सभी शस्त्रों को भस्म कर डाला । तदनन्तर वेगपूर्वक करीब आते हुए वज्र को अन्धक ने अपनी मुष्टि के प्रहार से तोड़कर भूमि पर गिरा दिया और ऐरावत को अपने विभिन्न प्रहारों से जर्जर कर पृथ्वी पर गिरा दिया । जिससे इन्द्र भयभीत होकर अमरावती को चले गये । तदनन्तर देव श्रेष्ठ यम दण्ड घुमाते हुए प्रह्लाद को मारने दौड़े, जिससे दैत्य सेना में खलबली मच गई, उस आक्रन्दन को सुनकर हिरण्याक्षतनय अन्धक ने वेगपूर्वक दौड़कर मेघ सदृश गर्जन किया जिसे सुनकर दैत्यगण प्रसन्न हो गये और सूर्यतनय यम भयभीत होकर अन्तर्धान हो गये ।

धर्मराज के अन्तर्हित होने के पश्चात् जब प्रह्लाद ने देव सेना को चारों ओर से विदीर्ण किया तब वरुण देव ने भी महान् असुरों को पाशों से बांधकर विदीर्ण किया जिससे क्रुद्ध हुए दनुजेश्वर ने वरुण को वाहनों सहित कुचल डाला । कुचले जाते हुए महात्मा वरुण ने वेगपूर्वक उठकर विरोचन को उठाकर आकाश में फेंक दिया, जिससे विरोचन हाथी सहित पृथ्वी पर गिराया गया जैसे भास्कर द्वारा आकाश से पृथ्वी पर गिराया गया सुकेशि का नगर ।

तदनन्तर गदा और पाश लेकर दैत्यों को मारने के लिए दौड़ते हुए वरुण को जम्भ-कुम्भादि दैत्यों ने अस्त्रों के प्रहार से मारकर देवसेना का मर्दन किया । और अन्त में अन्धक ने वरुण को ललकारा जिससे भयभीत हुए वरुण समुद्र में प्रविष्ट कर गये ।

वरुण के छिप जाने के बाद अग्निदेव ने मय-शम्बर आदि दानवों के साथ युद्ध किया जिनको पराजित हुआ देख हिरण्याक्षसुत अन्धक ने अग्नि को क्रोध से उठाकर पृथ्वी पर पटक दिया जिससे अग्नि देव भी भयभीत होकर रणक्षेत्र से भाग

बढ़े हुए। इस प्रकार क्रमशः इन्द्र, रुद्र, यम, सोम आदि देवताओं को पराजित कर अन्धक ने सम्पूर्ण भूतल पर अपना एकछत्र अधिकार स्थापित कर लिया।[1]

सुकेशिचरितम्

निशाचरों के राजा विद्युत्केशी के पुत्र सुकेशि न भगवान शिव की आराधना से एक आकाशचारी नगर और शत्रुओं से अवध्य होने का वरदान प्राप्त किया था। एक बार मगधारण्य को गये हुए उसके द्वारा मुक्ति की आकांक्षा से महर्षियों से लोक एवं परलोक के विषय में पूछे जाने पर महर्षियों ने उसे लोक एवं परलोक में जो श्रेष्ठ धर्म है उसके विषय में बताया।

तत्पश्चात् पुष्करद्वीप में स्थित रौरवादि घोर नरकों का वर्णन कर जम्बू द्वीप, के मुख्य पर्वतों, नदियों, जनपदों आदि का वर्णन करके पर्वताश्रित देशों के धर्मों का वर्णन किया। तदनन्तर अपने उत्तम नगर में जाकर सुकेशि ने सभी राक्षसों से धर्म की बात कही जिससे सभी राक्षस अहिंसादि सपोदश अंगवालों धर्म का अनुष्ठान कर अतिशय वृद्धि को प्राप्त हुए। उन राक्षसों के तेज से सूर्य, नक्षत्र और चन्द्रमा भी शिथिल हो गये जिससे सुकेशि का नगर दिन में चन्द्र के समान और रात में सूर्य के समान प्रतीत होने लगा। जिसे देखकर लोगों में विभिन्न उत्प्रेक्षाओं द्वारा अपने संशय को व्यक्त किया। तदुपरान्त समस्त धर्मों के विनाशक राक्षसों के स्वधर्म-विच्युति रूपी छिद्र को ज्ञात कर क्रोधित हुए सूर्यदेव ने क्रोधपूर्ण दृष्टि से सुकेशि के नगर को आकाश से गिरा दिया, जिससे क्रुद्ध हुए भगवान शंकर ने सूर्य को आकाश से नीचे गिरा दिया। तदुपरान्त भगवान शिव से क्षमा याचना हेतु सूर्य मन्दर पर्वत को गये और वहाँ से ब्रह्मा द्वारा वाराणसी को लाये

---

1. वामनपुराण, 9/1-10/57.

गये। यहाँ भगवान शंकर द्वारा दिवाकर को हाथ से उठाकर उसका 'लोल' नाम रखे जाने और रथ पर पुनः आरोपित स्थापित किये जाने के पश्चात् ब्रह्मा ने सुकेशि को पुनः आकाश में आरोपित कर दिया।[1]

कात्यायनीचरिते महिषविध्वंसोपाख्यानम्

प्राचीन काल में रम्भासुर के पुत्र महिषासुर द्वारा पराजित देवताओं की रक्षा हेतु ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवों द्वारा अर्पित तेज को समन्वय कर एवं संगठित रूप से उसका नेतृत्व करती हुए देवी कात्यायनी महिषासुर का वध करने हेतु आविर्भूत हुई। विन्ध्यपर्वत के उपत्यका पर स्थित देवी को प्राप्त करने के इच्छा से महिषासुर द्वारा भेजे गये चण्ड-मुण्ड चमर और रक्तबीज आदि असुरगणों द्वारा जब देवी के समक्ष महिषासुर का प्रस्ताव निवेदित किया, तब कुपित हुई देवी कात्यायनी ने महिषासुर की सेना को अत्यन्त पीड़ित कर महिषासुर को पाशों से आबद्ध कर अनेक प्रकार से ताड़ित किया। जिससे गतिहीन हुए महिषासुर के कण्ठ को देवी ने शूल से काट दिया। कटे हुए कंठ से एक खड्गधारी पुरुष निकला जिसके हृदय पर आघात कर देवी ने उसका सिर काट डाला। महिषासुर के धराशायी होते ही देवताओं में आनन्द की लहर दौड़ जाती है एवं पुनः इन्द्र तत्पश्चात् स्वर्ग पर अधिष्ठित हो जाते हैं और देवी कात्यायनी दुर्गा। अन्तर्धान हो जाती हैं।[2]

अगस्त्येन विन्ध्यस्य निम्नीकरणम्

विन्ध्य पर्वत द्वारा अवरुद्ध गति को प्राप्त हुए नभविहारी सूर्य ने जब

---

1. वामनपुराण 11/1-16/63.
2. वही, 18/39-21/52.

महर्षि अगस्त्य के पास जाकर अभीष्ट दान की कामना करते हुए निश्चिन्त पूर्वक आकाश में विचरण करने एवं विन्ध्याचल को नीचा करने की प्रार्थना की, तो महर्षि अगस्त्य ने सूर्य से कहा कि - मेरे द्वारा तुम विन्ध्य को नीचा किया हुआ ही समझो । यह पर्वत तुम्हारी किरणों से पराजित होगा । ऐसा कहकर विन्ध्यपर्वत को निकट गये महर्षि अगस्त्य ने पर्वतोत्तम से कहा - मैं अभिलषित महातीर्थ जा रहा हूँ । वृद्ध होने के कारण मैं तुम्हारे ऊपर चढ़ने में असमर्थ हूँ अतः आप शीघ्र ही नीचा हो जायें । तदुपरान्त शीघ्र ही निम्न शिखर को प्राप्त हुए विन्ध्यपर्वत को पारकर महर्षि ने विन्ध्य से कहा कि 'जब तक मैं न लौटूँ तब तक तुम मत बढ़ना, अन्यथा मैं तुम्हें शापित करूँगा । ऐसा कहकर भग-वान् अगस्त्य उस पर्वत पर अतिरमणीय आश्रम की रचना कर दक्षिण दिशा की ओर अन्तरिक्ष में चले गये और विन्ध्य-पर्वत महर्षि के न लौटने के कारण सहस्रों वर्षों से शिखर नीचा किये हुए स्थित है ।

इस प्रकार महर्षि अगस्त्य ने महान् पर्वतराज को निम्नशृंग वाला बना दिया ।[1]

संवरणकुरूपाख्यानम्

ब्रह्मादि देवों द्वारा भगवान् वासुदेव से कुरुक्षेत्र एवं पृथूदक तीर्थ के विषय में पूछे जाने पर कैटभारि मुरारि ने देवताओं से कुरुक्षेत्र की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए बताया कि सत्य-युग के आदि में सोमवंश में उत्पन्न महापराक्रमी राजा ऋक्ष का पुत्र संवरण बड़ा ही धर्मनिष्ठ और शीलवान् था । पुरोहित वसिष्ठ द्वारा वेदों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर वन में जाकर मृगयासक्त हुए उस राजपुत्र ने विचरण

1. वामनपुराण, 19/21-35.

करते हुए, देवकन्याओं में अतिसुन्दर तपती नाम की कन्या को देखा । कामबाण से पीड़ित वह सुन्दरी भी राजा संवरण को देखते ही मोहित हो गई । काम-पीड़ित वे दोनों जब मूर्छित हो गये तो अप्सरायें उन्हें उठाकर पितागृह में ले गईं। कल्याण में स्थित वह राजा घोड़े पर आरूढ़ हो पुलिन्दकापुर को चल दिया ।

देवकन्या तपती के रूप से मोहित संवरण के अत्यन्त विचलित हो जाने पर वशिष्ठ ने सूर्यमण्डल में प्रविष्ट होकर सूर्यदेव को प्रणाम कर संवरण के लिए उनकी कन्या की याचना की । भास्कर द्वारा समर्पित उस कन्या को लेकर अपने वशि-ष्ठाश्रम आने पर सूर्यकन्या तपती ने वशिष्ठ से हाथ जोड़कर निवेदन किया कि - हे ब्राह्मण् राजपुत्र संवरण के मनकों को जानने वाली मैं उनको पूर्व ही पति रूप में वरण कर चुकी हूँ अतः आप मुझे संवरण के ही प्रदान करें, अन्य को नहीं । प्रसन्न हुए वशिष्ठ ने सूर्य-तनया तपती को संवरण के हाथ सौंपे जाने का वचन दिया ।

तदुपरान्त वशिष्ठाश्रम में प्रविष्ट हुए संवरण ने वशिष्ठ देव को प्रणाम कर तपती के बारे में पूछा । तत्पश्चात् वशिष्ठ देव ने बताया कि वह पृथ्वी में तपती नाम से प्रसिद्ध सूर्यतनया है जिसे उसी के लिए सूर्यदेव से माँग कर लाया गया है । ऐसा कहकर देववशिष्ठ ने संवरण एवं तपती का पाणिग्रहण संस्कार कर, आशीर्वाद दिया । इस प्रकार सूर्यतनया तपती इन्द्र तुल्य प्रभाव वाले अपने पति (संवरण) के साथ-रमण करने लगी ।[1]

कुरुक्षेत्र निर्माण वृत्तान्त

संवरण पुत्र कुरु ने अपनी पत्नी सौदामनी के साथ धर्म और अर्थ का पालन

---

1. वामनपुराण पृ0 22/23-41.

करते हुए एवं युवराज पद पर अभिषिक्त होने पर सन्तान की भाँति प्रजा का पालन करते हुए इस संसार में कीर्ति को सर्वश्रेष्ठ जाना तब वह नृपतिश्रेष्ठ कीर्ति के लिए समस्त पृथ्वी पर विचरण करने लगे । द्वैतवन पहुँचने पर वे हजारों तीर्थों से आवृत्त सरस्वती नदी के जल में स्नान कर उत्तर दिशा में अवस्थित वेदी समन्तपंचक पर गये । वहाँ जाकर राजर्षि कुरु ने इस क्षेत्र समन्तपंचक को महाफलदायी बनाने को सोचा और वहाँ एक अतुलनीय स्थान का निर्माण कर स्वर्ण हल में, शंकर के वृषभ को संयुक्त कर स्वयं कर्षण करने लगे ।

उसी समय इन्द्र ने कर्षण कर रहे नरश्रेष्ठ से पूछा कि आप यहाँ क्या कर रहे हैं - तो नरश्रेष्ठ ने इन्द्र से कहा कि मैं तप, सत्य, क्षमा, दया, शौच, दान, योग और ब्रह्मचर्य अष्टांग महाधर्मों का कर्षण कर रहा हूँ । नृपति के ऐसा कहने पर इन्द्र ने कहा - हे नृप ! बीज कहाँ है ? ' राजा ने कहा 'बीज मेरे शरीर में है' और इन्द्र के द्वारा बीज माँगे जाने पर राजा ने क्रमशः अपने हाथों, अंगों एवं मस्तक को दिया, जिससे प्रसन्न हुए इन्द्र ने राजा कुरु से वर माँगने को कहा । कुरु ने कहा - जितने स्थान को मैंने जोता है वह धर्मक्षेत्र बन जाये और यहाँ स्नान करने वालों तथा मरने वालों को महापुण्य फल की प्राप्ति हो । इन्द्र ने 'एवमस्तु' कहकर महीपति को दिव्य शरीर प्रदान कर कहा कि अन्तकाल में तुम मेरे में लीन हो जाओगे । तुम्हारी कीर्ति शाश्वती होगी और यहाँ यज्ञ क्षेत्र में सहस्त्रों याजक यज्ञ करेंगे । ऐसा कहकर इन्द्र ने उस क्षेत्र समन्तपंचक की रक्षा हेतु विभिन्न रक्षकों को नियुक्त किया जो कालान्तर में कुरुक्षेत्र अथवा कुरु-जांगल नाम से प्रसिद्ध हुआ । इसी के मध्य अति पवित्र एवं कल्याणकारी पृथूदक तीर्थ भी है, जहाँ महासमुद्रों, तीर्थों, नदियों एवं सरोवरों का जल एकत्र हो प्राप्त होता है ।[1]

---

1. वामनपुराण 23/1-45.

<u>मंकणोपाख्यान</u>

एक बार महर्षि कश्यप के मानसपुत्र मंकणमुनि जब स्नान करने को गये तो वहाँ रम्भादि सुन्दरी अप्सरायें भी उनके साथ स्नान करने लगीं, जिससे कोमलमना मुनि का वीर्य जल में स्खलित हो गया। महामुनि (मंकणक) ने उसे उठाकर घड़े में रख लिया, कुछ दिनों के पश्चात् कलश में स्थित वीर्य सात भागों में विभक्त हो गया जिससे सात मरुद्गण उत्पन्न हुए।[1] इसी प्रकार एक बार मंकणक मुनि के हाथ में कुशाग्र द्वारा घाव हो गया, जिससे शाकरस निकलने लगा। शाकरस को देखकर प्रसन्न हो वे महामुनि नाचने लगे, जिससे भयभीत हुए ब्रह्मादि देवताओं ने महादेव से उनके (मंकणक मुनि के) नृत्य को रोकने की प्रार्थना की। तदनन्तर मुनि द्वारा महादेव से हर्ष का कारण बताये जाने पर देवाधिदेव (शिव) ने अंगुलि के अग्रभाग से अपने अंगुष्ठ पर प्रहार किया जिससे हिम तुल्य (स्वच्छ) भस्म निकलने लगा। उसे देखकर लज्जित हुए मंकणक मुनि महादेव के चरणों में गिर पड़े और क्षमा याचना कर स्तुति करने लगे, जिससे प्रसन्न हो भगवान उन्हें सहस्त्र वर्षों की तपस्या का फल प्रदान कर, नित्य उनके साथ आश्रम में निवास करने लगे।[2]

<u>रहोदरोपाख्यान</u>

प्राचीन काल में दण्डकारण्य में रहते हुए महात्मा राघव ने जब राक्षसों का वध किया, तो उस समय एक दुरात्मा राक्षस का सिर क्षुर बाण से कटकर उस महावन में गिरा। संयोगवश वह सिर वन (दण्डकारण्य) में विचरण कर रहे

---

1. वामनपुराण, सरो० माहा०, 17/5-6.

2. वामनपुराण, स० मा०, 17/1-23.

रहोदर मुनि की जंघा में हड्डी को तोड़कर संलग्न हो गया जिससे वे महामुनि तीर्थों और देवालयों में जहाँ जा पाते थे । उस दुर्गन्धपूर्ण स्राव से दुःखी वे महामुनि पृथ्वी के समस्त तीर्थों का भ्रमण करते हुए औशनस तीर्थ गये और वहाँ (औशनसतीर्थ) के जल का स्पर्श करते ही वह मस्तक उनके चरणों से अलग होकर जल में गिर गया । तदनन्तर निष्ठित, पवित्रात्मा एवं पापरहित होकर वे मुनि प्रसन्नतापूर्वक आश्रम में आये और अन्य ऋषियों से समस्त वृत्तान्त बताया । जिसे सुनकर उन सभी ऋषियों ने उस उत्तम (औशनस) तीर्थ का नाम 'कपालमोचन' रख दिया ।[1]

<u>वातिस्वर-रुषंगूपाख्यान</u>

सदैव गंगाद्वार में रहने वाले वातिस्वर रुषंगु ने अपना अन्तकाल उपस्थित देखकर, कल्याण की कामना से, पुत्रों द्वारा पृथूदक तीर्थ लाये गये । सरस्वती (पृथूदक) तीर्थ को आये हुए उन ऋषिश्रेष्ठ ने सरस्वती में स्नान करने के उपरान्त समस्त तीर्थगुणों का स्मरण कर कहा – कि सरस्वती के उत्तरस्थ पृथूदक तीर्थ में शरीर-त्याग करने वाला जपपरायण मनुष्य निश्चय ही देवत्व को प्राप्त करता है । यही ब्रह्मा द्वारा निर्मित ब्रह्मयोनि तीर्थ है जहाँ सरस्वती के किनारे अवस्थित पृथूदक में स्थित होकर ब्रह्मा चातुर्वर्ण्य की सृष्टि हेतु आत्मध्यान को तत्पर हुए थे और यहीं ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य एवं पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए थे । यहाँ स्नान करने से मुक्ति का भी व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता । यहीं अवकीर्ण नामक विख्यात तीर्थ है ।[2] इस प्रकार विभिन्न तीर्थ गुणों का स्मरण करते हुए महामुनि वातिस्वाद् रुषंगु ने पृथूदक में ही सिद्धि को प्राप्त किया था ।[3]

---

1. वामनपुराण, स०मा०, 18/3-13
2. वही, 18/17-26.
3. वामनपुराण, स०मा०, 18/16.

वसिष्ठापवाह

राजर्षि वसिष्ठ की घोर तपस्या से हीनता को प्राप्त हुए विश्वामित्र ने जब वसिष्ठ की बैर भावना से सरस्वती को बुलाकर मुनि श्रेष्ठ (वसिष्ठ) को वेग से बहा ले आने को कहा तो व्यथित हुई सरस्वती ने वसिष्ठ के पास जाकर रोते हुए उनसे विश्वामित्र के वचनों को कहा, जिसे सुनकर मुनिश्रेष्ठ ने सरस्वती से कहा कि मुझे विश्वामित्र के पास ले चलो । उनके वचनों को सुनकर महानदी (सरस्वती) ने उन्हें उस स्थान से प्रवाहित कर दिया और किनारे से ले जाये जाने के कारण बह रहे वसिष्ठ मुनि ने देवी सरस्वती की विभिन्न प्रकार से स्तुति की ।

तदनन्तर सरस्वती द्वारा वसिष्ठ को लाया गया देखकर क्रुद्ध विश्वामित्र उन्हें मारने के लिए अस्त्र ढूँढने लगे जिससे भयभीत हुई महानदी वसिष्ठ को पुनः जल में बहा ले गई । जिसे देखकर क्रुद्ध हुए विश्वामित्र ने सरस्वती को -'श्रेष्ठ-राक्षसों से संयुक्त होकर शोणित को वहन' करने का शाप दे दिया जिससे सरस्वती ने एक वर्ष तक रक्त से मिश्रित जल का वहन किया । जिसे देखकर ऋषि, देवता, गन्धर्व अत्यन्त दुःखी हो हुए और उस पवित्र तीर्थ में रक्त बहने से भूत-पिशाच एकत्र हो गये ।[1]

कुछ समय पश्चात् तीर्थ यात्रा हेतु सरस्वती के तट पर आये हुए तपोधन ऋषियों द्वारा सर्वपापनाशिनी अरुणा नदी को लाकर सरस्वती नदी को शुद्ध कराया गया ।[2]

---

1. वामनपुराण, स0मा0 19/1-25.
2. वही, 19/26-43.

वेनोपाख्यान

मनुपुत्र राजा अंग के पुत्र का नाम वेन था । वेन की माँ, यानि राजा अंग की पत्नी 'भया' यमराज की पुत्री थी । राजा अंग के शासन काल के उपरान्त दुरात्मा वेदनिन्दक वेन राजा बना और उसने प्रजा पर अनेको अत्याचार करते हुए देवपूजा पर कठोर-प्रतिबन्ध लगा दिया जिससे क्रुद्ध ऋषि-मुनियों ने उसे नष्ट कर दिया । तदनन्तर ऋषियों द्वारा उसके बायें हाथ का मन्थन किये जाने पर उसकी वाम भुजा से एक तुच्छ ह्रस्वांग निषाद उत्पन्न हुआ, जो वेन के पापों को लेकर उत्पन्न हुआ । दाहिनी भुजा के मन्थन से जो पुरुष उत्पन्न हुआ, उसकी भुजा धनुष, बाण, खड्ग और ध्वजा से अंकित थी । ऋषि-मुनियों एवं देवगणों ने मिलकर इस पुत्र का राज्याभिषेक किया और वह धर्मपूर्वक पृथ्वी का रंजन करने वाला बना ।[1] (उसी समय से पृथ्वी पर शासन करने वाले व्यक्ति का नाम 'राजा' प्रचलित हुआ) । क्योंकि उसके पिता वेन ने पृथ्वी को अपरंजित (दुःखी) किया था और उसने रंजन किया ।[2]

इसके बाद की कथा वेनपुत्र राजा द्वारा, पिता के पाप-मार्जन करने तथा उन्हें स्वर्ग में प्रेषित करने से सम्बन्धित है । राजा को नारदजी द्वारा ज्ञात हुआ कि उसका पिता (वेन) मृत्यु के पश्चात् म्लेच्छों के मध्य उत्पन्न हुआ है और अब एवं कुष्ठ रोग से पीड़ित है । नारदजी ने मोक्ष के उपाय को उसके पिता द्वारा विभिन्न तीर्थों की यात्रा निश्चित की । तदनुसार राजा (वेनपुत्र) स्वयं, अपने पिता को म्लेच्छों के बीच से लाकर, विभिन्न तीर्थों की यात्रा करवाने गये ।

---

1. पद्मपुराण, भू०खं०, 26/5-23.

2. वही, 26/24.

कुरुक्षेत्र के समीप स्थाणु तीर्थ में स्नान करने से पूर्व ही आकाशवाणी द्वारा उसे (वेन को) स्नान से रोका गया, जिससे तीर्थ अपवित्र न हो जाये, किन्तु ब्राह्मणों की सम्मति के अनुसार प्रतिकूल दिशा में जाते हुए, समस्त तीर्थों में स्नान करने के उपरान्त, जब उसके (वेन) द्वारा स्थाणुतीर्थ से जल लेकर स्नान करके, शिवजी की आराधना की गई तो शिवजी ने उसे प्रसन्न होकर वरदान दिया कि अपने पापों से मुक्त होने के लिए उसे हिरण्याक्ष असुर के यहाँ अन्धक नाम से एक जन्म और लेना पड़ेगा, और तत्पश्चात् शिवजी के द्वारा वध किये जाने के उपरान्त वह शिवजी के भृंगी नाम के गण के रूप में उनके गणों में सम्मिलित हो जायेगा और शिवजी के समीप रह सकेगा।" ऐसा कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार पुत्र द्वारा तारित (वेन ने) स्थाणुतीर्थ में महेश्वर को प्रतिष्ठापित कर सहस्त्र वर्षों में सिद्धि को प्राप्त किया और राजा (वेन पुत्र) ने पितृ ऋणों से मुक्त होकर वसुन्धरा का पालन करते हुए धर्मपूर्वक पुत्रों को उत्पन्न कर निर्बाध यज्ञ किया।[1]

पार्वतीजन्मादिवृत्तान्त

हिमालय की पत्नी मेना की रूपगुणसम्पन्न तीन कन्याओं में पहली कन्या रागिणी, दूसरी कुटिला एवं तीसरी सबसे छोटी कन्या काली अनुपम रूपवती थी। 6 वर्ष के पश्चात् ही तपस्या की गई उन तीनों कन्याओं को देवताओं ने देखा और देखकर कुटिला एवं रागिणी को ब्रह्मलोक ले गये। तपस्विनी मेना के बार-बार मना करने पर भी काली (उमा) ने मन में कूटस्थ रुद्र को रखकर घोर तप किया। तदुपरान्त ब्रह्मा द्वारा भेजे गये देवताओं ने हिमनन्दिनी (उमा) को देखा

---

1. वामनपुराण, अध्याय 26/25-27/35.

किन्तु उनके (काली के) तेज के कारण वे निकट न जा सके और अपने अपने स्थान को चले गये । तदुपरान्त सब ने विवाहित कर पत्नी सहित हिमवान् घर ले आये ।

एक समय विचरण करते हुए महादेव हिमालय पर गये । वहाँ पुनः उत्पन्न प्रिया सती को देख स्वागत सत्कार कर शिव पुनः ध्यानरत हो गये । उमा (पार्वती) द्वारा प्रणाम किये जाने पर, उन्हें देखकर 'यह उचित नहीं है' ऐसा कहकर महादेव अन्तर्हित हो गये । जिससे दुःखी हुई पार्वती पुनः हर (महादेव) की आराधना के लिए तप करने लगीं । तदुपरान्त पार्वती की तपस्या से प्रसन्न हुए भगवान् शिव ने भिक्षु के वेश में काली (पार्वती) के आश्रम में प्रवेश किया और उनसे पूछा कि आप क्यों इस बाल्यावस्था में इतनी भयंकर तपस्या कर रही हैं । तदनन्तर पार्वती की सखी सोमप्रभा ने भिक्षु (शंकर) से सम्पूर्ण वस्तु स्थिति का वर्णन किया अर्थात् पार्वती जिस कारण तपस्या कर रही है उसे बताते हुए सखी ने कहा कि ये शिव को अपना पति बनाने चाहती है जिसे सुनकर हँसते हुए भिक्षु शिव ने कहा कि – तुम्हारा (पार्वती का) पल्लव के सदृश कोमल हाथ शंकर के सर्पयुक्त हाथ से कैसे मिलेगा ? ऐसा कहे जाने पर भिक्षु के वचनों का विरोध करते हुए पार्वती ने कहा कि शिव सभी गुणों में श्रेष्ठ हैं । पार्वती के वचनों को सुन-कर शिव ने अपने भिक्षुरूप को त्यागकर पार्वती से कहा कि तुम घर जाओ, मैं हिमवान् के घर महर्षियों को भेजूँगा ।

तदनन्तर महात्मा शिव द्वारा भेजे गये ऋषिगण हिमालय पर्वत को गये । वहाँ शैलराज की पत्नियों पर्वतों, गन्धर्वों, किन्नरों, भक्तों आदि द्वारा पूजित होकर उन्होंने (ऋषियों ने) भवन में प्रवेश किया । तदनन्तर पर्वतराज द्वारा अर्चन करने के उपरान्त कश्यपादि ऋषियों से प्रेरित अंगिरा ने गिरिराज से ऋषियों के आगमन का कारण बतलाया, जिसे सुनकर काली (पार्वती) ने मुख नीचे कर लिया और सहसा प्रसन्न होकर पुनः खिन्न हो गईं ।

तदनन्तर गिरिराज ने सभी श्रेष्ठ पर्वतों को और भार्या (मेना) को बुला लिया और उनसे कहा कि वे कृपालु सप्तर्षि शंकर के लिए मेरी कन्या (पार्वती) को माँग रहे हैं । हिमवान् की बात सुनकर मेरु आदि पर्वतों ने कहा कि याचना करने वाले सप्तर्षि हैं और त्रिपुरासुर का वध करने वाले शंकर वर हैं; अतः आप काली को प्रदान करें तदनन्तर पर्वतों एवं भार्या की स्वीकृति पर हिमवान् द्वारा प्रदान की गई काली को गोद में बिठाकर अरुन्धती ने शंकर के शुभ नामों के उच्चारण से उसे समाश्वस्त किया । शैलराज से जाने की अनुमति प्राप्तकर समस्त ऋषिगणों ने मन्दरगिरि पहुँच कर महेश को प्रणाम करते हुए उन्हें गिरिजा को सौंप दिया । जिससे प्रसन्न हुए शिव ने क्रमशः अरुन्धती सहित सप्तर्षियों की पूजा की ।

तदनन्तर दर्शन को आये हुए समस्त देवताओं को प्रणाम करते हुए शिव ने उनका आदर-सत्कार किया और वैवाहिक विधि सम्पन्न करने के लिए देवताओं सहित कैलास पर्वत चले गये । वहाँ पर देवमाता अदिति एवं सुरभि आदि अन्य स्त्रियों द्वारा शिव का मण्डन किये जाने के पश्चात् विभिन्न सर्पाभूषणों से विभूषित शिव, वृषभ पर विराजमान होकर विभिन्न वाहनों से युक्त गणों के साथ पर्वतराज के महान पुर में प्रविष्ट हुए । वहाँ पर स्त्रियों द्वारा पूजित होकर शिव वैवाहिक वेदी पर लाये गये जहाँ पार्वती जी के साथ उनका वैवाहिक उत्सव हुआ ।

तत्पश्चात् शिवजी पार्वती जी के साथ लोक-सेवित स्थान को प्राप्त हुए उस अलंकृत भूमि के घेरे में परस्पर क्रीड़ा करने के पश्चात् शिव एवं पार्वती अग्नियों से सेवित कुछ दक्षिण वेदी पर आये । वेदी पर विराजमान शिव से हाथ जोड़ कर गिरिराज ने अपने धर्म का साधक वचन कहते हुए पार्वती के हाथ को भगवान शिव के लिए सौंप दिया । भगवान शिव के हाथ के स्पर्श से आनन्दित हुई पार्वती

की विवाहोपरान्त शिवजी के साथ कौतुकागार में गई और वहाँ रात्रि में रमण करने के पश्चात् शिवजी के साथ पुनः प्रातःकाल उठकर मन्दराचल पर आ गयीं ।

मन्दराचल पर विश्वकर्मा द्वारा निर्मित गृह में प्रवेश कर देवाधिदेव ने गार्हस्थ्य धर्म ग्रहण किया । वहाँ पर पार्वती के साथ इच्छानुसार विहार करते हुए शिव ने कभी विनोदार्थ पार्वती को 'काली' कह दिया जिससे रुष्ट क्रुद्ध। हुई पार्वती पुनः तपस्या करने हेतु हिमाद्रि + शिखर पर गईं । वहाँ तपस्या में प्रवृत्त पार्वती को एक व्याघ्र ने देखा और उन्हें प्राप्त करने की इच्छा से वह मृगराज पार्वती को एकटक देखने लगा । देवी के सौ वर्षों की तपस्या से प्रसन्न हुए भगवान ब्रह्मा ने प्रकट होकर उन्हें स्वर्णतुल्य वर्ण रूप इच्छित वर प्रदान किया । और उन्हें प्राप्त करने की इच्छा से वह मृगराज पार्वती को एकटक देखने लगा ।

देवी पार्वती के कृष्ण कोश से पुनः कात्यायनी उत्पन्न हुई, जिन्हें इन्द्र अपनी बहन बनाकर विन्ध्याचल ले गये और वहीं देवताओं द्वारा पूजित वह देवी विन्ध्यवासिनी नाम से विख्यात हुई ।

उमा देवी भी ब्रह्मा देव से वर प्राप्त कर पुनः मन्दर पर्वत को गईं और महेश के साथ विनयपूर्वक रहने लगीं । तदनन्तर रुद्रदेव के महामोहनक में सहस्र वर्ष पर्यन्त स्थित रहने से क्षुब्ध हुए देवगण इन्द्र के साथ मन्दर पर्वत को गये किन्तु महादेव के भवन में प्रविष्ट न हो सकने का कारण विचार-विमर्श के उपरान्त अग्निदेव को हंस रूप में महादेव के घर भेजा । हंस रूप अग्नि देव द्वारा देवताओं को आगमन के जानकर आये हुए शिव को प्रणाम कर देवगणों ने उनसे महामैथुन

का परित्याग करने को कहा । शिव द्वारा त्यागे गये उस तेज को अग्नि देव ने ग्रहण किया, तदुपरान्त समस्त देवगण महादेव की आज्ञा से स्वर्ग चले गये ।

देवताओं के चले जाने पर महादेव ने पार्वती जी से समस्त वृत्तान्त को बताया जिसे सुनकर क्रुद्ध हुई पार्वती ने समस्त देवताओं को पुत्र से सदैव वंचित रहने का शाप दे दिया । इस प्रकार देवताओं को शापित कर पार्वती देवी मालिनी को बुलाकर स्नानागार चली गईं । स्नानागार में अपने हाथों के मैल से पार्वती ने गजानन को बनाकर भूमि पर रख दिया और स्वयं विधिपूर्वक स्नान कर शंकर जी की पूजा कर देवी गृह में चली गईं । तदनन्तर महादेव द्वारा भी उसी पवित्रासन पर स्नान किया गया जिसके नीचे गजमुख पड़ा था । उमादेवी के स्वेद एवं जल तथा शिव के अंग से युक्त स्वेद का सम्पर्क होने से वह उत्तम शुण्ड (मलनिर्मित गजानन) सजीव हो उठा जिसे देख भगवान शिव बहुत ही प्रसन्न हुए और उसे अपने पुत्र रूप में स्वीकार किया । शिव द्वारा इस पुत्र का नाम विनायक रखा गया जो सहस्त्रों विघ्नों का विनाशक बना । अपने पुत्र को देख कर देवी उमा अत्यन्त आनन्दित हुईं और पुनः शम्भु के साथ मन्दराचल पर रमण करने लगीं । इसी प्रकार देवी पार्वती पुनः कात्यायनी हुईं और शुम्भ-निशुम्भ आदि दैत्यों की संहारक बनीं ।[1]

स्कन्दोत्पत्तिवृत्तान्त

विभिन्न मूर्तियों एवं नामों से युक्त कुमार-स्कन्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए वामन पुराण में ऐसा उल्लेख किया गया कि देवताओं की प्रार्थना से

---

1. वामनपुराण, 24/1-28/77.

शिव द्वारा महामोहक मुद्रा एवं आसक्ति का परित्याग कर दिये जाने पर उनके स्खलित तेज को अग्नि देव ने धारण कर लिया था । अग्नि ने ग्रहण किये गये शिव के तेज को ब्रह्मलोक की कृत्तिका को यशस्वी पुत्र उत्पन्न करने के लिए प्रदान कर दिया । अग्नि द्वारा प्रदत्त शिव के तेज को पाँच हजार वर्षों तक गर्भ में धारण करने के पश्चात् कृत्तिका ने ब्रह्मा से गर्भस्थ शिशु के जन्म न लेने की चिन्ता प्रकट करते हुए उनकी सलाह से 'शरवण-वन' में जाकर वहाँ अपने मुखमार्ग से ही गर्भ का परित्याग कर दिया । दस सहस्त्र वर्षों के पश्चात् 'शरवण' में ही शिव के उस तेज से एक बालसूर्यसदृश अति तेजस्वी बालक का जन्म हुआ, जो अपने मुख में अँगूठा डालकर उच्च स्वर में रुदन कर रहा था । उधर से गुजरती हुई षट्-कृत्तिकाओं ने 'शरवण' वन में अकेले रुदन करते हुए उस बालक को देखकर गोद में उठाकर सभी कृत्तिकाओं से उस बालक को दुग्धपान कराने को आतुर हो गईं । कृ फलतः उस नवजात-शिशु ने षण्मुख-रूप धारण कर सभी कृत्तिकाओं की ममता का पान किया । कृत्तिकाओं द्वारा पोषित वह तेजस्वी बालक परिशेष्ठ कार्तिकेय नाम से प्रसिद्ध हुआ । तदनन्तर शिव, पार्वती, कृत्तिका एवं अग्नि द्वारा उस तेजस्वी बालक को अपना अपना पुत्र बताये जाने के विवाद पर उस षण्मुख बालक ने चतुर्मूर्ति रूप धारण कर शिव के समीप कुमार रूप में पार्वती के समीप विशाख रूप में, कृत्तिका के समीप शाख एवं अग्नि के पास महासेन रूप में पुत्र बनकर निश्चिन्त हो गये । कृत्तिकाओं द्वारा पोषित होने के कारण शिव ने उन्हें कार्तिकेय नाम से उनका पुत्र बतलाया । एवं पुनः शिव ने उस चतुर्मूर्ति पुत्र को 'कुमार' नाम से कृत्तिका को प्रदान किया, 'स्कन्द' नाम से विश्रुत पुत्र को गौरी को प्रदान किया, 'महासेन' नाम से विख्यात पुत्र को अग्नि को दिया एवं 'गुह' नाम से अपना पुत्र बताया । साथ ही 'शारद्वत' नाम से उस तेजस्वी बालक के

शरवण का पुत्र बताकर भगवान कुलमालि ने देवताओं सहित पितामह ब्रह्मा का स्मरण किया ।[1]

<u>नमुचिवधोपाख्यान</u>

महर्षि कश्यप के दनु नाम की पत्नी के तृतीय पुत्र का नाम नमुचि था । इन्द्रदेव नमुचि को मारना चाहते थे इसीलिए इन्द्र को आते देखकर उनके भय से नमुचि सूर्य के रथ में प्रविष्ट हो गया, जिससे इन्द्र उसे मार न सके । तदुपरान्त महात्मा इन्द्र ने उससे सन्धि करके उसे अस्त्रों से अवध्य होने का वर प्रदान किया, जिससे नमुचि अपने को अस्त्रों से अवध्य जानकर सूर्य के रथ को छोड़कर पाताल चला गया । एक बार जल में स्नान करते हुए उसने समुद्र के उत्तम फेन से इन्द्र के द्वारा प्रदत्त वर के बारे में बताया और अपने दोनों हाथों से फेन लेकर मुख साफ करने लगे । उस फेन में इन्द्र देव सूक्ष्म रूप में छिपे थे, तत्क्षण उन्होंने फेन में वज्र की सृष्टि की जिससे नमुचि का मुख और नाक टूट गया और वह मर गया । प्रतिज्ञा तोड़ने के कारण इन्द्र को ब्रह्महत्या का पाप भी लगा ।[2]

<u>दैत्यासुर चण्ड-मुण्ड-शुम्भ-निशुम्भादिवधोपाख्यान</u>

दनु के बड़े पुत्र शुम्भ एवं मझले पुत्र निशुम्भ ने छोटे भाई नमुचि के वध से अत्यन्त क्रुद्ध हो देवताओं को मारने के लिए उद्यत हुए । चण्ड-मुण्ड की प्रेरणा से

---

1. वामनपुराण, 31/2-44

2. वही, 29/1-10.

प्रभावित होकर शुम्भ अपने एक दूत द्वारा देवी कौशिकी (कात्यायनी) के पास प्रणय का संदेश भेजता है । उस दूत का नाम सुग्रीव था । कुटिल स्वभाव से युक्त उसने शुम्भ के मिथ्या उत्कर्ष का समाचार देवी के समक्ष प्रस्तुत किया और शुम्भ एवं निशुम्भ की विविध महिमा का बखान करते हुए देवी को उनकी ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया किन्तु देवी के समक्ष उसके सारे प्रयास निष्फल रहे क्योंकि देवी स्पष्ट करती हैं कि –

किं त्वस्ति दुर्विनीताया हृदये मे मनोरथः ।
यो मां विजयते युद्धे स भर्ता स्यान्महासुर ।।[1]

अर्थात् हे महासुर ! मुझ दुर्विनीता के हृदय का यह मनोरथ है कि युद्ध में मुझे जीतने वाला ही मेरा पति होगा । इस प्रकार देवी के वचनों से असफल हुआ सुग्रीव शुम्भ-निशुम्भ के पास लौटकर देवी के दृढ़ दर्प का वर्णन करते हैं ।

अपने सन्देश की उपेक्षा और देवी के अभिमान युक्त वचनों से रुष्ट हुआ शुम्भ उन्हें (देवी को) बलपूर्वक पकड़ लाने के लिए दैत्यों के अधिप धूम्रलोचन को आदेश देता है । धूम्रलोचन अपने स्वामि-शुम्भ की आज्ञा से देवी के पास जाता है । लेकिन विन्ध्याचलस्थिता देवी एक हुंकार से ही उसे (धूम्रलोचन को) नष्ट कर देती है ।

धूम्रलोचन के वध का समाचार सुनकर दैत्याधिपति शुम्भ अत्यन्त कुपित हो उठता है और प्रचण्ड पराक्रमशाली चण्ड-मुण्ड को आज्ञा देता है कि वे अविलम्ब

---

1. वामनपुराण, 29/36.

देवी के पास जाकर उनका केश पकड़कर कठोरतापूर्वक खींच कर ले आये । तत्पश्चात् चण्ड और मुण्ड बड़े अभिमान के साथ देवी के निकट जाते हैं और अनेक प्रकार के आघात-प्रतिघात से उन्हें अभिभूत करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनका कोई भी प्रयत्न सफल नहीं होता और अन्त में देवी की चमकती तलवार से दोनों काल के कवल बन जाते हैं अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ।

चण्ड-मुण्ड के वध का समाचार सुनकर शुम्भ की क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठती है और वह समस्त असुरों की विशाल सेना को देवी से युद्ध करने के निमित्त भेजता है । सारे असुर देवी को चारों ओर से घेर लेते हैं, जिसे देखकर सभी बड़ी देव-शक्तियाँ ने देवी की सहायता हेतु तत्पर हो उठती हैं । उनके प्रखर तेज एवं गम्भीर आघात से असुरों की सेना में भगदड़ मच जाती है । असुरों की इस कातरतापूर्ण पलायन को देखकर महाराक्षस रक्तबीज क्रुद्ध हो उठता है और युद्ध के लिए संग्राम में स्वयं अवतीर्ण होता है । इस विचित्र राक्षस की देह से जो रक्त की बूँद पृथ्वी पर गिरती थी उससे उतने ही बलवान असुर उत्पन्न हो जाते थे । अतः इसको ।रक्तबीजको। मारने के लिए देवी को काली की सहायता लेनी पड़ती है । वे काली देवी को निर्देश करती हैं कि उनके शस्त्राघात से महासुर रक्तबीज के शरीर से जो रक्त निकले उसे वे अपने मुख में लेती जाये और एक बूँद रक्त भी पृथ्वी पर न गिरने दें । जिससे नये रक्तबीज की उत्पत्ति न हो सके और वह राक्षस उनके शस्त्रों से आहत हो कर मृत्यु को प्राप्त हो जायें । महाकाली, देवी के इस निर्देश का पालन करती है और देवी रक्तबीज पर जैसे ही शस्त्र का प्रहार करती हैं वैसे ही उसके जीवन का अन्त हो जाता है ।

रक्तबीज के वध के पश्चात् शुम्भ का अनुज महापराक्रमी निशुम्भ ने स्वयं देवी से पत्नी बनने को कहा लेकिन देवी द्वारा परिहास किये जाने पर क्रुद्ध हो उसने खड्ग से देवी पर प्रहार करना चाहा किन्तु देवी ने अपनी तलवार से उस

बाणों को काटते हुए भीम निशुम्भ का वध कर डाला । निशुम्भ का वध सुनकर शुम्भ क्रोधावेश में अपनी सारी शक्ति सहित रणस्थल में उतरता है । देवी के साथ उसका भीषणतम युद्ध होता है । अनेक प्रयत्नों के बाद भी शुम्भ अजेय ही रहता है । और शिवा द्वारा शुम्भ का वध हो जाता है । देवी के विजयश्री से उल्लसित देवसमाज निष्कण्टक हो जाता है । देवगण देवी की स्तुति करते हैं ।[1] इन्द्र अपने राज्य पर पुनः प्रतिष्ठित हो जाते हैं और उनकी सहायता एवं संरक्षण से मनुष्य पुनः अपने मंगलमय लक्ष्य की साधना में निर्भयता से अग्रसर ह होता है ।[2]

स्कन्दकृतमहिषादिवधोपाख्यान

देवताओं द्वारा सेनापति पद पर अभिषिक्त कुमार स्कन्द ने महिष एवं तारकासुर को मारने का दृढ़ निश्चय किया था । भयंकर दैत्य सेना को आते देखकर कार्तिकेय के गण जब सहसा उन पर टूट पड़े तो असुर कमलोदर हाथ में कुठार लेकर महासुरों को मारने लगा । गणों में श्रेष्ठ भीम भयंकर शिलाओं की वर्षा से असुरों को इस प्रकार मारने लगे जैसे इन्द्र वज्र की वृष्टि से उत्तम पर्वतों को नष्ट करते हैं ।

तदनन्तर गणेश्वरों द्वारा असुर सैन्य को मारा जाता देख महिष एवं तारक दौड़ पड़े और विभिन्न आयुधों से कार्तिकेय के प्रमथगणों को मारने लगे । और शीघ्र ही उन्हें पराजित कर महिषासुर आयुध सहित कुमार (स्कन्द) की ओर दौड़े ।

---

1. वामनपुराण, 29/1-30/32.
2. वही, 30/55-63.

उस महिष को आते देखकर सुब्रह्म ने वज्र उठाकर उसे रोका किन्तु निरन्तर प्रहार किये जाते हुए उस महिष को सुब्रह्म ने सुतीक्ष्ण बाणों से छिन्न भिन्न कर दिया । तदुपरान्त क्रुद्ध हुए जम्भासुर ने मुष्टियों से वज्र पर प्रहार किया किन्तु सुब्रह्म ने उसके प्रयास को शून्य कर दिया । अपनी सेना को नष्ट हुआ देख बलवान् दैत्य तारक हाथ में तलवार लेकर गणेश्वरों की ओर दौड़ा जिससे भयार्त वे गणेश्वर स्कन्द की शरण में गये ।

महेश्वरपुत्र कुमार (स्कन्द) ने अपने गणों को उत्साहहीन तथा तारकासुर को आते देखकर शक्ति के प्रहार से उसका हृदय विदीर्ण कर दिया जिससे वह क्षण भर में धरती पर गिर पड़ा ।

वीर तारक के मारे जाने पर, भयार्त महिषासुर व्याकुल होकर युद्ध छोड़ हिमालय पर्वत पर भाग गया और बाणासुर भी भयवश उग्र (गम्भीर) समुद्र में जा छिपा ।

तदनन्तर कुमार (स्कन्द) शक्ति लेकर शिखण्डयुक्त मयूर पर आरूढ़ हो महिषासुर को मारने चले । कुमार को आते देख महिषासुर कैलास एवं हिमालय पर्वत को छोड़ क्रौंच पर्वत की गुफा में प्रविष्ट हो गया । तदनन्तर भगवान ब्रह्मा, विष्णु, महेश वहाँ आ गये और उन्होंने शक्ति के प्रहार से पर्वत-सहित महिष पर प्रहार किया और इन्द्र ने स्कन्द को क्रौंच पर्वत सहित महिषासुर को मारने की सलाह दी जिससे दोनों में (इन्द्र और स्कन्द में) अधिक बलवान् होने की बहस छिड़ गई । इन्द्र ने स्कन्द से कहा कि हम दोनों में जो पहले क्रौंच पर्वत की प्रदक्षिणा कर लेगा वही बलवान् समझा जायेगा । तदनन्तर प्रदक्षिणा के पश्चात् 'मैंने पहले किया, मैंने पहले किया' इस प्रकार आपस में विवाद करते हुए दोनों को विष्णु ने कहा - क्रौंच पर्वत जिसे पहले आया हुआ कहेगा, वही बलवान होगा।

क्रौंच पर्वत द्वारा स्कन्द को पूर्व प्रदक्षिणा किया जाना बताये जाने पर क्रुद्ध हुए कौटिल्य (कुटिलानन्दकुमार) ने शक्ति के प्रहार से क्रौंच को महिषासुर के सहित विदीर्ण कर डाला ।[1]

कुवलयाश्वकृत-पातालकेतुवधोपाख्यान

एक बार नन्दनवन में क्रीड़ा कर रही विश्वावसु की शील-गुण-सम्पन्न एवं त्रिलोक सुन्दरी कन्या को देखकर दैत्यसुत पाताल को वेगपूर्वक उठा ले गया । वेगपूर्वक जा रहे उस दैत्य को राजा कुवलयाश्व ने मार कर कथित कन्या को प्राप्त किया और संस्थित होकर उस मृगनयनी के साथ इस प्रकार सुशोभित हुए जैसे इन्द्र के साथ इन्द्राणी ।

गौरीं प्रति कामार्तस्यान्धकस्य-रहरणोपायोपाख्यानम्

महिषासुर आदि दैत्यों के मारे जाने से क्रुद्ध हुए एवं पृथ्वी पर विचरण करते हुए हिरण्याक्षपुत्र अन्धक ने सुन्दर कन्दराओं से युक्त मन्दर पर्वत पर गिरि-नन्दिनी कल्याणी गौरी को देखा और सहसा काम-बाण से पीड़ित हो गया । महात्मा प्रह्लाद द्वारा बार बार मना किये जाने पर भी वह मूढ़ कामार्त्त देवी गौरी के पीछे पीछे दौड़ने लगा । तदनन्तर महेश्वर गण नन्दी द्वारा वज्र से प्रहार किये जाने पर कामान्ध अन्धासुर ने नन्दी को परिघ से मारकर गिरा दिया । नन्दी को गिरा हुआ और अन्धक को पीछे आते देखकर गौरी ने उस दुरात्मा के भय से सैकड़ों रूप धारण किया जिससे कामातुर वह दैत्य चारों ओर पागल सा भ्रमण करने लगा और सब कुछ देखते हुए भी गिरिजा को न देख सका ।

---

1. वामनपुराण, 32/46-109.

तदनन्तर शस्त्रधारी देवी (गौरी) ने उस दुष्टात्मा पर प्रहार किया और उसे पृथ्वी पर गिरा हुआ देखकर स्वयं उस स्थान से हटकर अन्तर्हित हो गयी । इस प्रकार चेतना प्राप्त करने के उपरान्त भी अन्धक गिरिजा को न देखकर, पराजित होकर पाताल लोक चला गया और वहाँ नित्य प्रति गौरी का स्मरण किया करता ।[1]

मुराख्योपाख्यान

दनुपुत्र मुर द्वारा मृत्यु के भय से अनेक वर्षों की तपस्या से प्रसन्न हुए ब्रह्मा द्वारा अजित और अमर होने का वरदान प्राप्त कर जब सुरगिरि को प्रस्थान किया गया तो वहाँ यक्ष, देवता, किन्नर आदि के युद्ध के लिए ललकारे जाने पर भी किसी ने उसके साथ युद्ध नहीं किया जिससे क्रुद्ध हुआ वह अमरावती चला गया और वहाँ उसने इन्द्र को युद्ध करने के लिए बाध्य किया । लेकिन इन्द्र स्वर्ग छोड़कर पृथ्वी पर विचरण करने लगे और 'मुर' स्वर्गिक सुख का उपभोग करने लगे ।

एक बार पृथ्वी पर आये हुए उसने सरयू नदी के तट पर यज्ञ कर रहे 'रघु' नामक राजा को देखकर, उनको युद्ध के लिए प्रेरित किया, किन्तु वशिष्ठ ने मुर को ऐसा करने से रोकते हुए यमराज के साथ युद्ध करने के लिए उसे उत्साहित किया ।

तदनन्तर युद्ध के लिए आते हुए मुरासुर को देखकर यमराज भगवान केशव की पुरी चले गये । दैत्य मुर ने वहाँ भी उनका पीछा नहीं छोड़ा और केशव की नगरी पहुँचकर यमराज से युद्ध करने की अपनी चेष्टा, व्यक्त की ।[2] किन्तु धर्मराज ने मुर के सामने एक शर्त रखी कि यदि तुम मेरे नियामक से मेरी रक्षा कर सको, तो वस्तुतः मैं तुम्हारे वचनों का पालन करूँगा ।

1. वामनपुराण, 33/16-47.

2. वही, 34/30-54.

तदनन्तर मुरासुर भगवान विष्णु को जीतने के लिए क्षीरसागर पहुँचा ।[1] भगवान् विष्णु ने युद्ध के लिए आये हुए उस दुरात्मा मुर के हृदय को चक्र से भेदकर धराशायी कर दिया । तदनन्तर सभी देवता दुःखरहित होकर भगवान पद्मनाभ की प्रशंसा करने लगे ।[2]

शुक्रस्य संजीवनीप्राप्त्योपाख्यान

कुरुक्षेत्र में विचरण कर रहे त्रिशूलधारी शंकर द्वारा तपोनिधि उशना को ओघवती के तट पर देखकर सुख्य तप किये जाने का कारण पूछने पर उशना द्वारा ऐसा कहा गया कि हे भगवन् आपकी आराधना की कामना से ही मैं महान् तप कर रहा हूँ । मैं मंत्रमयी संजीवनी विद्या को जानना चाहता हूँ । तदनन्तर महादेव ने उनको (उशना) तपस्या से प्रसन्न होकर उन्हें संजीवनी विद्या का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का वर प्रदान किया । वर प्राप्त कर शुक्र (उशना) तपस्या से निवृत्त हुए, लेकिन फिर भी सागर पर्वत, वृक्ष आदि सहित पृथ्वी हिल रही थी। तदनन्तर महादेव सप्तसारस्वत गये और वहाँ इन्होंने मंकण नामक महर्षि को नाचते हुए देखा ।[3]

अन्धकोपाख्याने अरजा-दण्डोपाख्यान

गिरिकन्या पार्वती की अभिलाषा रखने वाला मदनातुर अन्धक से परस्त्री की कामना से विनाश को प्राप्त हुए राजा दण्ड के वृत्तान्त को बताते हुए महात्मा प्रह्लाद अन्धक से कहते हैं कि एक समय शुक्राचार्य की अनुपस्थिति में उनकी (शुक्राचार्य की) तपशालिनी कन्या अरजा के सौन्दर्य को देखकर कामसन्तप्त हुए

---

1. वामनपुराण, 34/62.
2. वही, 35/73-77.
3. वही, 36/40-45.

इक्ष्वाकुनन्दन राजा दण्ड ने आतुर हो उसका आलिंगन करना चाहा किन्तु शुक्रपुत्री अरजा ने स्वयं को धर्म से राजा की बहन बतलाते हुए उन्हें अनीति से रोकना चाहा किन्तु काम वासना से दग्ध हो रहे राजा दण्ड ने अरजा को देवयुग में घटित चित्रांगदा का वृत्तान्त[1] सुनाकर अपने काम युक्त स्वार्थ की सिद्धि करना चाहा किन्तु अपने उत्तम शील की रक्षा करती हुई अरजा ने राजा दण्ड को स्वयं को समर्पित करने से इन्कार किया, जिसे सुनकर राजा दण्ड ने हँसते हुए अरजा से अर्थ को नष्ट करने वाला स्वार्थ युक्त वचन कहकर पुनः उससे (अरजा से) वेदवती और राजा कुरु के साथ घटित वृत्तान्त[2] को सुनाया । किन्तु फिर भी अरजा द्वारा अपनी रक्षा करती हुई और आत्मदान करने से इन्कार किये जाने पर भी वह कामान्ध (दण्ड) बलपूर्वक अरजा को भ्रष्ट कर अपने नगर चला गया ।[3]

तत्पश्चात् रज से आप्लुत वह तपस्विनी अरजा आश्रम से निकल कर मुख नीचा किए हुए बाहर बैठकर रोने लगी । तदनन्तर बहुत समय के बाद यज्ञ समाप्त होने पर पाताल से लौटे हुए शुक्राचार्य के द्वारा बाहर बैठकर रुदन करती हुई अपनी रजस्वला पुत्री को देखकर कारण पूछे जाने पर एवं सर्ववृत्तान्त जानकर रोषयुक्त होकर ऐसा कहा गया[4] -

यस्मात् तेनाविनीतेन मत्तो [illegible] ।
गौरवं च तिरस्कृत्य प्रधर्षिताऽस्य सुता ।।

---

1. वामनपुराण, 37/38-62.
2. वही, 37/64-39/168.
3. वही, 40/1-3.
4. वही, 40/4-12.

तस्मात् सराष्ट्रः सबलः सभृत्यो वाहनैः सह ।
सप्तरात्रान्तराद् भस्म पांसुवृष्ट्या भविष्यति ॥[1]

अर्थात् क्योंकि उस अविनीत ने मुझसे प्राप्त उत्तम अभय एवं गौरव को तिरस्कृत कर अरजा को पथभ्रष्ट किया है अतः वह सात रात्रियों में धूलवृष्टि के कारण राष्ट्र, सेना, भृत्य एवं वाहनों सहित विनष्ट हो जायेगा ।

ऐसा कहकर मुनिश्रेष्ठ राजा दण्ड को शाप देने के उपरान्त अरजा को पाप से मुक्त होने के लिए तप करने का आदेश देकर स्वयं पाताल लोक चले गये और दण्ड सातरात्रियों के भीतर अपनी सेना सहित नष्ट हो गया ।[2]

<u>अरजोपाख्याने चित्रांगदोपाख्यानम्</u>

वामन पुराण में वर्णित अन्धकवृत्तान्त के अन्तर्गत अरजा एवं दण्ड के उपाख्यान में चित्रांगदा का उपाख्यान राजा दण्ड द्वारा गुरुपुत्री अरजा से अपने स्वार्थ हेतु इस प्रकार सुनाया गया[3] –

एक बार राजा विश्वकर्मा की रूप-यौवन-सम्पन्न कन्या चित्रांगदा नैमिषारण्य में स्नान कर रही थी जिसे देखकर राजा सुरथ काम-बाण से पीड़ित हो उठे । कामातुर राजा सुरथ ने चित्रांगदा से स्वयं को समर्पित करने की इच्छा व्यक्त की । तदनन्तर उस सर्वांग सुन्दरी ने सखियों के मना करने पर भी स्वयं राजा के प्रति अर्पित कर दिया ।

---

1. वामनपुराण, 40/13-14.
2. वही, 40/15-17.
3. वही, 37/38-44.

आगे की कथा को शुक्रनन्दिनी अरजा ने राजा दण्ड से अपनी शक्ति की रक्षा हेतु इस प्रकार बताया[1] -

तदनन्तर स्वयं को स्वतंत्रता से अर्पित की गई चित्रांगदा को पिता ने पति एवं पुत्र सुख से वंचित रहने का शाप दे दिया और राजा सुरथ को सरस्वती नदी दूर बहा ले गई। तदनन्तर मूर्छा को प्राप्त हुई चित्रांगदा भी सरस्वती नदी में गिर पड़ी वहाँ से वह गोमती नदी में फेंक दी गई और गोमती से सिंह से पूर्ण महावन में फेंक दी गई।

अपने स्वार्थ हेतु राजा दण्ड अरजा से आने का वृत्तान्त सुनाते हुए कहते हैं कि -

तदनन्तर महावन में गिरी हुई इस चित्रांगदा को गुह्यकराज अंजन ने देखा और उसे सान्त्वना प्रदान करते हुए उन्होंने उसे भगवान श्रीकण्ठ के दर्शन हेतु कालिन्दी के दक्षिण तट पर भेज दिया। श्रीकण्ठ के दर्शन हेतु जल में खड़ी हुई उस कन्या (चित्रांगदा) को तपोधन ऋतध्वज ने देखा और उससे सम्पूर्ण वृत्तान्त को सुनकर क्रुद्ध होकर विश्वकर्मा को बन्दर बन जाने का शाप दे दिया।

तदनन्तर ऋतध्वज ने पति से प्रेम करने वाली चित्रांगदा को सप्तगोदावर नामक देश जाकर हाटकेश्वर महादेव की पूजा करने, और वहाँ दैत्य मन्दरमाली की पुत्री देववती, गुह्यकराज अंजन की पुत्री नन्दयन्ती एवं पर्जन्य पुत्री वेदवती से मिलने का आदेश दिया। मुनि (ऋतध्वज) के आदेश से सप्तगोदावर को गई, चित्रांगदा वीर राजा सुरथ का ध्यान कर सुखपूर्वक निवास करने लगी। वहाँ

---

1. वामनपुराण, 37/50-62.

निवास करते हुए उसे तीनों कन्याओं, ।देववती, नन्दयन्ती एवं वेदवती। का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है और कपि योनि को प्राप्त पिता विश्वकर्मा का दर्शन होता है । पिता को कपि-योनि से मुक्ति दिलाने हेतु वह मुनि ऋतध्वज से प्रार्थना करती है । घृताची के गर्भ से पुत्र उत्पन्न होने के बाद विश्वकर्मा भी कपित्व से मुक्त हो जाते हैं और अपनी प्रिय पुत्री चित्रांगदा का आलिंगन कर सहर्ष राजा सुरथ के साथ पुत्री ।चित्रांगदा। का पाणिग्रहण ।विवाह। सम्पन्न कराते हैं ।[1]

<u>अन्धकपराजयोपाख्यान</u>

महात्मा प्रह्लाद द्वारा अन्धक से अरजोपाख्यान का वर्णन किये जाने के बाद भी अधर्म को प्राप्त हुआ अन्धक धर्म का आचरण न करते हुए दैत्यश्रेष्ठ शम्बर से मन्दर पर्वत जाकर भगवान शिव से उनकी पत्नी गौरी को लाने का आदेश होता है । उसकी आज्ञानुसार शम्बर मन्दर पर्वत जाकर शिव से अन्धक के वचन को यथावत् कहता है । जिसे सुनकर शिव शम्बर से कहते हैं कि पार्वती अपनी इच्छा से जा सकती है । तदन्तर पार्वती जी ने शम्बर से कहा - युद्ध में मुझे जो जीतेगा वह मुझे प्राप्त करेगा । तदनन्तर शम्बर द्वारा शिव-पार्वती की कही गई बातों को सुनकर क्रुद्ध हुए अन्धक ने दुर्योधन को बुलाकर उसे दृढ़ संग्राम की भेरी बजाने का आदेश दिया । जिससे सभी महान् असुर उत्सुकता पूर्वक संग्राम में युद्ध के लिए तैयार हो गये ।

तदनन्तर अन्धकासुर ने मन्दराचल जाकर भगवान शिव को युद्ध के लिए प्रेरित किया । देवी पार्वती के प्रोत्साहन से महादेव युद्ध के लिए तैयार हो गये ।

---

1. वामनपुराण, 37/64-39/169.

तदनन्तर युद्ध देखने की इच्छा से इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवगण आकाश में एकत्रित हो गये और उनके देखते ही देखते क्रुद्ध महापाशुपतादि गण दानव सेना का वध करने लगे । जिससे क्रुद्ध हुए दैत्यश्रेष्ठ तुहुण्ड के प्रहारों से देव रुद्र एवं स्कन्दादिगण भयभीत हो उठे किन्तु गणाधिपति विनायक ने वेगपूर्वक फरसे से तुहुण्ड के सिर को काट डाला । इसी प्रकार जम्भ-कुजम्भ आदि दैत्यों के मारे जाने से भय से विह्वल हुई दैत्यसेना शुक्राचार्य के शरण में गई और उनसे अपनी दीनता का वर्णन कर, विजय का उपाय बताने का आग्रह किया ।

तदनन्तर शुक्राचार्य ने विधानानुसार संजीवनी विद्या को प्रकट किया जिससे मारे गये दानव जीवित हो उठे । कुजम्भ आदि दैत्यों के पुनः जीवित होने पर रुद्रदेव के आदेश से नन्दीगण कुजम्भ, जम्भ, बल, वृत्र एवं अयःशिरा नामक पाँच श्रेष्ठ दानव को पुनः मारने दौड़े, जिससे क्रुद्ध हुए अन्धक, बलि, एवं विरोचन आदि दैत्यश्रेष्ठ, नन्दी, कुम्भध्वज, नन्दिषेण आदि गणों के साथ युद्ध करने लगे । जम्भ नामक असुर इन्द्र के साथ, कुजम्भ विष्णु के साथ एवं क्रमशः शाम्ब शिशिर, राहु एवं विश्वक्षुक आदि असुर गण भी सूर्य, वरुण, सोम एवं मित्रादि देवों से युद्ध करने लगे । इस प्रकार देवों से परस्पर युद्ध करते हुए दैत्यगण जब युद्ध में असमर्थ हो गये तो उन्होंने माया का आश्रय लेकर देवों का क्रमशः ग्रास करना प्रारम्भ कर दिया, जिससे क्रुद्ध हुए रुद्र देव ने जृम्भाम्बिका को उत्पन्न किया जिससे देवगण शीघ्रता से दैत्यों के शरीर से बाहर निकलने लगे । इस प्रकार शम्भु के गणों एवं देवों ने युद्ध में दानव-सेना को बार-बार पराजित किया । दानव सेना को पराजित हुआ देखकर अन्धक सुन्द नामक असुर के साथ पुनः महादेव के मन्दिर में प्रविष्ट हुआ जिसे देखकर भयभीत हुई देवी पार्वती भागने लगीं । अन्धक भी उनके पीछे भागा किन्तु असफल रहा और पुनः अपनी सेना के साथ युद्ध भूमि में प्रस्थान कर देवों के साथ युद्ध करने लगा । युद्ध में दैत्य-सेना के पुनः भग्न हो जाने पर

क्रुद्ध हुए अन्धकासुर ने स्वयं भगवान शंकर से युद्ध करने का निश्चय कर धनुष को झुकाकर इन्द्र, विष्णु एवं महेश्वर सहित समस्त देवों को आच्छादित कर उनको अपने शरीर में सन्निविष्ट कर लिया ।

तदनन्तर भगवान् भैरव (शंकर) ने अतिभयंकर रूप धारण कर अन्धक का उरःस्थल विदीर्ण कर दिया । उरःस्थल के विदीर्ण होने पर भी दानवेन्द्र अन्धक शूलसहित भैरव को पकड़कर एक कोस तक खींच ले गया । तदनन्तर भगवान् ने शूल से पुनः अन्धकासुर को मारा जिससे कटते हुए दैत्याधिपति ने शूल से भगवान शंकर के मस्तक पर प्रहार किया जिससे उनके (शिव के) मस्तक से रुधिर की चार धाराएँ प्रवाहित होने लगीं ।[1] पूर्व दिशा की धारा से विद्याराज नाम से विख्यात भैरव देव उत्पन्न हुए, दक्षिण की धारा से 'कालराज' नाम से विख्यात, भैरव देव, पश्चिम की धारा से 'कामराज' नाम से प्रसिद्ध भैरव देव एवं उत्तर की धारा से 'सोमराज' नाम से प्रसिद्ध अन्य भैरव देव उत्पन्न हुए । घाव के रुधिर से 'स्वच्छन्दराज' भूमि पर गिरे हुए रुधिर से 'ललितराज' एवं 'विघ्नराज' नाम से विख्यात भैरव उत्पन्न हुए ।[2] तदनन्तर भगवान शिव के मुख से गिरे स्वेदबिन्दुओं से एक बालक उत्पन्न हुआ जो कि अन्धक के रुधिर का पान करने लगे एवं एक अद्भुत कन्या भी उठकर उसके रुधिर को चाटने लगी जो कि कालान्तर में चर्चिका नाम से प्रसिद्ध हुई । तत्पश्चात् भगवान भैरव (हर) ने अपने अग्निसूर्यात्मक नेत्रों से अन्धक के शरीर को सुखाकर शोणित शून्य एवं अस्थि-चर्मावशिष्ट बना दिया, जिसे पापमुक्त हुए उस असुरराज अन्धक ने भगवान् शंकर

---

1. वामनपुराण, 40/42-44/51.

2. वही, 44/52-58.

एवं पार्वती की अनेक प्रकार से स्तुति की । जिससे प्रसन्न हुए महादेव ने उसे अपना गणाधिपति (भृंगी) बना दिया ।[1]

<u>मरुद्गणोत्पत्तिवृत्तान्त</u>

हिरण्यकशिपु के मारे जाने के पश्चात् दुःखी दैत्य माता दिति ने महर्षि कश्यप से शत्रुहन्ता (इन्द्र) को मारने वाला पुत्र उत्पन्न करने की कामना की । तदनन्तर गर्भाधान के पश्चात् कश्यप के आदेश से शौचाचार का पालन करती हुई वह एक दिन सिर से स्नान करने के उपरान्त केशों को खोले हुए अपने जानुओं पर सिर रखकर सो गई, जिससे उसके केशप्रान्त से चरण संश्लिष्ट हो गया । अपने कार्य की सिद्ध होते पूर्ववत् देवी की सेवा में रत इन्द्र ने अशौच के उस छिद्र को जानकर नाक के छिद्र से माता के उदर में प्रवेश कर एवं गर्भ में स्थित बालक को देखकर उसकी दोनों मांसपेशियों को हाथ से मर्दन कर कठोर वज्र बना दिया और उसी वज्र से दिति के गर्भ को सात भागों में छिन्न कर दिया जिससे गर्भस्थ शिशु रोने लगा । तदनन्तर दिति के जागने पर इन्द्र ने प्रत्येक खण्ड को पुनः सात-सात खण्डों में काट दिया जिससे वे सभी मरुत नाम से इन्द्र के तुल्य बन गये ।[2]

आलोचित पुराण में स्वायम्भुव मन्वन्तर से लेकर चाक्षुष मन्वन्तर तक के पूर्व मरुद्गणों की उत्पत्ति का क्रमिक वर्णन भी उपलब्ध है ।[3]

---

1. वामनपुराण, 44/42-95.
2. वही, 46/19-42.
3. वही, 46/3-76.

कालनेमिवधोपाख्यान

अन्धकासुर के वध के पश्चात् दैत्यराज बलि ने देवताओं से युद्ध करने के लिए सेना सहित कुरुक्षेत्र की ओर प्रस्थान किया । सेना के मध्य भाग में बलि, पृष्ठ भाग में कालनेमि, वाम भाग में शाल्व तथा दक्षिण पार्श्व में तारक नामक असुर प्रस्थित थे । तदनन्तर भयंकर संघर्ष में देवताओं द्वारा पराजित दैत्यगण कालनेमि नामक महान् असुर की शरण में गये । उन्हें अभय प्रदान कर तथा भगवान विष्णु को अजेय जानकर वह दैत्य (कालनेमि) उपेक्षित व्याधि के सदृश बढ़ता हुआ देवताओं के अपने विस्तृत मुख में फेंकने लगा । अस्त्रहीन होने पर भी वह दैत्येन्द्र कालनेमि क्रोध से हाथ पैर के अनेक प्रहारों से इन्द्र, सूर्य आदि को मारने लगा जिससे भयभीत हुए देव, गन्धर्व, किन्नर आदि इधर-उधर भागने लगे तथा दैत्यों ने विविधास्त्रों के प्रहार से विष्णु के यज्ञ को समाप्त कर दिया । जिससे क्रुद्ध हुए विष्णुदेव ने अपनी दृष्टि से शत्रु के रथ, हाथी, घोड़ों आदि को वीर्यहीन कर दिया और पर्वत को बाणों से आच्छादित कर दिया । भगवान विष्णु ने सर्वप्रथम दानवेन्द्र कालनेमि को बाणों से पीड़ित किया, जिससे क्रोधावेश में भगवान के प्रति बुरे वचनों को कहते हुए उस दैत्यश्रेष्ठ ने अपनी गदा को गरुड़ पर फेंका, जिसे भगवान ने अपने चक्र से नष्ट कर दिया और कालनेमि के समीप जाकर उसकी भुजाओं को काट दिया । तदनन्तर क्रोधपूर्वक चक्र द्वारा उसके सिर को काट कर पृथ्वी पर गिरा दिया । तत्पश्चात् बाहु एवं मस्तकहीन उस कबन्ध (कालनेमि) को पक्ष-श्रेष्ठ गरुड़ ने अपनी छाती के प्रहार से पृथ्वी पर गिरा दिया ।[1]

---

1. वामनपुराण, 47/1-51.

धुन्धूपाख्यान

असुरराज धुन्धु कश्यप का दनु के गर्भ से उत्पन्न एक औरस पुत्र था । अपनी तपस्या से ब्रह्मा द्वारा इन्द्रादि देवताओं से अवध्य होने का वरदान प्राप्त कर वह (धुन्धु) स्वर्ग लोक चला गया और वहाँ इच्छानुसार विचरण करने लगा जिससे देवता दुःखी होकर ब्रह्मलोक में रहने लगे । तदनन्तर देवों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से धुन्धु दानवों सहित पुरोहित शुक्राचार्य के समीप जाकर उनसे ब्रह्मलोक पर विजय पाने का उपाय पूछता है और उनकी आज्ञानुसार सौ अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय करता है ।

तदनन्तर शुक्राचार्य की अनुमति से यज्ञ प्रारम्भ हुआ एवं अश्व छोड़ा गया । जिससे चिन्तित हुए देवगणों ने विष्णु के समीप जाकर उनसे सवृत्तान्त निवेदन कर रक्षार्थ प्रार्थना की । तदनन्तर देवों को अभयदान देकर भगवान विष्णु ने महान असुर धुन्धु को अजेय जानकर उसे बाँधने का विचार किया और स्वयं वामन रूप धारणकर देविका के जल में अपने शरीर को काष्ठवत् निरालम्ब छोड़ दिया जिससे क्षणमात्र में वे डूबने-उतराने लगे ।

तदनन्तर दैत्यपति एवं अन्य ऋषियों ने उन्हें देखकर शीघ्रता से निकाला और उनसे (वामन से) गिरने का कारण पूछा । उनके वचनों को सुनकर वामन रूप धारी भगवान ने उन्हें वत्स गोत्रोत्पन्न प्रभास नामक ब्राह्मण के दो पुत्र, नेत्रभास और गतिभास की मनगढ़न्त कथा सुनाते हुए स्वयं को गतिभास नाम से परिचय कराते हुए बोले कि मेरे बड़े भाई (नेत्रभास) ने गृह के विभाजन करके भी मुझे वामन ठहराते हुए कुछ भी न देने का निश्चय किया है और मेरे द्वारा विरोध किये जाने पर मुझे नदी में फेंक दिया । वामन देव के वाक्यों को सुनकर दैत्येन्द्र धुन्धु ने उन्हें इच्छानुसार धन प्रदान करने को कहा, किन्तु वामनदेव ने अपने स्वार्थ को सिद्ध करने हेतु उनसे मात्र तीन पग भूमि की याचना की । तदनन्तर

उनके ऐसा कहने पर दैत्याधिपति ने उन्हें तीन पग भूमि प्रदान कर दिया । असुरेन्द्र द्वारा तीन पग भूमि प्रदान करते ही अनन्त शक्ति सम्पन्न भगवान वामन ने त्रिलोकी का मंथन करने के लिए त्रिविक्रम रूप धारण किया और दैत्यों का वध कर प्रथम पादन्यास से पृथ्वी लोक को, द्वितीय पादक्रम से आकाश को, आक्रान्त कर लिया । तृतीय पादक्रम के लिए जब स्थान अवशेष न रहा तो भगवान ने दानवश्रेष्ठ धुन्धु की पीठ पर अपना तृतीय चरण रख दिया और दैत्यश्रेष्ठ को उठाकर वेगपूर्वक गर्त में फेंक दिया । तदनन्तर इन्द्र को स्वर्ग लोक एवं समस्त देवों को त्रैलोक्य प्रदान कर स्वयं अन्तर्हित हो गये ।[1]

प्रेतवणिजोपाख्यान

पुरूरवा ने विष्णु की आराधना करने के उपरान्त जिस प्रकार विरूपता को छोड़कर ऐश्वर्य के साथ सुन्दर रूप प्राप्त किया इस प्रसंग में महर्षि पुलस्त्य नारद को प्रेतवणिक की एक कथा सुनाते हुए कहते हैं कि –

मद्रदेश में शाकल नाम के नगर में सुधर्मा नाम का एक धनाढ्य व्यापारी रहता था । एक बार अपने राष्ट्र से सुराष्ट्र जाते समय रात्रि में डाकुओं ने उस पर आक्रमण कर दिया जिससे दुःखित वह वणिक् मरुभूमि में विचरण करने लगा । वहीं विचरण करते हुए उसे एक शमीवृक्ष दिखाई दिया और वह उसके नीचे बैठकर शयन द्वारा विश्राम कर मध्याह्न में उठा और सैकड़ों प्रेतों से आवृत्त एक प्रेत को सामने से आते देखा । और स्वागत करके बैठ गया । वणिक् बन्धु से यहाँ आने का सारा विवरण पूछे जाने के उपरान्त प्रेतपति ने वणिक् पुत्र से कहा कि यदि तुम्हारा भाग्यफल होगा तो ।तुम्हारी सम्पत्ति तुम्हें पुनः मिल जायेगी । ऐसा

---

1. वामनपुराण, 52/13-90.

कहकर अपने मुख्यों को बुलाकर प्रेत ने उस वणिक्पुत्र का आदर-सत्कार किया । वह प्रेतपति जो कुछ भी कहता वह वस्तु तत्क्षण उसके पास उपस्थित हो जाता । प्रेतपति द्वारा वणिक् पुत्र को यथेष्ठ भोजन कराये जाने के पश्चात् जलपान एवं ओदन आदि खाद्य-पदार्थ के तिरोहित हो जाने से आश्चर्य को प्राप्त हुए वणिक् पुत्र द्वारा प्रेतपति से कारण पूछे जाने पर प्रेतपति ने उसको शाकल नाम के नगर में रहने वाले एवं क्रोधवशा के गर्भ से उत्पन्न सोमशर्मा नाम के ब्राह्मण की सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया, जिसे सुनकर वणिक् पुत्र ने प्रेतपति की आज्ञानुसार गया तीर्थ में जाकर प्रेतों के उद्देश्य से पिण्डदान करने के उपरान्त अपने पितरों को पिण्ड दान किया और अपने घर जाकर श्रवण द्वादशी का पालन करते हुए यथासमय मर गया । गन्धर्वलोक में चिरकाल तक दुर्लभ भोगों का उपभोग करने के उपरान्त मनुष्य जन्म प्राप्त कर शाकलपुरी का सम्राट बना, धर्म एवं कर्म में अनुरक्त रहकर मृत्यु के पश्चात् गुह्यकों के लोक को प्राप्त किया, तदुपरान्त मर्त्यलोक में राजपुत्र बनकर एवं संयमपूर्वक दान और भोग में लगे हुए उसने इन्द्र लोक द्वारा पूजित होकर पुण्य के क्षय से स्वर्गच्युत होकर अनुपम सुन्दरी ब्राह्मण कन्या से विवाह कर ऐश्वर्य सम्पन्न हो गया ।[1]

<u>जलोद्भवदैत्योपाख्यानम्</u>

जलोद्भव नाम के महान् असुरपति ने घोर तपस्या द्वारा ब्रह्मा की आराधना करके युद्ध में अजेय होने का वर प्राप्त किया था । इस प्रकार प्रभावशाली उस दनु श्रेष्ठ ने देवताओं एवं महर्षियों को पीड़ित करते हुए समस्त क्रियाओं को विनष्ट कर डाला । तदनन्तर देवगण राजाओं सहित विष्णु की शरण गये ।

---

1. वामनपुराण, [illegible]. 52/11-73.

देवताओं के हितकारी कार्य की मन्त्रणा करने के उपरान्त भगवान ने शत्रु को मारने का निश्चय किया । तदुपरान्त मारने की इच्छा से आ रहे देवाधिप शंकर एवं विष्णु को देखकर तथा उन्हें अजेय जानकर वह दानव जलोद्भव, भय से नदी में प्रविष्ट हो गया तत्पश्चात् शंकर एवं वासुदेव को गया हुआ जानकर जलोद्भव जल से बाहर निकला एवं भय के कारण दुर्गम पर्वत पर चला गया । पर्वत शृंग पर विचरण करते हुए शत्रु को देखकर भगवान विष्णु ने त्रिशूल एवं शिव ने चक्रधारी शस्त्र द्वारा उस असुरपति के शरीर का भेदन किया जिससे सुवर्ण के समान कान्ति वाला एवं अन्तरिक्ष से गिरने वाले विमल तारे के सदृश पर्वत से गिर पड़ा । इस प्रकार शत्रु के विनाश के लिए भगवान विष्णु ने त्रिशूल एवं शिव ने चक्र धारण किया था ।[1]

<u>श्रीदामवधोपाख्यानम्</u>

प्राचीन काल में श्रीदाम नाम से प्रसिद्ध असुरपति ने सम्पूर्ण जगत को आक्रान्त कर एवं तीनों लोकों को श्रीहीन करके वासुदेव से श्रीवत्स छीनने की इच्छा प्रकट की, जिससे भगवान विष्णु उसके वध की कामना से महेश्वर के समीप जाकर उनकी आराधना कर कई सहस्त्र वर्षों तक पैर के अंगूठे पर खड़े रहे । तद-नन्तर प्रसन्न हुए महादेव ने उन्हें दिव्य सुदर्शन चक्र प्रदान कर निःशंक भाव से असुरपति श्रीदाम का वध करने को कहा । भगवान शिव के वचनों को सुनकर विष्णु देव ने सुदर्शन के तेज को जानने की इच्छा से उसे वेगपूर्वक शिव के ऊपर चलाया, जिसे भगवान शिव ने तीन भागों में काट दिया । तदनन्तर लज्जित हुए विष्णु ने शिव को प्रणाम कर एवं तीनों भागों को मनुष्यों के लिए पुण्यदायी बनाकर देवशत्रु-(श्रीदामा) को मारने के लिए वेगपूर्वक चक्र को उसके ऊपर चलाया

---

1. वामनपुराण, 55/20-29.

और उसका सिर काट डाला । इस प्रकार दैत्यासुर के मारे जाने के पश्चात् भगवान विष्णु विरूपाक्ष शिव की आराधना कर बहुमूल्य श्रेष्ठ महायुध को लेकर क्षीरसागर चले गये ।[1]

उपमन्युपाख्यानम्

महर्षि व्याघ्रपाद का पुत्र उपमन्यु था । उसकी (उपमन्यु) माता धर्मशीला पिसे हुए चावल को दूध कहकर पिलाते हुए उसका पालन-पोषण किया था । एक दिन पिता के साथ किसी द्विज के घर खीर खाने के बाद दूसरे दिन माता द्वारा पुनः पिसे चावल के रस को खिलाये जाने पर, न खाने की हठ करने एवं रुदन करने पर माता ने आँसू से गद्गद् वाणी एवं पुत्र (उपमन्यु) से कहा कि यदि तुम दूध पीना चाहते हो तो विरूपाक्ष की आराधना करो ।

तदनन्तर पुत्र द्वारा विरूपाक्ष के विषय में पूछे जाने पर धर्मशीला ने उसे भगवान शिव द्वारा श्रीदामवध की प्राचीन कथा सुनायी, जिसे सुनकर उपमन्यु ने विरूपाक्ष शंकर की आराधना कर दुग्धयुक्त भोजन प्राप्त किया ।

गजग्राहमोक्षाख्यानम्

त्रिकूट नामक पर्वत पर विभिन्न वृक्षों, लताओं एवं पुष्पों से आच्छादित सरोवर के जल में एक दुरात्मा ग्राह रहता था । एक बार तृषायुक्त एक गजयूथपति, जल पीने की इच्छा से उसी सरोवर में उतरा और कमल के समूह में अपने झुण्ड के साथ क्रीड़ा करने लगा । क्रीड़ा करते हुए उस गजयूथपति को एक ग्राह ने पकड़ कर

---

1. वामनपुराण, 56/16-43.

वरुण पाशों से आबद्ध कर गतिहीन कर दिया, जिससे वह गजराज ऊँचे स्वर से चीत्कार कर भगवान हरि का ध्यान करने लगा और ग्राह से मुक्ति पाने की इच्छा से वह गजराज भगवान विष्णु से सम्बन्धित स्तोत्रों का पाठ करने लगा तदनन्तर गजराज की भक्ति से प्रसन्न हुए केशव ने उस सरोवर के समीप जाकर ग्राह-ग्रस्त उस गजेन्द्र तथा ग्राह को जलाशय से बाहर निकाला और चक्र द्वारा ग्राह को विदीर्ण कर गजेन्द्र को पाशों से मुक्त कर दिया ।

<u>कोशकारसुतोपाख्यानम्</u>

भार्गवश्रेष्ठ शुक्राचार्य द्वारा बलि को भगवान वामन के याचना किये जाने पर कुछ भी देने की असमर्थता व्यक्त किये जाने की सलाह देने पर दानशीलता पर अडिग दैत्यराज बलि शुक्राचार्य से, भगवान वामन को निश्चित रूप से दान देने की तत्परता को कोशकारसुत की कथा के माध्यम से इस प्रकार बतलाते हैं -

महर्षि मुद्गल का एक तपस्वी पुत्र था, जिसका नाम कोशकार था । उसकी पत्नी धर्मिष्ठा के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हुआ था वह स्वभाव से ही जड़ आकार वाला था । अपने पुत्र को गूँगा और अन्धा समझकर ब्राह्मणी ने उसे घर के बाहर फेंक दिया । तदनन्तर शूर्पाक्षी नाम की एक दुराचारिणी अपने पुत्र को वहीं छोड़कर एवं उस बालक को उठाकर खाने के लिए शालोदर पर्वत पर गयी । उसे आया जानकर उसके नेत्रहीन पति घटोदर ने उससे शूर्पाक्षी। उस बालक को न खाने और छोड़ देने की सलाह दी । तदनन्तर राक्षसी द्वारा बाहर छोड़े गये उस राक्षस-पुत्र के रुदन को सुनकर धर्मिष्ठा उसे उठाकर अपने घर ले आई । इसी बीच पति की आज्ञा से शूर्पाक्षी ने ब्राह्मण पुत्र को पुनः बाहर लाकर छोड़ दिया किन्तु वह अपने पुत्र को पुनः प्राप्त न कर सकी तदनन्तर कोशकार ने दोनों पुत्रों का नाम निशाकर एवं दिवाकर रखा । राक्षस पुत्र दिवाकीर्ति एवं ब्राह्मण पुत्र निशाकीर्ति का यज्ञोपवीत संस्कार भी साथ-साथ ही कराया गया किन्तु जड़ता

के कारण वेदपाठ न कर पाने वाले निशाकर की लोग निन्दा करने लगे, जिससे क्रुद्ध हुए पिता ने उसे निर्जल कूप में फेंक कर बड़ी शिला से ढँक दिया । तदनन्तर दस वर्ष बीत जाने पर उसकी माँ उस अँधेरे और पत्थर से ढके हुए कुएँ के पास जाकर ऊँचे स्वर में बोली कि कुएँ के ऊपर इस पत्थर को किसने रखा है ।

तदनन्तर कुएँ के भीतर अवस्थित पुत्र निशाकर ने माँ से अपना समस्त पूर्व वृत्तान्त बताया, जिसे सुनकर धर्मनिष्ठा ने शिला को उठाकर दूर फेंक दिया और अपने पुत्र को लेकर पति के समीप जाकर उससे पूर्ण वृत्तान्त कहा । तदनन्तर कारण पूछे जाने पर ब्राह्मण पुत्र ने पिता एवं माता से अपने नेत्रों के अन्धत्व का कारण इस प्रकार बतलाया कि "वृन्दारकवर्षा में, वृषकपि का पुत्र (निशाकर) अत्यधिक ज्ञान-निपुणता के कारण अहंकार को प्राप्त होता हुआ दुष्कर्म कर्म करने लगा, जिससे अविवेकी एवं मूढ़ वह परस्त्री में आसक्त रहने लगा और मृत्यु को प्राप्त कर रौरव नरक में गया ।

तदुपरान्त एक सहस्त्र वर्ष के बाद भोग से अवशिष्ट पाप के कारण, पशु-घाती व्याघ्र रूप में उत्पन्न हुआ एवं अरण्य में विचरण करते हुए उसको एक प्रभाव युक्त राजा अपने नगर ले आया । उस राजा की रूपवती शिखा नाम की भार्या थी । एक बार पति की अनुपस्थिति में उसने (व्याघ्र ने) उसकी पत्नी को रमण करने की इच्छा से पकड़ लिया, जिससे राजा के अनुचरों द्वारा वह पुनः मार दिया गया । सहस्त्र वर्ष के उपरान्त पुनः श्वेतगर्दभ के रूप में उत्पन्न हुआ वह अनेक स्त्रियों वाले अग्निवेश नामक ब्राह्मण के घर लाया गया । एक बार ब्राह्मण पत्नी को उसके पितागृह ले जाते समय मार्ग में उतरकर नदी में नहाते हुए ब्राह्मण पत्नी को देखकर अत्यधिक कामातुर होकर उसे झपटने के कारण वहाँ पुनः अनुचरों द्वारा मार दिया गया और कई वर्षों तक नरक में पड़ा रहा । कुछ समय पश्चात् वहाँ से मुक्त होकर वह (निशाकर) पुनः एक पक्षी के रूप में उत्पन्न

हुआ जिसे दुरात्मा शबर ने पकड़कर एक वणिक् पुत्र के हाथ बेच दिया । उस वणिक् पुत्र के महल में रहने वाली सुन्दर युवतियों में एक चन्द्रावली नाम की युवती के साथ विहार करते हुए पापासक्त वह स्त्री रूप में जन्म लिये बाला (शिवाकर) उसके हार में बँधकर मर गया और घोर नरक में गया ।

तदनन्तर वह बैल होकर चाण्डाल के घर पहुँचा और उसकी पत्नी में कामासक्त होने के कारण पुनः भूमि पर गिरकर मर गया और सहस्रों वर्ष तक नरक में पड़ा रहा । वहाँ से वह (शिवाकर) पूर्व जन्म का स्मरण करता हुआ कोशकार के घर पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ ।

इस प्रकार वह ब्राह्मण पुत्र (शिवाकर) अपने माता पिता से अपना पूर्व वृत्तान्त बतलाकर सुविख्यात बदरिकाश्रम चला गया ।[1]

उपाख्यानों का महत्व

पुराणों में जितने भी आख्यान, उपाख्यान एवं कथाएँ उपलब्ध होती हैं उन सबका मूल उद्देश्य या तो किसी धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित पूजा-विधान, व्रत-नियम, देवोपासनाओं आदि का प्रतिपादन होता है अथवा उनके द्वारा सामाजिक एवं नैतिक शिष्टाचार का कुछ उपयोगी उपदेश दिया गया है ।

'वंशानुचरित' वर्णन में भी विभिन्न वंशों के राजाओं तथा महर्षियों के चरित-वर्णन द्वारा यह शिक्षा दी गई है कि उत्कर्ष प्राप्त करने के लिए धर्म एवं नीति का पालन नितान्त आवश्यक है । इसके अभाव में बड़े-बड़े ज्ञानी एवं राजा

---

1. वामनपुराण, 64/20-112.

भी अन्धकार के गर्त में विलीन हो जाते हैं । इन कथाओं का मुख्य उद्देश्य मनुष्य की उदात्त भावनाओं को जागृत कर श्रेयस्कर मार्ग की ओर अग्रसर करना है । इस विषय में डा० बलदेव उपाध्याय[1] तथा पं० श्रीरामशर्मा आचार्य[2] आदि अनेक विद्वानों का मत है कि पुराण का मुख्य तात्पर्य प्राचीन कथानकों के माध्यम से श्रोताओं के चित्त को पापात्मक प्रवृत्ति से हटाकर पुण्यात्मक प्रवृत्ति की ओर अग्रसर करना है । कथाओं की यह विशिष्टता रही है कि उनके द्वारा अनुरंजन के साथ-साथ शिक्षण भी होता जाता है । आख्यान, उपाख्यान व कथाओं के माध्यम से पुराण-ग्रन्थ सुहृत्सम्मित उपदेश होते हैं अर्थात् पाप-पुण्य के विशिष्ट फल का प्रदर्शन कर एक का (अधर्म का) प्रतिषेध तथा दूसरे के (धर्म के) पालन की शिक्षा देते हैं । इनका उपदेश प्रभुसम्मित आदेश नहीं होता, इसीलिए ये अधिक ग्राह्य होते हैं ।

बलदेव उपाध्याय के कथनानुसार - 'धर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तों को हृदयंगम करने के लिए तथा जनहृदय तक पहुँचाने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो गम्भीर अर्थ प्रतिपादक होते हुए भी रोचक हो तथा जो वेदार्थ का निरूपक होते हुए भी सरल एवं सुबोध हो । इसी आवश्यकता की पूर्ति पुराण करता है ।[3] कथाओं अथवा उपाख्यानों को मनोनुकूल बनाने के लिए मनोविज्ञान का भी आश्रय लेना पड़ता है, यद्यपि कुछ कथाएँ व आख्यान ऐसे भी हैं, जो पूर्णतया काल्पनिक एवं असत्य से प्रतीत होते हैं किन्तु ऐसे आख्यानों व उपाख्यानों का

---

1. पुराण-विमर्श, डा० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ० 58.
2. मार्कण्डेय-पुराण प्रथम खण्ड। पुरातन-संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली, उ०प्र० 1967, पृ० 3.
3. मार्कण्डेय पुराण, पं० श्री-रामशर्मा आचार्य, पृ० 610.

भी हमारे पुराण-साहित्य में अभाव नहीं है जो सांस्कृतिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों से परिपूर्ण है। वस्तुतः जिन कथाओं, आख्यानों अथवा उपाख्यानों द्वारा मनुष्य के हृदय पर तत्काल प्रभाव पड़े और वह उसी के अनुकूल आचरण की चेष्टा करे वही कथा अथवा आख्यान सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में संयुक्त कही जाती है।

यदि इन आख्यान व उपाख्यानों का उद्देश्य मात्र मनोरंजन अथवा नीरस उपदेश ही होता तो पुराणों को आज जो स्थान प्राप्त है वह कदापि न प्राप्त हो सकता।

इस दृष्टि से डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल का यह कथन है कि - 'यह एक ऐसा विशाल पुराण साहित्य है जिसकी प्रातिभिक (अगाध) शक्ति के ओजायमान प्रवाह में एक ओर दर्शन, धर्म और तत्वज्ञान के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं और दूसरी ओर यह (पुराण-साहित्य) सामाजिक जीवन की बहुमुखी सांस्कृतिक सामग्रियों को अपनी रोचनात्मक शैली में प्रस्तुत करता है।[1] पुराणों की शाश्वत प्रतिष्ठा और लोकप्रियता का प्रमुख कारण उनकी यह कथा समन्वित शैली है जो आज भी पुराणों को जीवित बनाये हुए है।

उपाख्यानों का मूलकथा के निर्वहन में योगदान

उपाख्यान अर्थात् आख्यानान्तर कथा का मूल-कथा के संदर्भ में अनिवार्यता, सुनिर्मित, सुव्यवस्थित एवं सुदीर्घाकार इमारत के दृष्टान्त से स्वतः सिद्ध है अर्थात्

---

1. मार्कण्डेयपुराण (एक सांस्कृतिक अध्ययन) प्रकाशन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (उ0प्र0) प्रथम संस्करण, 1961, पृ0 114-115.

किसी इमारत के भवन-निर्माण में जिस प्रकार ईंट, बालू, सिमेंट आदि तत्वों का महत्वपूर्ण योग होता है उसी प्रकार मूल-कथा को सुन्दर सुव्यवस्थित, विस्तारयुक्त एवं सुविस्तृत बनाने में उपाख्यान अथवा अवान्तर कथा-शैली का महत्वपूर्ण स्थान है। ये उपाख्यान मूलकथा के साथ अनेक प्रासंगिक अथवा अवान्तर कथा के रूप में साथ-साथ चलती रहती है। कथा के भीतर कथा कहने की इस प्रवृत्ति के कारण इस शैली के काव्यों में कथानक की जटिलता खटकती तो रहती है लेकिन साथ ही आकर्षक प्रसंगों के वर्णन से श्रोताओं एवं पाठकों के चित्त का अनुरंजन भी करती है।

जैसा कि वामनपुराण की मूल कथा बलि-वामन चरित ही सम्पूर्ण वामन-पुराण का स्तम्भ है किन्तु जैसे विशाल वृक्ष के स्तम्भ में अनेक गाठें होती हैं और उनमें प्रत्येक गाँठ का अपना एक अस्तित्व और महत्व होता है क्योंकि यदि उनमें से किसी एक गाँठ को निकाल दिया जाये तो स्तम्भ शिथिल पड़ सकता है अतः इस दृष्टि से वामन पुराण की मूल कथा के साथ-साथ अन्य अनेक अवान्तर कथाओं (उपाख्यानों) को भी संयुक्त किया गया है, जिसके कारण कथानक में गति और प्रवाह का संचार होता है। वामन पुराण में बलि-वामन रूप मूलकथा के साथ दक्षयज्ञविध्वंस, शिवलिंगपातनम्, अन्धकविजय, सुकेशिचरित, संवरणकुरुपाख्यान, वेनोपाख्यान, स्कन्दोत्पत्ति, शुम्भ-निशुम्भवध, धुन्धुमारोपाख्यान आदि अनेक उपाख्यान अथवा प्रासंगिक कथायें जुड़ी हैं जिनके द्वारा पुराणकार ने मूलकथा को प्रभावी तथा प्रवाहपूर्ण बनाने का सफल प्रयास किया है।

प्रायः कहीं-कहीं अवान्तर कथायें कवि कल्पना से भी निःसृत्य होती हैं लेकिन यदि वे सरल, सहज और स्पष्ट हों तो मूलकथानक में जटिलता का आभास नहीं हो पाता। वामन पुराण में कुरुक्षेत्र निर्माण प्रसंग के दीर्घ वर्णन के कारण कथा-सूत्रों में कुछ शिथिलता का आभास होने लगता है क्योंकि ऐसे स्थलों

पर कथा कुछ ठहरी हुई सी प्रतीत होने लगती है लेकिन इतना अवश्य है कि वामन-पुराण की मूलकथा के साथ आई हुई अन्य प्रासंगिक कथाएँ संदर्भानुकूल एवं स्वाभाविक है। इनमें किसी भी प्रकार की अनुचितता नहीं दिखाई पड़ती बल्कि सम्पूर्ण कथानक पुराणकार के अभीप्सित दर्शन को प्रतिष्ठित करने में पूर्ण सक्षम प्रतीत होता है।

आलोचित पुराण में अब तक जिन उपाख्यानों का विवेचन किया गया है उनका विश्लेषण करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मूल कथा के निर्वहण में इनका कुछ न कुछ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष योगदान है। उपाख्यान मूल कथा से कभी कभी विधात्मक ढंग से और कभी कभी निषेधात्मक ढंग से जुड़े रहते हैं। जिन उपाख्यानों में मूल-कथा के ही पात्र हों और जिनकी प्रवृत्ति भी मूल-कथा जैसी हो, वे तो विधात्मक उपाख्यान हैं जैसे आलोचित पुराण में वर्णित धुन्धुमूपोपाख्यान[1] परन्तु कुछ ऐसे भी उपाख्यान होते हैं जो पूर्णतः स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं जिनका आपाततः कोई सम्बन्ध मूल-कथा से नहीं सिद्ध होता। यथा - वशिष्ठापवाह[2] उपाख्यान और गौतमिवृत्तान्त[3] आदि। परन्तु यह कहना सर्वथा समीचीन नहीं है कि ऐसे उपाख्यानों का मूल-कथा के निर्वहण में कोई सहयोग होता ही नहीं है, वस्तुतः वे भी मनोरंजन, कथा-प्रवाह, और विकास की दृष्टि से मूलकथा को अपना सहयोग प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर सिद्ध हो जाता है कि वामन-पुराण के समस्त उपाख्यान बलि-वामन की मूल-कथा के निर्वाह में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं।

---

1. वामनपुराण, 52/13-90
2. वही, स0मा0, 19/1-43.
3. वही, 43/122-147.

उपाख्यानों का परवर्ती संस्कृत वाङ्मय पर प्रभाव

पुराण मुख्यतः धार्मिक ग्रन्थ है । हिन्दू-समाज में वेदों के अनन्तर इन्हीं की प्रतिष्ठा है । वैदिक वाङ्मय सर्वग्राह्य नहीं था, अतएव वेदोक्ति को आख्यान के माध्यम से प्रस्तुत करने का अभिप्राय था - वेद से अनभिज्ञ जन-सामान्य के ज्ञान को सुस्तर बनाना । पौराणिकों का मूल-उद्देश्य अपने ग्रन्थों में उच्च-कोटि के धर्ममूलक एवं दर्शनमूलक तत्वों को सरल एवं सुग्राह्य शैली में उतारना था । पुराणकारों ने महाभारत में उपलब्ध 'अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्' की प्रश्न समाधान शैली को सुरक्षित रखते हुए आख्यान-समन्वित विपुल-पुराण-साहित्य का सृजन किया ।

वासुदेवशरण अग्रवाल[1] के शब्दों में भागवतों ने नव-साहित्य के निर्माण में मुख्यतः भाग लिया । वे उपाख्यानों की शैली में निष्णात थे । जिस प्रकार बौद्ध-साहित्य में अनेक अवदानों की रचना हुई उसी प्रकार भागवतों ने अनेक नये उपाख्यान रचे ।

पुराणधर्म विशेषतः भक्ति पर आधारित है । अतः इनका प्रणयन भी किसी विशेष उपास्य देव की भक्ति को लक्ष्य करके हुआ है ।

आख्यान शैली की प्रामाणिकता के कारण पुराणों में प्रचलित कथाओं का सन्निवेश सहज और स्वाभाविक था । ये कथायें मानवजीवन की उपकारक प्रवृत्ति-यों को जागृत एवं क्रियाशील बनाने की प्रेरणा में बेजोड़ है । दया, परोपकार, मैत्री, करुणा, अस्तेय, अपरिग्रह, सत्याचरण, ब्रह्मचर्य, साहस, सरलता, निरभि-

---

1. रामप्रताप त्रिपाठी, पुराणों की अमर कहानियाँ, साहित्य भवन, (प्रा०) लिमिटेड, इलाहाबाद, पृ० 3, 1961.

मानिता, त्याग, संयम, व्रत-उपवास, जप-तप, विविध-दान, तीर्थाटन, चित्त-वृत्तियों के निग्रह आदि प्रसंगों पर तो पुराणों की सैकड़ों रोचक कहानियाँ हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इतनी प्राचीन होते हुए भी ये अद्यापि नूतन प्रतीत होती हैं और जन मन को सद्यः आकृष्ट करती हैं। इससे इनकी रचना का उद्देश्य सफल प्रतीत होता है। इनमें वर्णित जप-तप, पूजा-पाठ, व्रत-उपवास और तीर्थों की आज भी उतनी ही महिमा है जितनी आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व थी।

———:0:———

चतुर्थ अध्याय

सामाजिक एवं सांस्कृतिक विवेचन

समाज एवं संस्कृति

महान् उद्बोधक, सारगर्भ सन्देश एवं कल्याणी प्रेरणा से अनुप्राणित आलोचित 'वामन पुराण' का सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्व भी अन्यान्य पुराणों एवं महाकाव्यों से कम नहीं है । क्योंकि अथवा समाज संस्कृति से उसी प्रकार घिरा हुआ है जैसे नदी से आप्लुत कोई भूखण्ड । 'सम्' उपसर्गपूर्वक कृ धातु से निष्पन्न यह संस्कृति पद चिरकाल से समस्त मानवता को विशेषता प्रदान करने के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है । मानवता को विशिष्ट बनाने वाले उसके आदर्श, उसकी परम्परायें एवं मान्यतायें हैं । संस्कृति ही किसी समाज के दृष्टिकोण, आचरण संस्कार, कलात्मक वैभव, परम्परा तथा आचार की सुनिश्चिति और सर्वस्व है अर्थात् वे सभी उत्तम अभिव्यक्तियाँ संस्कृति हैं, जिनके द्वारा मानवता को सतत विशिष्टता प्राप्त होती रही है चाहे वह भौतिक हो, आधिभौतिक हो अथवा आध्यात्मिक ।

मानव को निरन्तर चिरन्तन रूप से प्रभावित एवं नये नये संस्कारों से अनुप्राणित करती हुई हमारी संस्कृति के अतिशय भावना के प्रति 'मानव-हृदय की उदारता, पवित्रता तथा सम्बन्ध की सरसता इस प्रकार उभरती चली आती है जिस प्रकार गोधूलिबेला में रंभाते हुए बछड़े अपनी माताओं के स्तन-पान के लिए नहीं वरन् अपना प्रेमत्व साकार करने के लिए छटपटाते हों । अतः स्पष्ट है कि संस्कृति समाज को पूर्ण तरह आप्लुत किये रहती है ।

वस्तुतः शुद्ध करने की क्रिया ही संस्कृति कहलाती है अर्थात् किसी स्थूल पदार्थ से सूक्ष्म तत्व को निकालने के लिए जिस क्रिया को अपनाया जाता है वही क्रिया संस्कृति है । उदाहरणार्थ जिस प्रकार कच्ची मिट्टी को शुद्ध करने से स्वर्णवत् धातु उपलब्ध हो सकता है उसी प्रकार मानव जाति के स्थूल धातु से संस्कृति द्वारा

उत्तम मानसिक एवं सामाजिक गुण-प्रादुर्भूत होते हैं । अतः जिससे मानवता का संस्कार हो, ऐसी शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन और ऐसी परम्परायें ही संस्कृति की उद्भावक हैं । संस्कृति को हम एक सामाजिक विरासत भी कह सकते हैं जो कि संचय से विकसित होती है ।

दृष्टिदोष के कारण अथवा संस्कृति के मूल अनुबन्धों को समझ न सकने के कारण अनेक आलोचकों ने यह आक्षेप किया है कि पौराणिक संस्कृति स्वप्नों और कल्पनाओं की अस्थिर भूमि पर खड़ी है और संसार की दृढ़ भूमि से उसका सम्बन्ध ही मिट गया है । लेकिन यह धारणा सर्वथा मिथ्या है । वस्तुतः हमारी पौराणिक संस्कृति खड़ी तो इसी भूमि पर है लेकिन उसका सिर आकाश की ओर उसी प्रकार उठा हुआ है जिस प्रकार मानव चलता तो जमीन पर है लेकिन देखता सामने या ऊपर है । अतः स्पष्ट है कि पौराणिक संस्कृति जीवन के अन्तरिक्ष को भेद कर उसके रहस्य को जानने के लिए ही उद्भूत हुई है ।

प्रस्तुत 'वामन पुराण' हमारी भारतीय संस्कृति की सामाजिक एवं धार्मिक विशिष्टताओं का प्रतीक है । यह जीवन में हमारी सामाजिक मर्यादाओं के एक आदर्श को अभिव्यक्त करता है । हमारी संस्कृति ने अपने की अपेक्षा त्याग को अधिक महत्व दिया है इसीलिए उच्च स्तर पर आरूढ़ व्यक्ति का जीवन चाहे वह मानव हो अथवा मानवेतर, सदैव आत्मार्पण की भावना पर ही निर्मित होता है जैसा कि 'आलोचित पुराण' में भगवान वामन द्वारा बाबलि से तीन पग भूमि की याचना पर बलि का भगवान को अपना सर्वस्व समर्पण करने से पूर्णतया स्पष्ट है ।

सामाजिक पक्ष में यह भावना अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य को अधिक महत्व देता है । क्योंकि मानव-जीवन अपने और अपने समाज के प्रति कर्तव्यों और आत्मदान से परिपूर्ण है । राजा बलि का त्यागपूर्ण कर्तव्य, भावना का श्रेष्ठतम

प्रतीक माना जा सकता है क्योंकि राजा बलि का जीवन अपने लिए नहीं, वरन् एक आदर्श से प्रेरित जीवन है, कर्तव्य के लिए अर्पित जीवन है एवं व्यक्तिगत सुख पर लोकहित की प्रधानता का जीवन है ।

वामनपुराण में वर्णित व्यक्ति एवं समाज

वर्णोत्पत्ति-विषयक पौराणिक उल्लेख

वामनपुराण के समाज की मूल भित्ति वर्णाश्रम व्यवस्था रही है । आलोचित पुराण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है । इनके धर्म, व्यवहार, व्रत अथवा आचार आदि नियमों को चातुर्वर्ण्य - व्यवस्था कहते हैं ।[1] आलोचित पुराण में चातुर्वर्ण्य का दैवी उद्भव परिकल्पित है । इसमें आख्यात है कि ब्राह्मण ब्रह्म रूपी वृक्ष के मूल हैं, क्षत्रिय स्कन्ध हैं, वैश्य शाखा एवं शूद्र पत्र हैं ।[2] अग्नि सहित ब्राह्मण ब्रह्म के मुख एवं शस्त्र सहित क्षत्रिय उनकी भुजाएँ हैं । वैश्य उनके उदर के पार्श्व भाग से तथा शूद्र चरण से उत्पन्न हुए हैं ।[3] एक अन्य स्थल पर पुनः वर्णोत्पत्ति विषयक तथ्य पर प्रकाश डाला गया है । 'सरोमाहात्म्य' में सृष्टि उत्पत्ति के प्रकरण में विवृत है कि विष्णु ने सर्वप्रथम ब्रह्मा की उत्पत्ति की तथा ब्रह्मा के नाभि स्थल से महान् निर्मल जल के मध्य में स्थाणु-स्वरूप, महामनस्वी पद्म की सृष्टि की ।[4] उससे

---

1. गरुड़पुराण, 1/49/23.
2. वामनपुराण, 60/25
3. वामनपुराण, 60/26 द्रष्टव्य, काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, खण्ड 2, भाग 1, पृष्ठ 47.
4. वामनपुराण, स0मा0 22/37.

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तथा इन त्रिय-वर्णों की शुश्रूषा हेतु शूद्रों की उत्पत्ति हुई ।[1] पद्मपुराण में आख्यात है कि ब्राह्मण में सतोगुण की, क्षत्रिय में रजोगुण की, तथा वैश्यों में तमोगुण की प्रधानता पायी जाती है ।[2] इस पुराण में एक अन्य स्थान पर ब्राह्मणों का प्राजापत्य-स्थान, क्षत्रियों को स्थान वैश्यों को मारुत स्थान तथा शूद्रों को गन्धर्व-स्थान पर नियुक्त किया गया है ।[3] आलोचित पुराण में वर्णित वर्णोत्पत्ति विषयक सिद्धान्त विष्णु[4], वायु[5], ब्रह्माण्ड[6], मत्स्य[7] आदि पुराणों से साम्य रखता है । गरुड़ पुराण में उपर्युक्त चारों वर्णों को क्रमशः ब्रह्मा के मुख, भुजाओं, जंघाओं तथा पादों से उत्पन्न बताया गया है ।[8] पद्मपुराण की तरह-गरुड़ पुराण में भी आख्यात है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य क्रमशः ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, मरुत लोक, और गान्धर्वलोक के भोक्ता है ।[9]

चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठा

वामन पुराण में आख्यात है कि चातुर्वर्ण्य अपने अपने आश्रमों में स्थित हो

---

1. वामनपुराण, स0मा0, 22/38, 39.
2. पद्मपुराण सृष्टि, 3/119/121.
3. वही, 3/147, 148.
4. विष्णुपुराण, 1/12/63-64.
5. वायुपुराण, 9/113.
6. ब्रह्माण्डपुराण, 1/5/108.
7. मत्स्यपुराण, 4/28.
8. गरुड़पुराण, 1/4/34.
9. वही, 1/4/35.

चुका था ।[1] एक अन्य स्थल पर मार्कण्डेय मुनि ने सप्ततीर्थ में सरस्वती की स्तुति करते हुए उन्हें तीनों वर्णों का ही पुत्रित्व कहा है ।[2] द्विज वर्णों को सरस्वती का पुत्रित्व मानना इस बात को निर्दिष्ट करता है कि शास्त्रज्ञान एवं विद्योपार्जन केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्णों के लिए ही विहित था । वामनपुराणकार शूद्रों को विद्योपार्जन का अधिकारी नहीं मानता है । अतः इस पुराण में इस परम्परा का पोषण परिलक्षित होता है कि द्विज वरिष्ठ थे तथा शूद्रों का कार्य तीनों वर्णों की निष्ठापूर्वक सेवा करना तथा उनकी प्रसन्नता का पात्र बनकर उनसे प्राप्त जीविका, एवं अन्यान्य कार्यों का सम्पादन करना तथा उसी में पुरुषार्थ चतुष्टय की संतुष्टि मानना था । आलोचित पुराण में उल्लेखित है कि भारत-वर्ष के अन्तर्भाग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र लोग रहते हैं, जो यज्ञ युद्ध : वाणिज्य आदि कर्मों द्वारा पवित्र किये गये हैं । उनका व्यवहार स्वर्गापवर्ग की प्राप्ति तथा पाप पुण्य आदि कर्मों द्वारा प्रभावित होकर था ।[3] चारों वर्णों द्वारा अपने आश्रम में व्यवस्थित रहकर धर्मकार्यों के अनुष्ठान में तत्पर रहने से देवता भी तृप्ति से युक्त हो जाते हैं ।[4] इसी प्रकार जम्बू-द्वीप की प्रशंसा करते हुए विष्णु पुराण में आख्यात है कि इस द्वीप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं

---

1. वामनपुराण, सरो० महा० 18/24.
2. वही, 11/11.
3. वही, 13/12-13.
4. वही, 7/25.

शुद्र व्यवस्थित होकर निवास करते हैं ।[1] मत्स्यपुराण में शाकद्वीप की प्रशंसा करते हुए यहाँ ब्राह्मणादि चारों वर्णों का निवास बताया गया है ।[2] वायु एवं ब्रह्माण्ड, पुराणों में देववर्ग को भी चातुर्वर्ण्य से युक्त कहा गया है ।[3] ब्रह्माण्ड, पुराण में ब्राह्मणादि से संयुक्त सृष्टि की व्यवस्था को शाश्वत बताया है ।

वर्णों का सामाजिक स्वरूप

ब्राह्मण

आलोचित पुराण में ब्राह्मण के लिए प्रायः 'ब्राह्मण'[4] एवं 'विप्र'[5] शब्द का प्रयोग किया गया है । कई स्थलों पर ब्राह्मण के लिए 'द्विज'[6] शब्द का भी प्रयोग मिलता है ।

ब्राह्मण-देवत्व

आलोचित पुराण में ब्राह्मण देवताओं के समान पूज्य बताये गये हैं ।[7] एक

---

1. विष्णुपुराण, 2/3/9
2. मत्स्यपुराण, 122/28
3. वायु पुराण, 30, 67; ब्रह्माण्डपुराण 2/13/65.
4. वामनपुराण, 7/29, 64/84, 52/60, 12/31, 25/55/15/62, 52/68.
5. वही, 23/2, 34/46, 69/6, 69/10.
6. वही, 59/2, पुनः द्विजातिप्रवर शब्द = 62/2, 12/3-4.
7. वही, 7/23.

स्थल पर उन्हें देवताओं के समान पूज्य बताते हुए उनके निन्दकों को नरक भोक्ता बताया गया है ।[1] देवता एवं ब्राह्मण की पूजा धर्म-कार्य माना गया है ।[2] पापियों द्वारा गुरु, देवता, ब्राह्मण एवं वेदों की निन्दा सुनने वाले नीच व्यक्ति को यमलोक में कीलों से ठोंके जाने की बात कही गई है ।[3] ब्राह्मण को अग्नि सहित विष्णु का मुख कहा गया है ।[4] वामनपुराण के एक स्थल पर आख्यात है कि श्रुतिशास्त्र से वर्जित श्रेष्ठ ब्राह्मण भी पितामह की समानता प्राप्त करता है ।[5] एवं वामन (विष्णु) ने कहा है कि जब तुम देवों एवं ब्राह्मणों के साथ विरोध करोगे वहाँ तुम समस्त कामनाओं से युक्त भोगों को भोगोगे ।[6]

ब्राह्मणों को देव सम प्रतिपादित करने का पौराणिक दृष्टिकोण अन्याय पौराणिक उल्लेखों से भी समर्थित है । विष्णुपुराण में पुत्र-जन्म के अवसर पर निमन्त्रित ब्राह्मणों को देव सम पूज्य बताया गया है ।[7] मत्स्यपुराण में एक स्थान पर चन्द्रमा एवं ब्राह्मण में एकता स्थापित की गई है । ब्रह्माण्डपुराण में आख्यात है कि ब्राह्मण रुद्र (शिव) का शरीर है ।[8]

---

1. वामनपुराण, 12/3-4.
2. वही, 10/35.
3. वही, 12/21-22
4. वही, 60/26
5. वही, 50/17, (यस्मिन् द्विजेन्द्राः श्रुतिशास्त्रवर्जिताः समत्वमायान्ति पितामहेन) ।।
6. वही, सरोमाहात्म्य, 10/75/76.
7. विष्णुपुराण, 3/13/2.
8. मत्स्यपुराण, 57/81.
9. ब्रह्माण्डपुराण, 2/10/20.

ब्राह्मणों को देवतुल्य मानने की प्रवृत्ति वैदिक काल में भी विद्यमान था। तैत्तिरीय संहिता में एक स्थल पर ब्राह्मण को प्रत्यक्ष देवता कहा गया है।[1] स्मृतियों में भी यही मान्यता आख्यात है।[2] ब्राह्मण को देश से निकालना, उसका धन-[illegible] तथा उसकी निन्दा करने से मनुष्य नरक का भागीदार होता है। ऐसा वामन पुराण में वर्णित है।[3] एक अन्य स्थल पर राजा अन्धक के प्रसंग में भगवान शंकर कहते हैं कि विप्र का वध करने वाले के शरीर का शोधन (विनाश) मैं स्वयं करता हूँ।[4] ब्राह्मण 'विद्वेषी' को अधम बताया गया है चाहे वह श्रेष्ठवर्ण का ही क्यों न हो। ऐश्वर्य की इच्छा रखने वाले को ब्राह्मणों के प्रति सद्भाव रखना चाहिए।[5] इसी प्रकार अन्यान्य पुराणों में भी ब्राह्मणों के प्रति सम्मान एवं सद्भाव को वर्णित कर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर प्रकाश डाला गया है।

स्वाध्याय के ब्राह्मणों का परमधर्म बताया गया है।[6] एक अन्य स्थल पर ब्राह्मण गृहस्थ के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए उन्हें सदा श्रुति (वेद) का अध्ययन करने एवं विद्वान बनने का निर्देश किया गया है।[7] आलोचितपुराण के

---

1. 'एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणा' तैत्तिरीय संहिता, 1/7/11.
2. 'प्रत्यक्ष देवताः ब्राह्मणाः' विष्णु स्मृति, 19/20.
3. वही, 35/9.
4. वही, 37/11.
5. वही, 64/17.
6. वही, 14/4-5.
7. वही, 14/4-5.

एक स्थल पर महर्षि पुलस्त्य, जो ब्राह्मण-वर्ण के थे, उन्होंने नारद से कहा कि मैं जो पुराण कथा सुनाने जा रहा हूँ वह राजसूय यज्ञ का फल प्रदान करने वाला है।[1]

एकता, समता, सत्यता, शील में स्थिति, दण्ड-विधान का त्याग, अक्रोध एवं उपरमचित्त आदि को ब्राह्मण का विशिष्ट गुण निर्दिष्ट किया गया है।[2] ब्राह्मणों द्वारा दक्षिणा ग्रहण करने के औचित्य के प्रसंग में कहा गया है कि चाण्डाल और अन्त्यज से दक्षिणा लेने वाला याचक पुनर्जन्म में मत्स्य या कीड़ा बनता है।[3]

आलोचित पुराण में यह भी आख्यात है कि प्रजापति दक्ष के यज्ञ में वशिष्ठ, अत्रि, कौशिक, गौतम, भारद्वाज आदि ऋषियों को सपत्नीक यज्ञ कार्य सम्पन्न कराने के लिए आमन्त्रित किया गया है।[4] इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के द्वारा ही यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता रहा है।

<u>क्षत्रियवर्ण</u>

ऋग्वेद में एक ही ऋचा में 'ब्रह्म' और 'क्षत्र' शब्द क्रमशः प्रार्थना और पराक्रम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[5] अन्य वैदिक ग्रन्थों में ये शब्द ब्राह्मण और

---

1. वामनपुराण, 69/7.
2. वामनपुराण, सरोमा० 22/26.
3. वामनपुराण, 12/36.
4. वामनपुराण, 2/9-10.
5. ऋग्वेद, 1/157/2.

क्षत्रिय के लिए प्रयुक्त किया गया है ।[1] क्षत्रिय शब्द का प्रयोग कहीं कहीं देव-ताओं के लिए भी प्रयुक्त है ।[2] पुरुषसूक्त में क्षत्रिय के लिए 'राजन्य' का प्रयोग मिलता है ।[3] एवं आलोचित पुराण में भी क्षत्रिय शब्द का ही प्रयोग किया गया है ।[4]

क्षत्रियों के सम्बन्ध में आलोचित पुराण में एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध है, जिसके अनुसार क्षत्रियों के लिए गृहस्थ, ब्रह्मचर्य एवं वानप्रस्थ आश्रम ही अनुसरणीय है । इन आश्रमों में रहकर उन्हें भी ब्राह्मणों के लिए विहित आचारों के पालन का विधान प्रतिपादित किया गया है ।[5] वामन पुराण में 'युद्ध' को क्षत्रियों का प्रमुख कर्तव्य बताया गया है ।[6] क्षत्रियों के युद्ध-कौशल का प्रतिपादन वैदिक काल में ही हो चुका था । उदाहरण स्वरूप शतपथ-ब्राह्मण में वर्णित है कि क्षत्रिय विजेता के रूप में उत्पन्न होता है । महाभारत में युद्ध-क्षेत्र में संघर्षरत प्राण त्याग करना ही क्षत्रियों का कर्तव्य बताया गया है ।[7]

<u>वैश्य वर्ण</u>

वामनपुराण में वैश्य को द्विजातियों में सम्मिलित बताया गया है । इन्हें

---

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2/7/18, बृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/11.
2. ऋग्वेद, 7/69/2.
3. 'बाहूराजन्यः कृतः' ऋग्वेद, 10/90/12.
4. वामनपुराण, 15/62, सरोमाहात्म्य 15/77.
5. वामनपुराण, 15/62.
6. वही, 13/12-13.
7. महाभारत, 2/31.

विष्णु के उरूद्वय के पार्श्वभाग से उद्भूत माना गया है ।[1] आलोचित पुराण में ब्रह्मा को एक विशाल वृक्ष के रूप में परिकल्पित करते हुए ब्राह्मण को उसका मूल, क्षत्रिय को स्कन्ध, वैश्य को शाखा एवं शूद्र को पत्र तुल्य बताया गया है ।[2] वाणिज्यादि कर्म के अन्तर्गत व्यापार, कृषि, पशुपालन आदि वैश्यों के लिए विहित कर्म परिकल्पित किये गये हैं ।[3] वैश्यों के लिए वामन पुराण में केवल दो आश्रमधर्मों के अनुपालन का विधान किया है जो क्रमशः गार्हस्थ्य एवं वान-प्रस्थ थे ।[4] इस प्रकार ब्रह्मचर्य एवं सन्यास दोनों आश्रमों को उनके लिए निषेध बताया गया है । ब्रह्मचर्य आश्रम से वंचित होने के कारण वे वेदादि के अध्ययन से मुक्त कर दिये गये । ऐसा प्रतीत होता है कि वामन पुराण की संरचना काल में वैश्य अध्यवसाय एवं ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अनुशीलन में विशेष रुचि न लेकर अपने व्यवसाय में ही अधिक रुचि रखते थे । अतः उनकी इसी प्रवृत्ति को देखते हुए पुराणकार ने उनके लिए ब्रह्मचर्य आश्रम का निषेध करना ही उचित समझा होगा। इसके साथ ही साथ यह सम्भावना भी की जा सकती है कि पुराणकार वर्ण व्यव-स्था को दृढ़ करने के लिए क्रमशः उत्तम वर्णों की सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए आश्रम व्यवस्था में ब्राह्मण को क्षत्रियों से, क्षत्रियों को वैश्यों से तथा द्विज वर्णों के लिए शूद्रों की अपेक्षा अधिक आश्रम का विधान किया है । वैश्यों की परमसि-द्धि धन एवं संस्तुति की प्राप्ति में ही बताई गई है ।[5]

---

1. वामनपुराण 60/26.
2. वही, 60/25.
3. वही, 7/24.
4. वही, 15/63.
5. वही, सरोमाहात्म्य, 10/91.

वैश्यों की सामाजिक स्थिति का जो स्वरूप आलोचित पुराण में वर्णित है उससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस वर्ण को शासकीय संरक्षण प्राप्त था तथा वे लोग धार्मिक प्रवृत्ति से विमुख शान्ति एवं सुखमय जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा से वाणिज्य तथा कृषि आदि कार्यों में प्रवृत्त हो चुके है । इनके पास अर्थ-व्यवस्था से सम्बद्ध अनेक कर्म एवं आर्थिक लाभ के विविध स्त्रोत उपलब्ध हो चुके थे । सन्यासाश्रम जिसमें भौतिक जीवन के प्रति पूर्ण उदासीनता तथा शरीर-शोधन एवं पूर्णतया तपस्वी जीवन की अपेक्षा की जाती थी – वैश्यों के लिए असम्भव बन चुकी थी । सम्भवतः इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर वामन पुराण में उन्हें ब्रह्मचर्य एवं सन्यास आश्रम से वंचित रखने का विधान किया गया है ।[1]

शूद्रवर्ण

प्राचीन काल में आर्य समुदायों की सेवा करने वालों को 'शूद्र' वर्ण के अन्तर्गत नियुक्त किया गया था । वामनपुराण में शूद्र वर्ण का मुख्य धर्म द्विज-वर्णों की सेवा करना विहित है ।[2] सेवा द्वारा प्राप्त वृत्ति से जीविकोपार्जन करते हुए अनेक सुखोपभोग का विधान किया गया है ।[3] अतः वैदिक वर्ण व्यवस्था को पूर्णतया स्वीकार करते हुए आलोचित पुराण में शूद्रों की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है ।

---

1. वामन पुराण, 15/53.
2. वही, 7/24.
3. वही, सरो० महा० 10/91, द्रष्टव्य वशिष्ठधर्मसूत्र, 18/13, 9/332-334.

आलोचित पुराण में शूद्र-वर्ण के लिए मात्र शुश्रूषाधर्म--का ही विधान किया गया है।[1] इस प्रकार उन्हें ब्रह्मचर्य वानप्रस्थ तथा सन्यास अथवा तप आदि से वंचित कर उच्चवर्णों की सेवा कर सामाजिक प्रगति में अपना सहयोग प्रदान करने के लिए ही नियुक्त किया गया है।

शूद्रों की इस सामाजिक स्थिति पर विचार करते हुए प्रतीत होता है कि आलोचित पुराण के समय में भी उनकी स्थिति लगभग वैसे ही थी जैसे वैदिक काल में थी। वर्ण धर्म की कठोरता से प्रताड़ित शूद्र भले ही विभिन्न पेशों अथवा कर्मों में निपुण हो, उन्हें शेष तीन वर्णों की तुलना में सदैव ही तुच्छ समझा गया था।[2]

ऋग्वेद में शूद्रों को विराट् पुरुष (ब्रह्मा) के पाद से अवश्य उद्भूत परिकल्पित किया गया है परन्तु द्विज वर्णों की सेवा का दायित्व देकर समाज में उनकी दयनीय एवं हेय स्थिति स्पष्ट कर दी गई थी।[3]

द्विज वर्णों द्वारा परित्यक्त पदत्राण, वस्त्र, आसन आदि का उपयोग शूद्रों के लिए होता था तथा ब्राह्मणों के बचे हुए भोजन से ही शूद्रों का उदर-पोषण करने की रीति थी।[4] उन्हें वेदाध्ययन, यज्ञ तथा तप आदि करने का भी अधिकार प्राप्त नहीं था तथा वैदिक मन्त्रों के पाठ, श्रवण तथा उच्चारण पर

---

1. वामनपुराणम्, 15/63.
2. द्रष्टव्य, रामशरण शर्मा
3. ऋग्वेद, 10/90/12.
4. जीर्णान्युपानच्छत्रवासःकूर्चादीनि परिधरेच्छूद्राय,
   दद्यापि --- भोजनमेवदुच्छिष्टमवशिष्टं तदन्नाशनम् ।। गौतमधर्मसूत्र, 10/60
5. गौतमधर्मसूत्र 12/4, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/3/9/9.

भी कठोर प्रतिबन्ध किया गया था ।[1] उन्हें वैदिक संस्कारों से भी वंचित रखा जाता था ।[2]

इसी प्रकार महाभारत[3], अर्थशास्त्र[4], मनुस्मृति[5] आदि अनेक ग्रन्थों में ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा से जीविकोपार्जन करना ही शूद्रों का धर्म बताया गया है ।

वायुपुराण के अनुसार शूद्रों के दो प्रधान कर्तव्य थे –

1. शिल्पकर्म तथा 2. भृति कर्म

शिल्पकर्म के माध्यम से शूद्रों की सामाजिक स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। 'मनु' ने उन्हें काष्ठ-शिल्प, धातु-शिल्प तथा चित्रकलादि-शिल्पों की अनुमति प्रदान की थी, जिससे शूद्रों ने शिल्पकला में सफलता एवं श्रेष्ठता स्थापित कर लिया था ।

पाश्चात्य विद्वानों ने कभी-कभी शूद्रों का अस्तित्व आर्य वर्ण में मान लिया है ।[8] क्योंकि पहले बहुत से ब्राह्मण भी तप और कुल से हीन होकर शूद्र

---

1. गौतम धर्मसूत्र, 12/4, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1/3/9/9.
2. वशिष्ठ धर्मसूत्र, 4/3.
3. महाभारत, 5/132/30.
4. 'शूद्रस्य द्विजाति शुश्रूषा' अर्थशास्त्र, पृ0 150-175.
5. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
   एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।। मनुस्मृति 109.
6. वायुपुराण, 8/163, ब्रह्माण्डपुराण 2/7/163.
7. मनुस्मृति, 10/100.
8. वैदिक इण्डेक्स, Vol. II, पृ0 -265

थे बन गये थे ।[1]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज में शूद्रों के प्रति लोगों में घृणित भावना थी लेकिन परवर्ती युग में शूद्रों के प्रति घृणा की जो भावना दिखाई पड़ता है वह किन कारणों से हुआ ? यह एक विचारणीय प्रश्न है, क्योंकि अति प्रारम्भिक युग में कम से कम उपनिषदों के युग तक शूद्रों के प्रति लोगों में सद्भाव रहा है, नहीं तो 'देवताओं में पूषा शूद्र हुए'[2] इस बात की घोषणा कैसे की जाती ? पूषा जैसे देवता को शूद्र वर्ण में रखना मात्र ही इस बात को सिद्ध करता है कि तत्कालीन समाज शूद्रों का आदर करता था । जो कुछ है, उसका पोषण करना, पूषा देव का काम था । इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् युग तक शूद्र को समाज के पोषक रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त थी ।

वैदिक युग में चारों वर्णों की स्वतंत्र स्थिति का उल्लेख मिलता है । किसी वर्ण में उत्पन्न भर हो जाने से व्यक्ति उस वर्ण का नहीं होता था बल्कि अपने सद्गुणों और सद्प्रवृत्तियों के विकास अथवा ह्रास से भी उसका वर्ण-परिवर्तन संभव होता था । यही कारण है कि इतरा नामक दासी के गर्भ से उत्पन्न महीदास ऐतरेय और जबाला के गर्भ से उत्पन्न सत्यकाम जाबाला भी अपने सद्गुणों के विकास से श्रेष्ठ ब्राह्मण माने गये । महाभारत में अनेक ऐसे राजर्षियों का चरित्र वर्णित है जो अपने उत्तम संस्कारों से च्युत होकर किसी अन्य वर्ण में जा पड़े ।

---

1. पतंजलि, 481/13, पतंजलि के अनुसार वे ब्राह्मण-कुटुम्ब में रहते थे ।

2. स नैव व्यभवत् , स शौद्रं वर्णमसृजत् पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच ।

बृहदारण्यक उप० 1/4/13.

महाराज काशीयान् के क्षत्रिय वर्ण से च्युत होकर वैश्य वर्ण में स्थापित होने का उल्लेख महाभारत में है । इसी प्रकार श्रीमद्भागवत आदि अनेक पुराणों में अयोध्यानरेश 'मित्रसह' का 'कल्माषपाद' नामक राक्षस अथवा शूद्र के रूप में परिणत होने का उल्लेख है । इस प्रकार वैदिक एवं पौराणिक आख्यान सिद्ध करते हैं कि वर्णों का सीधा सम्बन्ध संस्कारों से था और संस्कारों के अनुपालन न करने से जैसे मनुष्य का पतन सम्भव था उसी प्रकार उनके पालन से उत्थान भी सम्भव था । इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण केवल वंश जन्म पर आधारित नहीं थे बल्कि गुण एवं कर्म पर आधारित थे । यही कारण है कि उस युग में ब्राह्मण अपने ज्ञान से, क्षत्रिय अपने पराक्रम से, और वैश्य अपने वाणिज्य से जितना प्रशंसनीय एवं प्रतिष्ठित था शूद्र भी अपने कला और शिल्प से उतने ही प्रशंसनीय थे ।

श्रीमद्भगवद्गीता में इसी तथ्य को भगवान कृष्ण स्वयं व्यक्त करते हैं कि

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः '

कालान्तर में वर्ण का सम्बन्ध वंश-जन्म से जुड़ जाने पर वर्ण-व्यवस्था की उदारता का लोप हो गया और लोग एक दूसरे को अपने से ओछा, नीच एवं असंस्कृत मानने लगे । इस दुर्भावना का सर्वाधिक दण्ड भोगा शूद्र ने ।

<u>वर्णसंकर तथा मिश्रित जाति</u>

उपनिषदों एवं महाभारत के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय समाज में चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त अन्य अनेक जातियाँ भी थी जिनकी उत्पत्ति वर्ण

संकरता से हुई ।[1] सूत्रकारों ने वर्ण संकरत्व का उल्लेख करते हुए इस प्रकार की सन्तानों को 'व्रात्य' संज्ञा प्रदान की है ।[2] मनु के अनुसार अन्तर्जातीय विवाह के परिणामस्वरूप उत्पन्न सन्तान वर्णसंकर कहलाती है ।[3]

पौराणिक साहित्य में वर्णसंकर जातियों पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि सूत वर्ण क्षत्रिय और ब्राह्मणी के संयोग से उत्पन्न होने के कारण विकृत है ।[4]

आलोचित पुराण में विभिन्न मिश्रित जातियों का उल्लेख इस प्रकार उपलब्ध है –

1. <u>आन्ध्र</u>

प्रस्तुत पुराण के अनुसार आन्ध्र लोग भारत के दक्षिण सीमा पर निवसित थे ।[5]

2. <u>आभीर</u>

जाति का उल्लेख वामन पुराण में उत्तरापथ की प्रमुख जातियों में किया गया है ।[6]

---

1. छान्दोग्योपनिषद्-5/10/7, महाभारत 12/296/39.
2. "वर्णसंकरादुत्पन्नान् व्रात्यानाहुर्मनीषिणः" बौधायन धर्मसूत्र, 1/9/15.
3. मनुस्मृति, 10/40, द्रष्टव्य, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र 2, पृ0 29.
4. वायुपुराण, 62/140, ब्रह्माण्डपुराण 2/36/163-164.
5. वामनपुराण, 13/11.
6. वामनपुराण, 13/37.

3. <u>कारूष</u>

जाति के लोगों का निवास क्षेत्र विन्ध्य पर्वत के मूल में बताया गया है।[1]

4. <u>धीवर</u> - जाति के लोगों को मत्स्यजीवी कहा गया है ।[2]

5. <u>निषाद</u> - जाति के विषय में वामन पुराण का कथन है कि राजा वेन के पापों से निषाद उत्पन्न हुए हैं ।[3]

6. <u>पराशव</u> - जाति का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि विवाहित या अविवाहित शूद्रों के गर्भ से उत्पन्न ब्राह्मण का जो पुत्र होता है उसका नाम पराशव पुत्र होता है ।[4]

7. <u>पुलिन्द</u> - जाति की उत्पत्ति के प्रसंग में उल्लेख मिलता है कि वे इन्द्र के पाप से उत्पन्न हुए थे ।[5]

8. <u>मागध</u>-जाति का उल्लेख भारत के पूर्व में स्थित जनपद नामों में मिलता है ।[6]

9. <u>शूलिक</u> - जाति को उत्तरापथ में निवसित जातियों में परिगणित किया गया है ।[7]

---

1. वामनपुराण, 13/53.
2. वही, 46/34
3. वही, सरोमा0 26/20.
4. वही, 35/46
5. वही, 50/25.
6. वही, 13/46.
7. वही, 13/41, 43.

10. किरात

आलोचित पुराण में एक स्थल पर किरातों के विविध जातियों का उल्लेख किया गया है। इनको उत्तरापथ अथवा उत्तराखण्ड में निवसित बताया गया है।[1]

11. कुक्कुट

कुक्कुट जाति को उत्तराखण्ड में निवास करने वाली जाति बताया गया है। इसे अधम जाति कहा गया है तथा इनके यहाँ भोजन करना वर्जित बताया गया है।[2]

12. चाण्डाल

चाण्डाल जाति के लिए अन्त्यावसायी शब्द का प्रयोग किया गया है तथा इनका स्पर्श वर्ज्य बताया गया है। इनको अधम बतलाते हुए पुराणकार ने इनके अन्न को ग्रहण करने का निषेध किया है। इस प्रकार इन विभिन्न निम्न जाति को वामन पुराण में उल्लिखित कर पुराणकार ने समाज में इन्हें वर्णसंकर जाति के अन्तर्गत नियुक्त किया है।[3]

वामनपुराण में वर्णित आश्रम व्यवस्था

दैवी अवधारणा के अनुसार हिन्दू धर्म का आधार वर्णाश्रम धर्म है। 'आश्रम' शब्द की व्युत्पत्ति "श्रम धातु" से "प्रयास करना अर्थ में" बताई गई

---

1. वामनपुराण, 13/42-43.
2. वही, 13/43.
3. वही, 15/19, 15/25.

है अर्थात् ऐसा स्थान जहाँ पर श्रम आदि के लिए प्रयास किया जाये ।[1] वर्ण व्यवस्था के समान आश्रम व्यवस्था भी सामाजिक संतुलन के निमित्त अनिवार्य थी ।

आलोच्यपुराण[2] में वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रवर्तक के रूप में विष्णु का उल्लेख किया गया है । इसी तरह का वर्णन वायु[3] एवं ब्रह्माण्ड[4] पुराणों में भी उपलब्ध है । इससे आश्रमधर्म की दैवी उत्पत्ति स्वतः प्रमाणित हो जाती है । मत्स्य पुराण में चतुराश्रम शब्द को शिव के विशेषण रूप में प्रयुक्त किया गया है ।[5]

आर्यों ने मनुष्य के जीवन को मनोवैज्ञानिक ढंग से 'आयु' की चार गतियों में विभक्त कर 'जीवेम शरदः शतम्' की कल्पना को चतुराश्रम रूप में संजोया था । व्यक्ति अपने अभीष्ट पुरुषार्थ चतुष्टय की सम्यक् साधना करता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करे यही चतुराश्रम-व्यवस्था का मूल उद्देश्य था ।

आलोचित पुराण में एक स्थल पर विवृत है कि चारों वर्ण अपने आश्रम में अवस्थित होकर धर्म-कार्य में प्रवृत्त हुए । इसी सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि इस धर्म के पालन से देवता भी स्वधृतियुक्त हुए ।[6] इससे स्पष्ट हो जाता है कि आश्रम व्यवस्था के अनुपालन को आलोचित पुराण के समय तक धार्मिक महत्ता

---

1. द्रष्टव्य, पी०वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 267.
2. वामनपुराण, सरोमा० 15/74, 75, 76.
3. वायुपुराण, 67/37.
4. ब्रह्माण्डपुराण, 3/72-36.
5. मत्स्यपुराण, 47/39, अश्वाय गृहस्थाय वाने ब्रह्मचारिणे ।
6. वामनपुराण, 7/25.

प्राप्त हो चुकी थी । एक अन्य स्थल पर आलोचित पुराण में वर्णाश्रम धर्म की प्रबलता इस दृष्टि से स्थापित की गई है कि इन आश्रमों का जो त्याग करता है, उस पर सूर्य देव क्रुद्ध होते हैं जिससे रोगवृद्धि एवं कुल का नाश होता है ।[1]

इस प्रकार की मान्यतायें वायु[2], मत्स्य[3], ब्रह्माण्ड[4] आदि अनेक पुराणों में मिलती है ।

आश्रम संख्या

आलोचित पुराण में परम्परागत सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए चार प्रकार के आश्रम को स्वीकार किया गया है । प्रारम्भ में केवल तीन आश्रमों की ही अवधारणा की गई थी क्योंकि वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम को एक ही मानकर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं संन्यास आश्रमों की गणना की गई थी ।[5]

1. ब्रह्मचर्याश्रम

चतुराश्रमों में ब्रह्मचर्याश्रम प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित है । वामन पुराण में एक स्थल पर आश्रम की शिक्षा के प्रसंग में ब्रह्मचर्याश्रम का सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है ।[6] इसके अन्तर्गत अनुकरणीय कर्तव्यों में, स्वाध्याय, अग्निसेवा, स्नान,

---

1. वामनपुराण 15/64-65.
2. वही, 83/60
3. मत्स्यपुराण 141/66-67.
4. ब्रह्माण्डपुराण, 2/32, 36.
5. पी०वी० पृष्ठ -
6. वामनपुराण, 14/2-3.

भिक्षाटन, गुरु को निवेदित करने के पश्चात् भोजन, करने एवं एकाग्रचित्त से अध्ययन करने पर प्रकाश डाला गया है ।[1] गुरु के कार्य हेतु उद्यत रहना, गुरु में प्रीति रखना, और सद् आचरण करना ब्रह्मचर्य का मुख्य कर्तव्य बताया गया है । इसी संदर्भ में बताया गया है कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व-गुरुकुल में एक, दो या सभी वेदों को सम्यक् अध्ययन कर गुरु को दक्षिणा आदि से प्रसन्न कर मनुष्य को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा लेनी चाहिए ।[2]

इस प्रकार जहाँ एक ओर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम का अनुसरण आवश्यक था वहीं दूसरी ओर ब्रह्मचर्य के पश्चात्, विशेष करके ब्राह्मणों के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना आवश्यक नहीं था, क्योंकि यदि ब्राह्मण चाहे तो जीवनपर्यन्त गुरु के समीप ब्रह्मचर्याश्रम में निवास कर सकता है । इससे सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मचर्याश्रम को ही सबसे अधिक महत्व दिया गया है । यदि गुरु की मृत्यु हो जाये और उसके कोई पुत्र या पुत्री न हो तो शिष्य को समीप निवास कर ब्रह्मचर्याश्रम का पालन किया जा सकता था ।[3] ब्रह्मचारी को अभिमान रहित होकर तथा गुरु की सेवा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य बताया गया है । क्योंकि इस विधि से ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति मृत्यु पर विजय अर्थात् अमरत्व को प्राप्त कर लेता है ।[4]

वैदिक धारणा के अनुसार ज्ञान के द्वारा मानव का व्यक्तित्व दिव्य हो

---

1. वामनपुराण 14/5-6.
2. वही, 14/7-8.
3. वही, 14/9.
4. वही, 14/10.

जाता है । वह ज्ञान से सम्पन्न होने पर देवता बन जाता है ।[1] वैसे विद्वान् को समाज में सर्वोच्च आदर प्राप्त होता है ।[2]

काशिका के अनुसार 'तीन उच्च वर्णों के ब्रह्मचारी वर्णी' कहलाते थे ।[3] आचार्य बालक ब्रह्मचारी को आत्म सान्निध्य प्रदान कर भलीभाँति उपनयन-संस्कार करता है तथा शिष्य शुश्रूषा भाव के साथ विधिवत् वेदाध्ययन करता था ।[4]

वामनपुराण में गुरु की सर्वाधिक प्रतिष्ठा को प्रतिपादित किया गया है । ब्रह्मचारी स गुरु की सेवा के पश्चात् अग्नि की पूजा तथा व्रतों का सम्यक् पालन करता था, वह मन, कर्म एवं वाणी से कभी भी गुरु को अपमानित नहीं करता था ।[5]

इस प्रकार भलीभाँति उपनयन संस्कार हो जाने के पश्चात् बालक का ब्रह्मचर्याश्रम प्रारम्भ होता था । इस आश्रम का मुख्य उद्देश्य था वेद-विद्या अथवा ब्रह्म विद्या में पारंगत होना । क्योंकि तत्कालीन धारणा के अनुसार इन्हीं के द्वारा मानव जीवन सार्थक माना जाता था ।

---

1. विद्वांसो हि देवाः । शतपथ ब्राह्मण, 3/7/3/10.
2. ऋग्वेद 1/164/16 के अनुसार दार्शनिक रहस्यों को जानने वाले पिता के भी पिता हैं ।
3. वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ0 96.
4. वामनपुराण, 14/4.
5. वही, 59/57, 58, 59.

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्य के पश्चात् बालक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था । वह समाज का प्रतिष्ठित सदस्य बन जाता है, समाज उसका स्वागत करता है और उस अपूर्व-विधि से सम्मानित करने में अपना गौरव मानता था ।

महाभारत चतुराश्रम व्यवस्था में गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ मानता है क्योंकि मानव-जीवन के सभी कर्तव्य गृहस्थाश्रम में ही परिचालित होते हैं ।[2] आलोचित वामनपुराण में भी गृहस्थाश्रम का सर्वोत्तम निरूपित किया गया है ।[3] गृहस्था-श्रम कहा गया है । इसमें आख्यात है कि ब्रह्मचर्याश्रम से अपावृत्त होकर गृहस्था-श्रम में प्रवेश करना चाहिए । तथा गृहस्थाश्रमी को चाहिए कि उक्त आश्रम धर्म के सम्यक् निर्वाह हेतु असमान ऋषि वाले कुल में उत्पन्न कन्या से विवाह करे ।[4]

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् मनुष्य को गृहस्थाश्रम के विहित कर्मों का पालन करना अनिवार्य बताया गया है । धर्मसूत्रों, स्मृतियों, पुराणों तथा निबन्धग्रन्थों में गृहस्थ धर्म की विशद व्याख्या दी गई है ।[5] महाभारतकार गृहस्थ धर्म के विषय में लिखते हैं कि[6]-

> "अहिंसा, सत्यवचनं, सर्वभूतानुकम्पनम् ।
> शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः ।।"

---

1. महाभारत-शान्तिपर्व-191/10, 'सर्वेषामाश्रमाणां' मूलमुदाहरन्ति'
2. वामनपुराण 14/11-15/54.
3. गृहस्थाश्रम उत्तमः-वामनपुराण-15/55.
4. वामनपुराण 14/11.
5. द्रष्टव्य आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/1/1-2, वाजसनेय-धसू0 8/1/17, याज्ञवल्क्यस्मृति 1/96/127, मार्कण्डेयपुराण 29/30.
6. महाभारत, अनुशासनपर्व, 141/25.

आलोचित पुराण में आख्यात है कि सदाचार में रत द्विज को अपने कर्मों द्वारा धनोपार्जन कर पितरों, देवों एवं अतिथियों को अपनी भक्ति द्वारा सम्यक् तृप्ति प्रदान करनी चाहिए ।[1] कूर्म पुराण में वर्णित है कि आचारहीन व्यक्ति के लिए इस लोक तथा परलोक में कहीं भी स्थान प्राप्त नहीं होता ।

भारतीय मान्यताओं के अनुसार गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जिस व्यक्ति के पास गृहिणी नहीं होती उसका कोई घर नहीं होता, क्योंकि गृहिणी ही गृह होती है ।[2] वैदिक धारणा के अनुसार, विवाह के बिना वैदिक यज्ञों का सम्पादन असम्भव, माना जाता था ।[3] उत्तरकाल में भी यह प्रवृत्ति सजीव थी । 'शाकुन्तल' में वर्णित है कि सन्तानयुक्त मनुष्य का जीवन धन्य है ।[4]

<u>गृहस्थ के कर्तव्य</u>

मत्स्यपुराण में गृहस्थ का सम्बन्ध कर्मयोग से सम्बद्ध किया है और बताया गया है कि कर्मयोग ज्ञानयोग की अपेक्षा उत्कृष्ट है ।[5] "क्योंकि कर्मयोग ज्ञानयोग का साधक है ।[6] विष्णुपुराण के अनुसार कुत्सित ज्ञान, अहंकार-भावना, दम्भ,

---

1. वामनपुराण 14/12.
2. न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते । महाभारत शान्तिपर्व, 144/6.
3. तैत्तिरीय संहिता, 6/3/10/5.
4. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 7/17.
5. क्रियायोगः कथं सिद्ध्येद् गृहस्थादिषु सर्वदा ।
   ज्ञानयोगसहस्राद्धि कर्मयोगो विशिष्यते ।।
   मत्स्यपुराण, 258/1.
6. अतएव क्रियायोगः ज्ञानयोगस्य साधकः, मत्स्यपुराण 52/11.

परिताप, अपघात तथा चपलता से दूर रहकर कर्तव्य पालन करना गृहस्थ के लिए अनिवार्य रूप से निरूपित है ।

आलोचित पुराण में वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थ को लक्ष्य मानकर हिन्दू, सामाजिक संरचना पर विशद प्रकाश डाला गया है । वामनपुराण के ब्रह्म मुहूर्त में उठकर सर्वप्रथम श्रेष्ठ देवों एवं महर्षियों का स्मरण करना, सुप्रभात में स्तोत्र पढ़ना, सुनना और स्मरण करना चाहिए क्योंकि इससे दुःस्वप्न का नाश होता है[1] अर्थात् नई आशाओं, आकांक्षाओं एवं मनोरथों के प्रति सफलता उत्पन्न होती है ।

तदनन्तर धर्म एवं अर्थ की चिन्ता करनी चाहिए और शय्या त्याग करने के उपरान्त 'हरि' का नाम लेकर शौचादि क्रिया से निवृत्त होना चाहिए । देवता, गौ, ब्राह्मण और अग्नि के मार्ग राजपथ और चौराहे पर, गोशाला में तथा पूर्व या पश्चिम दिशा की ओर मुख करके मल-त्याग वर्ज्य बताया गया है।[2]

तदनन्तर अपनी इन्द्रियों एवं सिर को हाथ से स्पर्श कर केश संशोधन, दन्तधावन एवं दर्पण दर्शन के उपरान्त सन्ध्योपासना का विधान किया गया है।[3] शिरःस्नान कर पितरों एवं देवताओं का जल से पूजन करने के पश्चात् हवन कर और मांगलिक वस्तुओं का स्पर्श कर बाहर निकलना प्रशस्त बताया गया है ।[4]

---

1. वामनपुराण, 14/28.
2. वही, 14/29-30.
3. वही, 14/34.
4. वही, 15/35.

दूर्वा, दधि, घृत, जलपूर्ण कलश, सवत्सा गौ, वृषभ, सुवर्ण, मिट्टी, गोबर, अक्षत, लावा, मधु, ब्राह्मण की कन्या, श्वेतपुष्प, अग्नि, चन्दन, सूर्य बिम्ब और अश्वत्थ (पीपल) के वृक्ष का स्पर्श कर अपने जाति धर्मों का पालन, तथा देश-विहित धर्म, श्रेष्ठ कुलधर्म और गोत्रधर्म को त्याग न करने का भी विधान इस पुराण में किया गया है। पतित एवं आतुरजनों के संग को निषिद्ध बताया गया है। सन्ध्या एवं दिन में, पर स्त्रियों में, वृक्षहीन पृथ्वी, तथा जल में सुरतव्यापार को वर्जित किया गया है।[1]

गृहस्थ को व्यर्थ स्नान, व्यर्थ दान, व्यर्थ पशुवध तथा व्यर्थ दार-परिग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे क्रमशः नित्यकर्म की हानि, धनक्षय, नरकप्राप्ति एवं सन्तान की नित्य हानि होती है तथा लोक में भी भय की प्राप्ति होती है।[2] नन्दा तिथियों में अभ्यंग न करने, रिक्ता तिथियों में क्षौर कर्म न करने तथा जया तिथियों में मांस का भक्षण एवं पूर्णा तिथियों में स्त्री का सम्पर्क न करने का विधान किया गया है।[3] इसी प्रकार विभिन्न नक्षत्रों में विभिन्न कर्मों के त्याग को भी निर्दिष्ट किया गया है।[4]

बुद्धिमान व्यक्ति को ऐसे देश में रहना वर्ज्य बताया गया है जहाँ का राजा दण्ड में सदैव रुचि रखने वाला तथा आलसी हो और जहाँ की जनता नित्य उत्सव मनाने वाली तथा परस्पर वैर करने वाली एवं सदैव जय की इच्छा वाली हो।[5]

---

1. वामनपुराण, 14/36-40.
2. वही, 14/41-43.
3. वही, 14/48.
4. वही, 14/50.
5. वही, 14/56.

धर्मनिष्ठ गृहस्थों के लिए भक्ष्य एवं अभक्ष्य पदार्थों का भी वामन पुराण में स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है । स्नेहाक्त (तेल घृत आदि से युक्त अथवा स्निग्ध) अन्न, एवं दूध, दधि, घृत आदि को धर्मनिष्ठों के लिए भोज्य बताया गया है । शशक (खरहा) शल्यक (साही) गोधा (गोह) श्वाविध (पशुविशेष), मत्स्य एवं कच्छप तथा दासों को भी मनु खाने योग्य बताया है ।[1]

स्नेह युक्त वस्त्रों की शुद्धि उष्ण जल से एवं कपास के वस्त्रों की शुद्धि भस्म से किये जाने का भी विधान है और साथ ही यह भी निरूपित है कि हाथी के दाँत, हड्डी और सींग की शुद्धि तराशने से मिट्टी के बर्तन की शुद्धि आग में जलाने से एवं अपवित्र वस्तु से मिश्रित पदार्थ मिट्टी और जल से तथा गन्ध दूर कर देने से शुद्ध होते हैं ।[2] इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं की शुद्धि के उपाय को बतलाकर बुद्धिमान व्यक्ति को उद्यानादि में असमय विचरण न करने एवं पति-पुत्र हीना स्त्री से वार्तालाप न करने तथा सूतिका, षण्ड, मार्जार, आखु, श्वान, कुक्कुट, पतित, अपविद्ध, नग्न तथा चाण्डाल आदि अधम प्राणियों के यहाँ खाना न खाने का भी दृढ़ता से विधान किया गया है ।[3] नैमित्तिक कर्म का उच्छेद कभी भी न करने का निर्देश भी दिया गया है तथा पुत्र उत्पन्न होने पर पिता के लिए तथा मरण में सभी बन्धुओं के लिए वस्त्र सहित स्नान करने का भी विधान है ।[4] व्यक्ति को जीवितावस्था में अपने प्रिय पदार्थ को गुणवान पात्र को अक्षयता की कामना से प्रदान करने, तथा सदा श्रुति (वेद) का अध्ययन, धर्मपूर्वक, धनार्जन तथा यथाशक्ति यज्ञ करने, निःशंक होकर रहने का भी विधान किया गया है क्योंकि इस प्रकार के आचरण से व्यक्ति इस लोक और परलोक में कल्याण का भागी बनता है ।

---

1. वामनपुराण, 15/1-3.
2. वही, 15/6-14.
3. वामनपुराण 15/23-25.
4. वही, 15/40-41.

वानप्रस्थाश्रम

आलोचित पुराण में एक स्थल पर वर्णित है कि यदि द्विज चाहे तो ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए बिना भी वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर सकता है। इससे प्रतीत होता है कि वामनपुराणकार गृहस्थाश्रम की अपेक्षा वानप्रस्थ को अधिक महत्त्व देते हैं ।

आलोचित पुराण में आख्यात है कि बुद्धिमान व्यक्ति को पुत्र के संतान को देखकर तथा अपने शरीर की अवनति देखकर आत्मा की शुद्धि हेतु वानप्रस्थाश्रम को प्रस्थान करना चाहिए । वहाँ वन्य पदार्थों का उपभोग और तप द्वारा शरीर का शोषण करना चाहिए, भूमि पर शयन, ब्रह्मचर्य का पालन एवं पितर, देवता तथा अतिथियों की पूजा करनी चाहिए । हवन, तीन बार स्नान, जटा और वल्कल का धारण कर, वन्य फलों से निकाले गये स्नेह का सेवन करना चाहिए । यही वानप्रस्थाश्रम की विधि है ।

संन्यासाश्रम

आलोचित पुराण में वर्ण-क्रम में सन्यास आश्रम चतुर्थ है । इस आश्रम का कार्य है -

सर्वसंग परित्याग, ब्रह्मचर्य, अहंकार का अभाव, जितेन्द्रियता, एक आवास में बहुत काल तक न रहना, उद्योगाभाव, भिक्षान्नभोजन, अतिक्रोध न करना,

---

1. वामनपुराण 15/51-54.
2. वही, 15/54.
3. वही, 15/57-58.

आत्मज्ञान की इच्छा, तथा आत्मज्ञान ।[1] आलोचित पुराण में सन्यासाश्रम को मात्र ब्राह्मणों के लिए ही प्रतिपादित किया है अन्य तीनों वर्णों के लिए इस चतुर्थ आश्रम का निषेध बताया गया है ।[2] क्षत्रियों के लिए गार्हस्थ्य, ब्रह्मचर्य, एवं वानप्रस्थ, इन तीन आश्रमों को, वैश्यों के लिए वानप्रस्थ एवं गार्हस्थ्याश्रम को एवं शूद्रों के लिए मात्र उत्तम गार्हस्थ्याश्रम का विधान आलोचित पुराण में किया गया है ।

पुरुषार्थ

सामाजिक संघटनों में पुरुषार्थ का महत्वपूर्ण स्थान है । आलोचितपुराण में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष जैसे पुरुषार्थों की प्राप्ति के निमित्त कर्तव्यों एवं आचरणों के पालन पर विशेष बल दिया गया है ।[3]

प्रस्तुत पुराण के एक स्थल पर उल्लिखित है कि त्रैलोक्य राज्य की प्राप्ति के बाद राजा बलि अपने कुल-पूज्य भक्त प्रह्लाद से पुरुषार्थ चतुष्टय के सम्यक् ज्ञान प्राप्ति हेतु श्रेष्ठ आचरणों का निर्देश प्राप्त करता है ।[4] पुराणकार का निर्देश है कि मनुष्य को सदैव ऐसे पुरुषार्थ को निःशंक होकर करना चाहिए जिसके करने से उसकी आत्मा निन्दित न हो एवं वो महापुरुषों से छिपाने योग्य भी न हो ।[5]

---

1. वामनपुराण, 15/59-60.
2. वही, 15/62.
3. वही, 15/62-63.
4. वही, 48/83.
5. वही, 48/36-37.

ऐसे सदाचारणी पुरुषों के गृहस्थ होने पर भी धर्म, अर्थ, जैसे उत्तम पुरुषार्थ की यथेष्ट प्राप्ति होती है तथा वह व्यक्ति इह लोक एवं परलोक में सुखी होता है ।[1]

वामनपुराण में उल्लिखित है कि पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति सदाचरण से ही होती है । धर्म को सदाचरण रूपी वृक्ष का मूल, अर्थ को शाखा तथा काम तथा मोक्ष को फल कहा गया है ।[2] इन पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए देश विहित धर्म, कुल धर्म तथा मोक्षधर्म का पालन करने का निर्देश करते हुए कहा गया है कि व्यक्ति को सदाचरण के द्वारा ही इनकी साधना करनी चाहिए ।[3]

धर्म

धर्म को पुरुषार्थ चतुष्टय में प्रथम एवं श्रेष्ठतम स्थान प्रदान किया गया है । मनुष्य सांसारिक जीवन में जो भी कार्य करता है धर्म से युक्त होता है, धर्म से इतर होने पर सुख एवं शान्ति नहीं प्राप्त होती । अतः समस्त कर्मों को धर्मपरायण होना चाहिए । धर्म के साधनों से मनुष्य नैष्ठिक एवं सदाचरण एवं सत्कर्मी बन सकती है । आलोचित पुराण में आख्यात है कि जब सभी वर्ण के लोग अपने अपने वर्ण-धर्म के अनुकूल कर्म करते हैं तभी धर्म की वृद्धि होती है ।[4] धर्म से विरत व्यक्ति वर्ण-व्यवस्था के प्रतिकूल के ऐसे वातावरण का जनक होता है जिससे प्राणिमात्र में दुःख की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । धर्म को इहलोक और परलोक में श्रेय कहा गया है ।[5] जैसे नित्य सोमयाजन, वेदाध्ययन, ब्रह्म-ज्ञान एवं विष्णु तथा

---

1. वामनपुराण 15/53-54.
2. वही, 14/19.
3. वही, 14/38.
4. वही, 48/48.
5. वही, 11/13.

मित्र दोनों पक्षों में स्थिर भाव रखना मित्रों का धर्म बताया गया है ।[1]

आलोचित पुराण में एक स्थल पर ऋषियों के धर्म की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि -

ब्रह्मचर्य, मिताहार, जप, आत्मज्ञान और नियमानुसार उपवास रखते हुए धर्माचरण करना ही ऋषि धर्म है ।[2]

स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यजन, अकार्पण्य, परिग्रहराहित्य, दया, अहिंसा, क्षमा, दम, जितेन्द्रियता, शौच, मांगल्य तथा विष्णु, शंकर, भास्कर और देवी में भक्ति को ब्राह्मणों का धर्म बताया गया है । ध्यानाभ्यास, मौन, स्वाध्याय, शौचाचार, अहंकार एवं अहंकारहीनता को गृहस्थों का धर्म कहा गया है । परस्त्रीगमन , धन में लोलुपता और विषयासक्ति, राक्षसों का धर्म तथा अविवेक, अज्ञान, शौचहीनता, असत्यता आदि को पिशाचों का धर्म निर्दिष्ट किया गया है ।[3]

इस प्रकार के अन्य अनेक द्वादश योनियों के धर्मों का निरूपण वामन पुराण में किया गया है ।

अर्थ

जीवन में अर्थ का उतना ही महत्व है जितना कि धर्म जैसे पुरुषार्थ का । वस्तुतः भविष्य के लिए धनार्जन, संसार के लिए हितकर एवं धर्म-कर्म हेतु अनुकूल अर्थ

---

1. वामनपुराण, 11/17.
2. वही, 11/22.
3. वही, 11/23-27.

का अर्जन करना मनुष्य के लिए आवश्यक है । रमणीय एवं सामग्री क्रय करने के लिए अर्थोपार्जन को सर्वोपयोगी साधन माना गया है ।[1]

पुरुषार्थ के अन्तर्गत अर्थ को स्थान देकर हिन्दू विचारकों ने मनुष्य की उस सहज प्रवृत्ति को आदर प्रदान किया है जिसमें धनार्जन द्वारा सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति एवं तज्जन्य संतोष की भावना प्रकट होती है । अर्थोपार्जन एवं संग्रह के यथेष्ट दान का भी विधान आलोचित पुराण में किया गया है क्योंकि यदि व्यक्ति दान अथवा सत्कर्म नहीं करता तो उसे सांसारिक बंधनों में बंधना पड़ता है जिससे वह श्रेष्ठतम पुरुषार्थों का सम्यक् सेवन नहीं कर पाता और मात्र धन का सेवक बनकर ही रह जाता है ।[2]

काम

वामन पुराण में मनुष्यों के लिए अनुकूल काम धर्म के फल का सेवन भी इह-लोक एवं परलोक में श्रेयस्कर आचरण के लिए अभीष्ट बताया गया है ।[3]

आलोचित पुराण में काम की सम्यक् साधना करने एवं विकृति से बचने के लिए विविध उदाहरणों पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि दिन एवं संध्या

---

1. वामनपुराण, 48/36

2. यस्य धारत्मार्थिकार्थः स च धार्मिकजीविनः ।
   रक्षेत मूढ़ो रमते यथा मातस्यापि च ॥
   महाभारत, 33/24.

3. वायुपुराण, 48/37.

समय रतिक्रिया वर्ज्य है, परस्त्री, मूत्रहीन पृथ्वी पर, रजस्वला स्त्री एवं जल में सुरत व्यापार का निषेध किया गया है ।[1]

काम भावना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है अतः व्यक्ति की आसक्ति प्रधान वृत्तियों को काम के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है । काम वृष्टि का एक नैसर्गिक वृत्ति भी है परन्तु धर्मानुकूल काम ही शास्त्रों में विहित है ।[2] मनु ने काम को तमोगुणी प्रवृत्ति कहा है ।[3] लेकिन वस्तुतः काम ही मनुष्य की अभिलाषाओं एवं इच्छाओं का जनक है ।

<u>मोक्ष</u>

मोक्ष कर्मबन्धनों से पूर्ण मुक्ति मानी जा सकती है । इसे जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य माना गया है । आत्मा को परमब्रह्म से अभिन्न मानते हुए जब व्यक्ति धर्मानुकूल एवं सात्त्विक वृत्तियों के अनुरूप आत्मा को ब्रह्ममय बना लेता है तथा सम्पूर्ण कर्मों को प्रकृति कृत्य समझ लेता है जिसमें गुण ही गुण में बरतता है तो वह मोक्ष अर्थात् ब्रह्म में लीन होकर ही जीवन का वास्तविक लक्ष्य होता है ।

आलोच्य पुराण में एक स्थल पर वर्णित है कि जो व्यक्ति ब्रह्मोदुम्बर तीर्थ[4] में महादेव के उद्देश्य से चैत्र शुक्ला चतुर्दशी तिथि में श्राद्ध कर्म करता है उसे परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति होती है ।

---

1. वामनपुराण, [illegible] 14/40.
2. महाभारत, स्वर्गारोहण, 5/60 तथा 123/4.
3. तमसो लक्षणं कामो - मनुस्मृति, 12/38.
4. वामनपुराण, 15/10.

न्यायशास्त्र के अनुसार मोक्ष दशा में ज्ञान का सर्वथा उच्छेद होने पर न सुख होता है न दुःख । क्योंकि आत्मा के कर्त्ता-भोक्ता न होने से दुःख-सुख का संस्पर्श उसके साथ नहीं होता और 'स्व स्वभावात्मनात्मा' इस श्रुति के अनुसार आत्मा का स्वरूप अनुभूति से ही सुख-दुःख की निवृत्ति से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

आलोचित-पुराण में वर्णित प्रमुख संस्कार

संस्कृत वाङ्मय में प्रचलित संस्कार शब्द शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, संस्करण, परिष्करण, शोभा, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, धार्मिक विधि-विधान अभिषेक, आदि क्रिया के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है ।[2] यह धार्मिक अर्थ का अन्यतम अंग है । सुविधा-अभिव्यक्ति एवं धार्मिक समाचरण के कारण संस्कार समाज में विशेष लोकप्रिय रहा है । पुराणों में उत्सवों, व्रतों, उपवास आदि क्रिया-विधियों में हिन्दू संस्कार की परम्परा का प्रकाश पड़ता है । आलोचितपुराण में प्रमुख संस्कार इस प्रकार हैं -

1. गर्भाधान

वामनपुराण में गर्भाधान संस्कार के लिए तिथि, दिवस एवं काल का निर्देश मिलता है । इसमें सन्ध्या एवं दिन में तथा प्रतिपदा, षष्ठी, एकादशी, पंचमी, दशमी तथा पूर्णिमा तिथियों में समागम को वर्ज्य बताया गया है ।[3] इस संस्कार की प्रशस्त-तिथि, द्वितीया, सप्तमी तथा द्वादशी बताई गई है ।[4]

---

1. वामनपुराण, 15/17.
2. हिन्दू संस्कार, राजबली पाण्डेय, पृ0 17.
3. वामनपुराण, 14/40.
4. वही, 14/48.

2. जातकर्म

शिशु के उत्पन्न होने पर जातकर्म संस्कार करने का विधान विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध है। आलोचित पुराण में वामनोत्पत्ति प्रसंग में जातकर्म-संस्कार का उल्लेख आया है। ब्रह्मा ने स्वयं अदिति-पुत्र वामन का शास्त्रानुकूल जातकर्म-क्रिया संपन्न किया था।[1]

जातकर्म संस्कार में ही संभवतः नामकरण संस्कार भी अवान्तर युगों में सम्मिलित कर लिया गया था क्योंकि वामन पुराण के एक स्थल पर कुछ के उत्पन्न होने के बाद जातकर्मादि संस्कारों के बाद क्रमशः चूड़ाकरण एवं उपनयन संस्कार का उल्लेख हुआ है।[2] इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए तपस्वी, तेजस्वी उच्चशिक्षा सम्पन्न तथा नैष्ठिक आचरणयुक्त श्रेष्ठ ब्राह्मण का विधान किया गया है।[3]

चूड़ाकरण

आलोचितपुराण में चूड़ाकरण को विहित संस्कारों में यथेष्ट स्थान एवं महत्व प्रदान किया गया है। जातकर्म के पश्चात् वामनपुराण कालीन समाज में चूड़ाकरण जातकर्मादि संस्कारों के उपरान्त बताया गया है।[4] इस संस्कार को शास्त्रों में चूड़ाकरण, चौल-कर्म, चूड़ा-कर्म, चौड़ या चौल-क्रिया आदि नामों से अभिहित किया गया है।[5]

---

1. वामनपुराण, सरो० मा० 9/17.
2. वामनपुराण, 23/1-2.
3. वही, 62/43.
4. वही, 23/2.
5. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग 1, पृ० 260.

उपनयन

वामनपुराण के अनेक स्थलों पर जातकर्मादि संस्कारों के उपरान्त उपनयन संस्कार का उल्लेख मिलता है। संवरण के पुत्र कुरु का उपनयन संस्कार वशिष्ठ ने उनके जन्म के नवें वर्ष में किया था। तदुपरान्त उसे वेद एवं अन्य शास्त्रों में पारंगत करने के लिए गुरुगृह भेजा गया था।[1] इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए संभवतः वटु अपने कुल-गुरु से निवेदन करते हैं क्योंकि वामन (विष्णु) ने बृहस्पति वंशीय भारद्वाज से उपनयन-संस्कार करने की प्रार्थना की थी।[2] आलोचित पुराण के सरोमाहात्म्य अध्याय नौ में उपनयन संस्कार के समय ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत, शुक्लवस्त्र, मृगचर्म, कमण्डलु आदि आवश्यक वस्तुएँ जो गुरु गृह में शिक्षा प्राप्त करते समय उपयोगी हो सकती थीं उसको उपहार स्वरूप प्रदान करने का भी उल्लेख मिलता है।[3] एक अन्य स्थल पर विवृत है कि श्रेष्ठ विप्रों द्वारा यज्ञोपवीत, मृगचर्म, मुंज-मेखला, पलाशदण्ड एवं कमण्डलु आदि उपहारों के साथ ब्रह्मचारी को इस संस्कार के अवसर पर अनेक वरदान भी प्रदान किये जाते थे।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्कार के साथ बालक को छात्र-जीवन की सम्पूर्ण आचार-पद्धति से अवगत कराकर तपस्वी जीवन-यापन करते हुए गुरु-सेवा एवं विद्यार्जन के लिए मनोवैज्ञानिक ढंग का प्रयोग किया गया है।

उपनयन संस्कार के उपरान्त चारों वेदों को पारंगत करने के साथ-साथ

---

1. वामनपुराण, 23/2.
2. वही, 62/43.
3. वही, सरो०मा० 9/36, 37, 39.
4. वही, 62/45-47.

उसे शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष एवं लोकाचार के परिज्ञान के लिए श्रुतियों की शिक्षा भी प्रदान की जाती थी ।[1] सरोमाहात्म्य प्रसंग में ब्रह्मचारी को सांख्य, योग आदि दर्शन एवं धर्मशास्त्रादि की शिक्षा प्रदान किये जाने का भी उल्लेख है ।[2]

पुराणकार ने एक स्थल पर यह भी कहा है कि शिष्य अपने गुरु को माता-पिता से अधिक गौरव प्रदान करता था तथा मन, कर्म एवं वाणी से कभी भी गुरु का अपमान नहीं करता था ।[3] उपनयन संस्कार के पश्चात् ही बालक का अनुशासित एवं गम्भीरजीवन प्रारम्भ होता था ।

विवाह-संस्कार

सामाजिक संस्कारों में विवाह संस्कार का विशेष महत्व है । ब्रह्मचर्याश्रम में विद्योपार्जन के उपरान्त घर लौटने पर व्यक्ति का विवाह-संस्कार सम्पन्न होता था, तत्पश्चात् व्यक्ति गृहस्थाश्रम धर्म का सदस्य हो जाता था । विवाह व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आवश्यकता है, इसका मूल उद्देश्य गृहस्थ बनकर देवताओं के लिए यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति है ।[4] गृहस्थ जीवन के लिए गृहिणी की उपस्थिति आवश्यक बतायी गयी है ।[5] मनुस्मृति में विवाह के

---

1. वामनपुराण, 62/48, 50, 51.
2. वही, स०मा०, 9/38.
3. वही, 59/58, 59.
4. ऋग्वेद, 10/85/29-36; 5/3/2; 5/28/3.
   द्रष्टव्य, वैदिक इण्डेक्स, 1, पृ० 537,
   पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग 1, पृ० 268.

तीन मुख्य उद्देश्य बताये गये हैं – धर्म-सम्पत्ति, प्रजा तथा रति अर्थात् धार्मिक-कृत्य, सन्तान तथा कामजन्य इच्छा की संतुष्टि ।[1] स्मृतियों एवं पुराणों में आठ प्रकार के विवाह माने गये हैं –

ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, देव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच ।

आलोचित पुराण में विधृत है कि ब्रह्मचर्याश्रम के उपरान्त व्यक्ति को असमान ऋषि वाले कुल में उत्पन्न कन्या से विवाह करना चाहिए ।[2] विवाह को कन्या पक्ष के जाति बन्धु एवं पारिवारिक सदस्यों की अनुमति पर सम्भव बताया गया है ।[3] इस प्रकार पुराणकारों ने विवाह को पवित्रतम् संस्कार माना है । तथा सहधर्मचारिणी के बिना किसी भी धार्मिक, सामाजिक अथवा अभिषेक आदि राजनीतिक क्रिया को अपूर्ण माना गया है ।[4]

अन्त्येष्टि संस्कार

हिन्दू जीवन में अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि है । यह संस्कार मृत्यु के उपरान्त सम्पन्न किया जाता है जिसका मुख्य उद्देश्य मृतात्मा को परलोक में शान्ति प्रदान करना था ।[5] बौधायन गृह्यसूत्र का कथन इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि मनुष्य जन्म के बाद संस्कारों द्वारा इस लोक तथा मृत्यु के उपरान्त के

---

1. मनुस्मृति, 2/28; याज्ञवल्क्यस्मृति, 1/78.
2. वामनपुराण 14/11.
3. वही, 26/50-53.
4. विष्णुपुराण, 3/10/13; ब्रह्माण्डपुराण, 4/14/15; मत्स्यपुराण, 54/24.
5. राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ0 296.

संस्कारों द्वारा परलोक को विजित करता है ।[1] अथर्ववेद में अन्त्येष्टि संस्कार की दो विधियों का संकेत किया गया है –

1. परित्याग एवं 2. उद्धिता ।

प्रथम विधि के अनुसार शव को श्मशान स्थल पर जानवरों के खाने के लिए फेंक दिया जाता था । यह प्रथा ईरानी शव-परित्याग प्रथा के समान परिलक्षित होती है ।[2] द्वितीय विधि में शव दाह के उपरान्त अवशिष्ट अस्थि की दाह – क्रिया का विधान, तदनन्तर लोगों को नदी-जल में डुबकी लगाकर स्नान करने के उपरान्त घर लौटने का विधान है ।[3]

पुराणों में भी अन्त्येष्टि संस्कार का विशद विवरण उपलब्ध है । आलोचित पुराण में विवृत है कि ग्राम के बाहर शवदाह करने के उपरान्त सगोत्र लोगों को प्रेत के उद्देश्य से जलदान करना चाहिए तथा प्रथम, चतुर्थ एवं सप्तम दिन अस्थि संचय करना चाहिए ।[4] अस्थि-संचय केउपरान्त उनके अंगों के स्पर्श का विधान भी है । तदनन्तर शुद्ध होकर सोदक (चौदह पीढ़ी के अन्तर्गत के गोत्र जनों को ऊर्ध्व-दैहिक-क्रिया करनी चाहिए ।[5] विष, बन्धन, शस्त्र, व जल, अग्नि एवं गिरने से यदि मृत्यु हो जाये अथवा बालक, परिव्राजक, सन्यासी एवं देशान्तर में मृत्यु हो जाये तो सद्यः शौच का विधान है । सद्यः शौच चार प्रकार

---

1. बौधायन गृह्यसूत्र – 1/43.
2. विलडुरेण्ट, स्टोरी ऑफ सिविलाइजेशन, प्रथम खण्ड, पृ0 332.
3. पारस्कर गृह्यसूत्र, 3/10/16-23.
4. वामनपुराण, 15/42.
5. वामनपुराण, 15/42.

का होता है - ब्राह्मणों का एक अहोरात्र का, क्षत्रियों का तीन दिनों का, वैश्यों का छः दिनों का एवं शूद्रों का बारह दिनों का । आलोच्यपुराण में यह भी वर्णित है कि सभी वर्णों के लोगों को यथाक्रम दस, बारह, पन्द्रह एवं एक मास के अन्दर अपनी-अपनी क्रियायें करनी चाहिए ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुराणों की व्यवस्था स्वयं अपने ही उदाहरणों के साथ समाहित नहीं होती वरन् इससे समाज में उसकी मान्यता की सीमा का पता भी चलता है । अतः संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि संस्कार विषयक आलोचित पौराणिक नियम एवं निर्देश धर्मशास्त्रों के प्रायः निकट ही है ।

आलोचित पुराण में वर्णित नारी-दशा

सामाजिक संतुलन में स्त्री एवं पुरुष दोनों का समान महत्त्व रहा है । नारी की महत्ता भार्या, जननी एवं परिवार व्यवस्था का मूल होने के कारण और भी अधिक हो जाता है । पुराणों में नारी का स्थान मर्यादायुक्त एवं आदर्शमय है । वह न केवल पुरुष की पूरक है अपितु उसे यश, विद्या, शक्ति एवं सम्पत्ति का आद्य अधिष्ठान भी स्वीकारा गया है ।[2] नारी के बिना पुरुष सृष्टि एवं पारिवारिक विकास असंभव है - इस तथ्य को प्राचीन भारतीय हिन्दू शास्त्रकारों ने भलीभाँति महत्त्वपूर्ण घोषित करते हुए उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा को स्वीकार किया है ।[3]

---

1. वामनपुराण 15/43-47.
2. शतपथ-ब्राह्मण, 5/2/1/10 तथा मनुस्मृति 9/45.
3. महाभारत, आदिपर्व, 74/40.

आलोचितपुराण में स्त्री की महिमा का वर्णन बहुत ही उदात्त भाव से किया गया है । इसमें दक्ष यज्ञ के प्रसंग में उल्लिखित है कि प्रजापति दक्ष ने यज्ञ-कर्म में द्वादश आदित्यों एवं ऋषियों के साथ-साथ उनकी पत्नियों को भी यज्ञ का भागी बनाया था ।[1] पद्मपुराण में तो स्पष्ट कहा गया है कि -

"नास्ति भार्या समं तीर्थं, नास्ति भार्या समं सुखम् ।"[2]

आलोचित पुराण में नारी के विभिन्न गुणों में शील सम्पन्नता को प्रधान गुण स्वीकारते हुए यह निर्देश दिया गया है कि उत्तम कोटि का शील ही नारी की सबसे बड़ी निधि है ।[3]

नारी के विभिन्न रूपों यथा - कन्या, भार्या, माता आदि को आलोचित (वामन) पुराण में स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है -

<u>नारी:कन्या के रूप में</u>

आलोचित पुराण में उर्वशी जन्म के प्रसंग में उल्लिखित है कि उर्वशी सुवर्णांगी तथा सर्वांग सुन्दरी बाला के रूप में उत्पन्न हुई थी ।[4] कन्याएँ विवाह से पूर्व अलंकार धारण नहीं करती थी ।[5] कन्या-शिक्षा का भी पुराणकाल के समाज में प्रचलन था जिससे वे श्लोकादि की रचना भी कर लेती थी ।[6] विवाह

---

1. वामनपुराण, 2/8-10.
2. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, 59/24, 59/15.
3. वामनपुराण, 37/63.
4. वही, 7/4-5.
5. वही, 25/59.
6. वही, 38/52.

योग्य कन्या को उसके अनुरूप वर से ही विवाह किया जाता था । उन्हें स्वयं वर चुनने की स्वतंत्रता नहीं थी[1] एवं अविवाहित कन्या को दूषित करना महापाप समझा जाता था ।[2]

नारी : भार्या के रूप में

आलोचित पुराण में नारी को भार्या के रूप में सदाचरण के अनुपालन एवं भौतिक और आध्यात्मिक सफलताओं की सम्प्राप्ति में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है । धार्मिक कृत्यों में उसे पुरुष की पूरक एवं प्रवृत्ति का मूल स्त्रोत समझना चाहिए । स्मृतियों में पतिपरायणता को साध्वी स्त्री का परमगुण माना गया है जिसमें अभाव में गृहस्थ-धर्म का सम्यक् अनुपालन नहीं हो पाता ।[3]

नारी : माता के रूप में

आलोचित पुराण में नारी को माता के रूप में सर्वोपरि महत्ता प्रदान की गयी है । इसमें एक स्थल पर देवमाता अदिति के मातृत्व की प्रशंसा की गयी है, जिनके उदर से भगवान विष्णु वामन रूप में उत्पन्न हुए थे ।[4] पुराणों में मातृ-पूजा का वर्णन भी किया गया है । यथा-वामन पुराण में इन्द्र के द्वारा माता अदिति की पूजा किये जाने का वर्णन ।[5] धर्मशास्त्रों में माता को पिता एवं गुरु की तुलना में सौगुना अधिक सम्मान्य बताया गया है ।[6]

---

1. वामनपुराण, 37/36-44.
2. वही, 12/35.
3. मनुस्मृति, 9/29-30; 5/165.
4. वामनपुराण, 50/46-49, स0ओ0मा0, 9/12-13.
5. वही, 50/26-27.
6. मनुस्मृति, 2/145; गौतम धर्मसूत्र, 6/51.

विधवा-नारी

आलोचित पुराण में विधवा नारी को पराश्रयी[1] कहा गया है। विधवा से विवाह करने वाले व्यक्ति के यहाँ भोजन करना वर्ज्य बताया गया है।[2] इस प्रकार पौराणिक समाज व्यवस्था में विधवा की सामाजिक दशा को दुर्भाग्यपूर्ण बताया गया है। जैसा कि वामनपुराण में कामदेव के भस्म हो जाने पर रति के असह्य जीवन से स्पष्ट है। विधवा स्त्रियों से वार्तालाप किया जाना भी वर्ज्य था। इस प्रकार वामन पुराणकालीन समाज में विधवा की सामाजिक स्थिति अशुभ एवं उपेक्षित मानी जा सकती है।

सती प्रथा

आलोचितपुराण में राजा पुष्पवृत की पत्नी सुदेवा की कथा के प्रसंग में उल्लिखित है कि पतिपरायण स्त्रियाँ पति की चिता की अग्नि में प्रविष्ट होकर दिव्यलोक-गामिनी होती थी।[3] पौराणिक समाज में वर्णित सती-प्रथा को स्त्री की मार्मिक दशा भी कहे जा सकते हैं क्योंकि पति की मृत्यु के बाद वे असहाय सी हो जाती थी और समाज द्वारा प्रताड़ित भी की जाती थी, शायद इसी कारण वे पति के साथ चिता पर आरूढ़ होकर सती हो जाना ही श्रेयस्कर समझती थी।

---

1. वामनपुराण, 49/50.
2. वही, 12/35.
3. वही, 15/23.
4. वही, 46/7-10.

आलोचितपुराण में वर्णित भोज्यपदार्थ

प्राचीन काल से ही अन्न की पवित्रता एवं शुद्धता को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। भोजन की शुद्धता पर ही मन की पवित्रता आधारित है।[1] भोजन एवं मन की पवित्रता परस्पर अन्योन्याश्रित है।

आलोचितपुराण में धर्मनिष्ठ व्यक्ति के लिए उपयुक्त भोज्य पदार्थों पर विशद प्रकाश डाला गया है। भोज्य पदार्थों में स्नेहाक्त अन्न, बासी होने पर भी ग्राह्य बताया गया है।[2] मनुस्मृति में वर्णित आमिषाहार यथा - शशक, शल्यक, गोधा, मत्स्य और कच्छप के मांस तथा विविध प्रकार के दालों को भी आलोचितपुराण में भोज्य पदार्थों के अन्तर्गत परिगणित किया गया है।[3] पुराणकार ने नित्य नैमित्तिक कर्म करने वाले सदाचारी व्यक्ति के अन्न को ही ग्रहण करने का विधान प्रस्तुत किया है।[4] ओदन[5], जौ[6], सक्तु[7], अपूप[8], शष्कुली[9],

---

1. छान्दोग्योपनिषद्, 7/26/2.
2. वामनपुराण, 15/2.
3. वही, 15/3.
4. वही, 15/38.
5. वही, 15/42-43.
6. वही, 17/59, 62.
7. वही, 17/56; 53/49.
8. वही, 20/36.
9. वही, 17/41, 62.

मिष्ठान्न[1], श्यामक[2], मधु[3], गुड़[4], फल[5], आदि भोज्य-पदार्थों को आलोचित पुराण काल में स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त आलोचित पुराण में तत्कालीन समाज में प्रचलित अभक्ष्य आहार[6] (मांसाहार) पर भी प्रकाश डाला गया है। समाज में जितने अधम, राक्षस तथा पाप-कर्मी लोग थे वे मांसाहार करते थे। रौद्र-कर्मा तथा राक्षस प्रवृत्ति के व्यक्ति अधिकांशतः मांसाहार करते थे। किन्तु पुराणकार ने मनुस्मृति के साक्ष्यों को प्रस्तुत करते हुए मांसाहार को मोहज कहा है।[7]

वस्त्रालंकार

वस्त्र-धारण एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकता है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में परिधान को वस्त्र, वसन, चीर, चेल, चीवर, आच्छादन आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।[8] चीवर संभवतः बौद्धभिक्षुओं का परिधान था क्योंकि इस शब्द का प्रयोग ब्राह्मण एवं आरण्यक साहित्य में अनुपलब्ध है।[9] इसी प्रकार 'आच्छादन' शब्द सूत्र-ग्रन्थों के पूर्व प्रयुक्त नहीं मिलता

---

1. वामनपुराण, 35/5; 18/19;
2. वही, सरो०मा० 15/2.
3. वही, 36/8, 9, 11, 13, 16, 17.
4. वही, 15/46-48.
5. वही, 35/2; 17/25.
6. वही, 99/5.
7. वही, 15/3.
8. ऋग्वेद, 1/34/1, 1/95/7, 1/25/17 तथा अष्टाध्यायी, 4/2/120, 3/4/33.
9. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० 125.

है । वशिष्ठ धर्मसूत्र[1], अष्टाध्यायी[2] तथा अर्थशास्त्र में 'प्रावार' एवं 'पुष्पतिका' जैसे वस्त्रों को आच्छादन संज्ञा से अभिहित किया गया है ।

पौराणिक वाङ्मय में आचरण, अलंकरण एवं अनुष्ठान के परिवेश्य में मानवीय एवं दैवी वस्त्राभरणों को विस्तारपूर्वक विवृत किया गया है । वामन पुराण[3] में विविध प्रकार के परिधानों का उल्लेख मिलता है जो संहत-वस्त्र अथवा वल्कल के रूप में उपयोग में लाये जाते थे । विष्णु-पुराण[4] में गृहस्थ जीवन में संहत-वस्त्रों को जो फटे न हों पहनने का आदेश मिलता है ।[5] वायुपुराण के अनुसार धार्मिक कृत्यों एवं अवसरों पर वस्त्रावृत्त होना सांस्कृतिक आवश्यकता मानी गई है ।[6]

इस प्रकार वस्त्राभरण सामाजिक आवश्यकता थी जिसका शास्त्रीय उल्लेख वैदिक वाङ्मय[7] के काल से लेकर परवर्ती पुराण की संरचना विधि तक क्रमशः होता रहा है । 'विष्णुस्मृति' में मनुष्य की अवस्था के अनुसार वस्त्र धारण को अपेक्षित बताया गया है ।

प्राचीन भारतीय स्थापत्य कलाकृतियों, देव-मूर्तिमाओं एवं मानवाकृतियों

---

1. वशिष्ठ, धर्मसूत्र, 17/62, 18/33, अष्टाध्यायी, 3/5/54, 5/46 तथा अर्थशास्त्र 1/11.
2. सिद्धेश्वरी नारायण राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ0 288.
3. वामनपुराण, 15/4-5.
4. विष्णुपुराण, 3/12/2.
5. वायुपुराण, 80/39-4, द्रष्टव्य मत्स्यपुराण, 59/13.
6. शतपथ ब्राह्मण, 13/14/1/15.
7. विष्णुस्मृति-71/5.

के अवलोकन से लोगों द्वारा प्रयुक्त वस्त्राभूषणों का ज्ञान प्राप्त होता है । पौराणिक वाङ्मय में चित्रित समाज में विविध वस्त्रों, आभूषणों एवं अलंकारों की पुरातात्त्विक तथ्यानुकूल पुष्टि, बेसनगर की यक्षिणी की मूर्ति[1], साँची एवं भरहुत के चित्रों कुषाण एवं गुप्तकालीन मूर्तियों तथा परवर्ती विविध मानव मूर्तियों के अवलोकन से भी की जा सकती है ।[2]

वस्त्रोपादान

आलोच्यपुराण के कुछ स्थलों पर वस्त्र-निर्माण के साधनों पर भी प्रकाश डाला गया है । कपास से निर्मित वस्त्र समाज में विशेष प्रचलित थे तथा उन्हें वस्त्रों में श्रेष्ठतम माना जाता था ।[3] वस्त्रों को सिलकर पहनने की प्रथा थी ।[4] कपास से निर्मित वस्त्रों के अतिरिक्त पशुओं के चर्म से बने हुए वस्त्र, वृक्ष-सुलभ छाल से बने वस्त्र, ऊनी वस्त्र तथा रेशम से निर्मित वस्त्रों को भी लोग उपयोग में लाते थे ।[5] रेशमी वस्त्र सम्भवतः सम्भ्रान्त परिवारों में ही अधिक प्रचलित था ।

अलंकार

सौन्दर्य वृद्धि मानव की सहजप्रवृत्ति है । पुरुष भी सामाजिक प्रयोजनों में जाने से पूर्व सुन्दर वस्त्रों को धारण करते थे । स्त्रियाँ सुन्दर परिधानों के अतिरिक्त अपनी सौन्दर्य वृद्धि के लिए श्रृंगार के प्रति अधिक आकर्षित रहती थीं क्योंकि श्रृंगार से निश्चयतः सौन्दर्य में वृद्धि होती है ।

---

1. द्रष्टव्य, ए०के० कुमारस्वामि, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट प्लेट, 3, 4, 15, 2.
2. मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेष-भूषा, पृ0 38 तथा मार्शल : द मोनुमेण्ट्स आफ साँची, प्लेट, 31, 67, 110, 119, 3, 11, 24, 27, 26, 30, 33, 35, 38 आदि
3. वामनपुराण, 12/52.
4. वही, 15/4-5.
5. वही, सरोमाहात्म्य, 16/33, 25/59, 27/35, 37, 39 तथा 29/79 आदि ।

आलोचित पुराण में एक स्थल पर शंकर के विभिन्न अंगों के विविध अलंकारों का उल्लेख मिलता है जिसे वे अपने कान, भुजा तथा कटि प्रदेश में क्रमशः कुण्डल, बाजूबन्द कंगन तथा करधनी के रूप में धारण करते थे ।[1] इसी प्रकार तत्कालीन समाज में स्त्रियाँ मणि, रत्न, प्रवाल, मुक्ता, मणि[2], हार[3], मणि माला, अथवा पुष्प माला, कुण्डल[4], करधनी[5], कर्ण-फूल, बाजूबन्द, कंगन[6] तथा नूपुर आदि अलंकारों को धारण करती थीं ।

मनोरंजन के साधन

मानव-व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए मनोरंजन विशेष उपादेय साधन माना गया है । इससे चित्त की प्रसन्नता के साथ-साथ नवीन चेतना, स्फूर्ति एवं साहस की उपलब्धि होती है । वामनपुराण में मनोरंजन के अनेक साधनों का उल्लेख मिलता है । इस पुराण के समय समाज में संगीत, नृत्य तथा कलात्मक मनोविनोद में लोग विशेष रुचि रखते थे ।

द्यूत-क्रीड़ा

वामनपुराण में अनेक स्थलों पर द्यूत-क्रीड़ा का उल्लेख मिलता है । इसमें

---

1. वामनपुराण, 1/25-26.
2. वही, 15/4.
3. वही, 3/39.
4. वही, 19/16.
5. वही, 3/31, 7/10, 6/21.
6. वही, 1/25-26.

एक स्थल पर शिव को द्यूतप्रिय कहा गया है ।[1] अन्यत्र पार्वती ने शंकर से कहा था कि यदि अन्धक मुझे प्राप्त करना चाहता है तो शिव के साथ प्राणों का द्यूत खेलकर निर्णय कर ले । जो इस द्यूत क्रीड़ा में विजयी होगा वही मुझे प्राप्त करेगा ।[2] द्यूत क्रीड़ा में हारने वाले को बाजी लगायी वस्तु को विजेता को देना पड़ता था । एक स्थान पर पुराणकार ने निर्देश दिया है कि द्यूत में विजयी व्यक्ति पूर्व शर्त लगाये गये भवन आदि को भी अधिकार में कर लेता है ।[3] द्यूत-क्रीड़ा विषयक स्थल अन्य पुराणों में भी उपलब्ध है । मत्स्यपुराण में उल्लिखित है कि द्यूत में कुशलता दिखाकर राजा का मनोरंजन करना चाहिए[4] परन्तु भूपतियों को यथासम्भव इससे बचने का भी निर्देश दिया गया है क्योंकि इसमें राज-विनाश की स्थिति भी आजाती है ।[5] राजा की अपनी स्त्रियों के साथ द्यूत-क्रीड़ा करने का विधान भी मिलता है ।[6] द्यूत-क्रीड़ा का प्रचलन वैदिक काल में भी रहा है । ऋग्वेद में एक स्थल पर अक्ष अथवा पासा (द्यूत) क्रीड़ा का वर्णन आया है ।[7] महाभारत के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस क्रीड़ा के फल-स्वरूप पाण्डवों को राज्य क्षेत्र छोड़ना पड़ा था ।[8] स्मृतियों में राजा के लिये द्यूत-क्रीड़ा का निषेध बताया गया है ।[9]

---

1. वामनपुराण, सरो० माहात्म्य, 26/129.
2. वही, 40/51.
3. वही, 3/36.
4. मत्स्यपुराण, 216/8.
5. वही, 220/8.
6. वही, 61/32.
7. ऋग्वेद, 10/34/8.
8. महाभारत, सभापर्व
9. मनुस्मृति, 9/221, याज्ञवल्क्य, 2/204.

मृगया

आलोचित पुराण में मृगया एक विशिष्ट मनोरंजन के साधन रूप में आख्यात है ।[1] प्रायः मृगया का मनोरंजन-राजाओं एवं राजकुमारों द्वारा ही सम्पन्न किया जाता था । दैत्यवर प्रह्लाद अपनी नैमिष तीर्थयात्रा के आगमन पर स्नानादि के उपरान्त मृगया के लिए वन में प्रविष्ट हुए थे ।[2] वामन पुराण के उल्लेख की पुष्टि अन्यान्य पौराणिक उद्धरणों से भी होती है । मृगया प्रेमी राजाओं का उल्लेख विष्णु[3], वायु[4] एवं ब्रह्माण्ड[5] पुराणों में भी मिलता है ।

मृगया प्रेमी कभी कभी उत्साही पुरुषों के लिए अनिष्टकारक भी बताया गया है ।[6] मृगया राजोचित मनोरंजन का प्रमुख साधन था । आखेट द्वारा मनोरंजन करने की प्रवृत्ति वैदिक काल में भी विद्यमान थी ।[7] कामसूत्र[8] में आखेट क्रिया को क्रीडाविनोद का एक प्रमुख साधन बताया गया है । रघुवंश में महाराज दशरथ द्वारा आखेट क्रीड़ा का उल्लेख मिलता है ।[9] मानसोल्लास में एकतीस

---

1. वामनपुराण 15/15.
2. वही, 7/42.
3. विष्णुपुराण, 4/13/30, 4/4/40-42, 4/20, 40.
4. वायुपुराण, 85/27.
5. ब्रह्माण्डपुराण, 3/60/27.
6. वायुपुराण, 85/27.
7. पुरुषोत्तमलाल भार्गव, इण्डिया इन दि वैदिक एज, पृ0 250.
8. एस0सी0 मजूमदार, सोशल लाइफ इन एन्शियण्ट इण्डिया-स्टडीज इन कामसूत्र, पृ0 117.
9. रघुवंश, 9/49-50.

प्रकार की मृगया का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार ने कुछ पर्वतीय एवं जंगली क्षेत्रों को आखेट क्रीड़ा के लिए वर्ज्य घोषित किया है ।[1]

<u>जलक्रीड़ा</u>

वामन-पुराण में उल्लिखित है कि वाराणसी नगरी में गृह-क्षेत्र में निर्मित वापिकाओं में जलक्रीड़ा के लिए एकत्र हुई स्त्रियों में परस्पर आमोद-प्रमोद होता था ।[2] अन्यत्र वामन-वृत्तान्त के प्रकरण में पुष्करतीर्थ के जल में विद्यमान एक मत्स्य के साथ अनेक मत्स्य कन्याओं की जल-क्रीड़ा का उल्लेख आया है ।[3] जल क्रीड़ा का सन्दर्भ अन्य पुराणों में भी उपलब्ध है ।

विष्णुपुराण में सहस्त्रार्जुन कार्तवीर्य द्वारा अतिशयमद्यपान के उपरान्त नर्मदा में जल क्रीड़ा का सुन्दर चित्रण किया गया है ।[4] मत्स्यपुराण में हिमालय पर्वत-स्थल के एक सरोवर में देवांगनाओं की जलक्रीड़ा एवं तज्जन्य विविध मनो-रंजनों का मनोरम वर्णन मिलता है ।[5] मानसोल्लास में उल्लिखित है कि ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के प्रचण्ड ताप होने पर राजा जल-क्रीड़ा करता था ।[6] जल-क्रीड़ा प्रायः नदी, पुष्करिणी तथा गृह-क्षेत्र में निर्मित सरोवरों में जिनमें कंठ तक निर्मल

---

1. मानसोल्लास, 4/15/1446/50.
2. वामनपुराण 3/35.
3. वही, 39/20.
4. विष्णुपुराण, 4/11/19.
5. मत्स्यपुराण, 120/12-20, 120/21.
6. मानसोल्लास, 5/5/241-244.

जल-स्नान ही की जाती थी ।[1]

संगीत

मनोरंजन के क्षेत्र में कलात्मक विनोद का स्थान सर्वोपरि है । जिसका प्रधान साधन संगीत है । इसमें गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों को सम्मिलित किया जाता है । आलोचित पुराण में शिव को गीतवादित्रनृत्यज्ञ तथा गीत-वादित्रप्रिय कहकर संगीत के दैवी सम्बन्ध एवं महत्ता को प्रकाशित किया गया है ।[2] गायन कर्म को गन्धर्व विद्या में जोड़कर पुराणकारों ने नृत्य-कर्म को स्त्रि-योचित अप्सराओं की कला में सम्मिलित किया है ।[3] नृत्य एवं गीत को महान् सुखोपभोगों में परिगणित किया गया है ।[4] पुराणकार ने देवाराधन के समक्ष सं-गीत के आयोजनों की लोकप्रियता की ओर संकेत किया है । ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ मंगलकारी गीत गाकर मनोरंजन किया करती थी ।[5] वामन पुराण में एक स्थल पर भावगम्भीर नृत्य मुद्राओं पर भी प्रकाश डाला गया है ।[6] वाद्य-यन्त्रों में अनुपम वीणा तत्कालीन समाज में विशेष लोकप्रिय था । नारद जी इसी वीणा को धारण करते थे जिससे 'किल-किल' की मधुर ध्वनि निसृत होती थी ।[7]

---

1. मानसोल्लास, 5/5/295.
2. वामनपुराण, सरो॰ माहा॰, 26/125.
3. वही, 27/15-16, 66/15.
4. वही, सरो॰माहा॰ 10/74.
5. वही, 29/6, 66/15 तथा मत्स्य पु॰ 1/18/9.
6. वही, 43/75.
7. वही, 2/29.

वीणा-वादन वैदिक काल में भी प्रचलित था । तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी वीणा वादन का उल्लेख मिलता है ।[1] मेघदूत में यक्ष-पत्नी वीणा-वादन द्वारा अपने पति का गुणगान करती है ।[2] कामसूत्र[3] तथा मानसोल्लास[4] में संगीत कला में वाद्य-यन्त्रों के महत्व पर प्रकाश डाला गया है ।

मानव एवं मानवेतर संस्कृति

जिन व्यापक मान्यताओं, जीवनादर्शों, चिरन्तन मानवमूल्यों, आस्थाओं एवं आध्यात्मिक निष्ठाओं के साथ वामनपुराण की रचना हुई है उनके कारण इसमें मानव संस्कृति के उन्नत स्वरूप का निदर्शन भी हुआ है । महाकाव्यों में जातीय और राष्ट्रीय संस्कृति के चित्रण का प्रयत्न तो होता ही है किन्तु पुराण जैसे चिरयवनीन महाकाव्य में सम्पूर्ण मानव-संस्कृति के निर्माण की चेष्टा की गयी है ।

वामनपुराण के सांस्कृतिक चित्रण की दृष्टि से कुछ उल्लेखनीय विशेषतायें स्पष्ट लक्षित होती हैं - यथा :

1. भारतीय संस्कृति के दैवीय और मानवीय रूपों में मानवीय संस्कृति

---

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/4/14.
2. मेघदूत, उत्तरमेघ, 26.
3. द्रष्टव्य, एस०सी० चकलादार, सोशल लाइफ इन एन्शियण्ट इण्डिया, स्टडीज इन कामसूत्र, पृ० 165.
4. मानसोल्लास, 4/17/2470, 4/17/2473-74 तथा 4/17/2730-31.

2. दैवीय संस्कृति पर दानवीय संस्कृति की प्रमुखता प्रभुता यथा – दैत्यराज बलि का देवों पर अधिकार आदि । स्थूल रूप से तो भारतीय संस्कृति में केवल दैवीय संस्कृति एवं मानवीय संस्कृति का ही चित्रण हुआ है किन्तु आलोचित पुराण में इन दो संस्कृति के अतिरिक्त दानव संस्कृति का भी स्पष्ट वर्णन उपलब्ध है जो कि बलि[1], धुन्धु[2], अन्धक[3], तारक[4], प्रह्लाद[5], मय[6], महिष[7], बाण[8] शुम्भ[9], निशुम्भ[10] आदि अनेक दैत्यों के वर्णन प्रसंग से स्पष्ट है ।

---

1. वामनपुराण, स0मा0 2/1,3,5,12,13,18,21; स0मा0 3/2,4,6,14,; स0मा0 8/1,4,11,15,33,44,46,48, स0मा0 10/1,3,10,36,40, 47/1,2,12,40,41; 48/2,4,10,12,13,15,16,19,21-23,27,28,30, 44, 65/9,17,35-37,45,46,49,50,53,66 आदि ।

2. वही, 52/13,16,17,19,20,26,27,29,30,38,43,46,52,57,61,72, 77,90.

3. वही, 3/43,44,70; 9/1,3,4,6,7,26,45; 10/2,4,7,8,11,19,21, 36,स0मा0 26/42; 32/33,34,36,45,47, 33/1,6,19,33,34,37,39, 40,47,46.

4. वही, 18/71;25/28;26/58;32/3,32,42,46,47,64,61,83,81,85.

5. वही, 7/22,31,63, 8/20,30,34,45,67; 9/1,2,27,46; 10/14,18, 22,24, स0मा0 2/4,8, स0मा0 8/1-10,15,83; 48/19,22,27,32,34, 35.

6. वही, 9/29,47; 10/44,46,48; 20/21,30,50; स0मा0 2/7,8; 33/32, 47/2,12,32,40,41,; 48/7,13; 62/30; 65/64.

7. वही, 18/38,39,40,69; 20/2,11,17,21,25,31,35,42,43, 22/11, 14,19; 29/16,18,22,26,65,70; 32/3,4,32,42,46,47,64,66,71, 72-75,84,86,97.

मानव एवं मानवेतर संस्कृति का मूल

मानव एवं मानवेतर संस्कृति का मूल स्वरूप धर्म रहा है । धर्म को इस लोक और परलोक में हितकर बताया गया है । इसका अनुसरण करने वाला मनुष्य सज्जनों में पूज्य सर्वत्र सुखी एवं प्रसन्न रहता है ।

मानव एवं मानवेतर योनियों के अनुसार द्वादश धर्मों का विशद निरूपण आलोचित वामन पुराण में निम्न प्रकार से उपलब्ध है[1]-

1. <u>देवताओं का धर्म</u>

    सदायज्ञादि कार्य, स्वाध्याय, वेदज्ञान और विष्णु-पूजा में रति ।

2. <u>दैत्यों के धर्म</u>

    बाहुबल, ईर्ष्याभाव, युद्धकार्य, नीतिशास्त्र का ज्ञान और हर भक्ति ।

---

8. वामनपुराण, स०मा० 8/12; 32/46,76,77,78,80,85,117-118; 65/9, 36,37,46,51,52,53,65.

9. वही, 22/2,4,6,7; 29/2,11,20,25,27-30,32,35,38,40,43-46, 88; 30/13,44,53,68.

10. वही, 22/4,6,7; 39/2-4,11,20,25,28,30,34; 30/13,33,40,44, 68.

---

1. वामनपुराण, 11/15-27.

3. <u>सिद्धों का धर्म</u>

श्रेष्ठ योगसाधन, वेदाध्ययन, ब्रह्मविज्ञान एवं विष्णु और शिव में स्थिर भक्ति ।

4. <u>गन्धर्वों का धर्म</u>

उत्कृष्ट उपासना, नृत्य और वाद्य का ज्ञान तथा सरस्वती के प्रति स्थिर भक्ति ।

5. <u>विद्याधरों का धर्म</u>

अतुलनीय विद्वता, विज्ञान, पवित्रबुद्धि, और भवानी के प्रति भक्ति ।

6. <u>किम्पुरुषों का धर्म</u>

गन्धर्वविद्या का ज्ञान, सूर्य के प्रति स्थिरभक्ति एवं सभी शिल्प कलाओं में कुशलता ।

7. <u>पितरों का धर्म</u>

ब्रह्मचर्य, अमानित्व, योगाभ्यास में दृढ़ रति एवं सर्वत्र इच्छानुसार भ्रमण ।

8. <u>ऋषियों का धर्म</u>

ब्रह्मचर्य, नियताहार, जप, आत्मज्ञान और नियमानुसार धर्मज्ञान ।

9. <u>मनुष्यों का धर्म</u>

स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यजन, अकार्पण्य, परिश्रमराहित्य, दया, अहिंसा, क्षमा, दम, जितेन्द्रियता, शौच, मांगल्य तथा विष्णु, शंकर, भास्कर, और देवी में भक्ति ।

10. <u>गुह्यकों का धर्म</u>

धनाधिपत्य, मौन, स्वाध्याय, शंकरार्चन, अहंकार एवं शौण्डीर्य (अधीरता) ।

11. <u>राक्षसों का धर्म</u>

परस्त्रीगमन, दूसरे के धन में लोलुपता, स्वाध्याय और शिवभक्ति ।

12. <u>पिशाचों का धर्म</u>

अविवेक, अज्ञान, शौचहीनता, असत्यता एवं सदैव मांस लोलुपता ।

मानव संस्कृति का विकास

वस्तुतः भारतीय संस्कृति ही मानव-संस्कृति के रूप में उभरकर विकसित हुई है । इस संस्कृति की निर्मातृ और उसके उत्तराधिकार को ग्रहण करने वाली जाति का इतिहास सदा से ही जीवन्त और ज्वलन्त रहा है । वैदिक ऋषि, जिन्होंने धर्म का अर्थात् धर्मात्मक वेदमन्त्रों का साक्षात् किया वे ही इसके मूल-निर्माता थे । उनके बाद वे ऋषि जिन्होंने साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से उपदेश द्वारा परम्परागत ज्ञान की विरासत को प्राप्त किया वे इसके उत्तराधिकारी बने । तदनन्तर तीसरी कोटि के वे ऋषि हुए, जिन्होंने वेदों के यथार्थ बोध और ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों के विस्तार को लिए अंगात्मक षः स्वतन्त्र विधाओं का प्रवर्तन किया, जिन्हें वेदांग के नाम से पुकारा गया । इस प्रकार ऋषियों की उक्त तीनों परम्पराओं ने अपने अपने ढंग से इस मानव संस्कृति के विकास में योगदान किया । प्रथम कोटि के ऋषियों ने कर्म और ज्ञान को संस्कृति का आधार बनाया, दूसरी श्रेणी के ऋषियों ने यज्ञ-संस्था द्वारा समस्त वैदिक समाज को संगठित कर उनमें सामूहिक चेतना के भाव को विकसित किया एवं तीसरे युग के ऋषियों ने एक ओर तो सूत्र-ग्रन्थों तथा स्मृतियों द्वारा वर्णाश्रम-धर्म की व्याख्या की और

दूसरी ओर सामाजिक नीति नियमों को निर्धारित किया जिससे आर्थिक विकास को भी नई दिशा मिली ।

मानव संस्कृति के इस तीसरे विकास-युग में यज्ञ को श्रेष्ठतम कार्य के रूप में स्वीकार किया गया तथा उपनिषदों की विचारप्रधान तर्कप्रति द्वारा मोक्ष 'पुरुषार्थ' का एक नया मार्ग उद्घाटित किया गया । इस युग में ऋषियों ने जन-सुलभ छोटी-छोटी बोध कथाओं द्वारा समाज को ज्ञान के गम्भीर मर्म को समझाने की भी चेष्टा की; किन्तु फिर भी उनका यह प्रयत्न एक वर्ग-विशेष तक ही सीमित रहा जिसे पुराणों के मुनि महात्माओं ने पूरा किया ।

पौराणिक मानव संस्कृति ने परम्परागत वैदिक धर्म को लोकोपयोगी बनाकर जन जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया । वेदों में जिस समन्वित संस्कृत के दर्शन होते हैं उसको पुराणों की संस्कृति ने विकास के उच्च शिखर तक पहुँचाया । पुराणों की इस मानव-संस्कृति द्वारा जहाँ एक ओर सामाजिक संगठन की स्थापना हुई वहीं दूसरी ओर मानवाधिकारों की रक्षा का जो प्रयत्न किया गया । मानव-संस्कृति , देव-संस्कृति से अधिक उदार तथा जन-जीवन के अधिक निकट है यद्यपि देव-संस्कृति में जो कुछ निर्धारित किया गया था, उसी का प्रवर्तन मानव-संस्कृति में हुआ है । देव-संस्कृति, वर्ग-विशेष की श्रेष्ठता की विधायिका है ; जबकि मानव संस्कृत जन सामान्य के आचार-विचारों का प्रतिनिधित्व करती है ।

भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय के इतिहास में देवताओं और मानवों का इस दृष्टि से भी महत्व रहा है कि जहाँ विश्व में रक्त-रंजित प्रभुसत्ता तथा जन-वैभव की विकट भूख रही है, वहीं भारत के पुनरुत्थान के मूल में ज्ञानवन्त एवं आत्मत्यागी मनीषियों के सुचिन्तित विचार भी निहित रहे हैं । उनकी इस आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन को संचालित कर समय-समय पर उठने वाले उनके पारस्परिक मतभेदों को सुलझाने में भी सहायता प्रदान किया है ।

पुराणों के आदर्शमय, लोकप्रिय आख्यान-उपाख्यानों के आधार पर तत्कालीन उदात्तचरित राजपुरुषों के जीवनादर्शों को काव्य के कलेवर में ढाल कर ही महर्षि व्यास और वाल्मीकि जैसे दिव्यचेता मनस्वियों ने क्रमशः पुराण महाभारत और रामायण की रचना कर परम्परागत सांस्कृतिक धारा को युग के अनुकूल नया रूप दिया । वामनपुराण में भारतीय संस्कृति का चित्रण राजपुरुषों एवं महर्षियों के वर्ण वर्णन प्रसंग से पूर्णतया स्पष्ट है जो कि आलोचित पुराण में स्थान स्थान पर वर्णित है ।

आर्थिक महत्ता

मानव संस्कृति के विकास में अर्थव्यवस्था का प्रतिष्ठित स्थान है । संस्कृति के विविध तत्वों के अनुशीलन में आर्थिक स्थिति का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है । पौराणिक संस्कृति के सन्दर्भ में भी उसे भली-भाँति समझने के लिए तत्कालीन अर्थव्यवस्था एवं आर्थिक साधनों से परिचित होना वांछनीय है । वस्तुतः मनुष्य की ऐहिक एवं पारलौकिक आवश्यकता, सुख और शान्ति धर्मानुसार अर्थोपार्जन पर ही आधारित है ।

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन की सफलता की परिकल्पना करते हुए अर्थ का पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि में द्वितीय महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । वर्णाश्रम धर्म से पुरुषार्थों को जोड़ गया है तथा व्यावहारिक रूप से सम्बद्ध किया गया है । स्वधर्म-पालन, अर्थ-सिद्धि के लिए तो अनुकूल कहा ही गया है, इसकेअतिरिक्त सदाचरण द्वारा उपार्जित धन आध्यात्मिक उत्कर्ष का आधार भी माना गया है । महाभारत में जहाँ त्रिवर्ग-साधना पर दिया गया है, उसमें अर्थ को प्रधान आधार तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है ।[1]

---

1. महाभारत, उद्योगपर्व, 72/23-24.

आलोचित पुराण में एक समृद्धशाली समाज का चित्रण मिलता है जिसमें लोग हृष्ट-पुष्ट, सुखी एवं ऐश्वर्यसंयुक्त थे ।[1] प्रस्तुत पुराण में दान प्रसंग से सम्बन्धित स्थलों में जिन वस्तुओं को दान के रूप में देने का उल्लेख किया गया है उनसे भी उक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है । भूमि, स्वर्ण, रत्न-समूह, हस्ति, अश्व, गौ, स्त्री, वस्त्र, आभूषण एवं ग्राम समूह आदि दानों की व्यवस्था प्रदान कर पुराणकार ने तत्कालीन विकसित मानव की भौतिक समृद्धि की ओर संकेत किया है ।[2] इसमें पृथ्वी को रत्नों की खान एवं समृद्धिशाली नगरों से युक्त वर्णित किया गया है ।[3]

वामनपुराण में सदाचार नियमों के प्रतिपादन के सन्दर्भ में धर्म के साथ-साथ अर्थ की महत्ता को भी प्रतिपादित किया गया है । एक स्थल पर कहा गया है कि धर्म सदाचार का मूल है तथा अर्थ उसकी शाखा ।[4] सामाजिक संतुलन के लिए सदाचारी व्यक्ति को निर्देश दिया गया है कि वह ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर धर्म एवं अर्थ की चिन्ता अर्थात् योजना पर विचार करे ।[5] एक स्थल पर लक्ष्मी के चार स्वरूपों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि सत्त्व, रज तथा तम क्रमशः त्रिगुण प्रधान आद्य शक्ति के रूप में विष्णु द्वारा प्रकट की गई थी ।[6]

---

1. वामनपुराण, स०मा०, 10/24-25.
2. वही, 10/41,42,44 तथा 15/50.
3. वही, 52/83.
4. वही, 14/19.
5. वही, 14/29.
6. वही, 49/18-36.

आलोचित पुराण में प्रमुख उपर्युक्त कथन से तत्कालीन सामाजिक वर्गों की आर्थिक स्थिति का संकेत किया गया है ।[1] राजिनी नामक नगरी (लक्ष्मी) केवल वीर पुरुषों को आश्रय प्रदान करती है[2] जो अपने पराक्रम से सम्पूर्ण साम्राज्य शक्ति को बलवान एवं वैभव पूर्ण बनाते हैं ।[3]

आलोचित पुराण में मानव संस्कृति के अन्तर्गत आर्थिक संगठनों में कृषि-कर्म को विशेष महत्ता प्रदान की गई है । दही, दूध तथा घी को जनसाधारण के खाद्य-पदार्थों में परिगणित करके पुराणकार ने पशु-पालन तथा समृद्धिशाली समाज को इंगित किया है । जीवन में बढ़ते हुए प्रतीपघात का महत्व, तथा गृहस्थजनों द्वारा दैनिक कार्यों में धार्मिक क्रियाओं को पूरा करने का निर्देश आलोचितपुराण काल की सामाजिक आर्थिक दशा का परिचय प्रस्तुत करता है ।

वामन पुराण के अनुसार भूमि की शुद्धि खोदने, जलाने, गोचारण तथा सींचने से होता है ।[4] वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों में निर्दिष्ट है कि प्रजाजनों की वृत्ति की स्थापना हेतु प्रजापति ब्रह्मा ने पृथ्वी का दोहन कर अन्न एवं बीज उत्पन्न किया था ।

वर्णाश्रम व्यवस्था में भी वृत्ति-व्यवस्था उपलब्ध है । पुराणों का निर्देश है कि यदि निष्ठा-सहित सभी वर्ण अपने धर्म अर्थात् कर्मों का निर्वाह करें तथा समाज को पारस्परिक सम्बन्धों से एक अविच्छिन्न इकाई के रूप में संयुक्त रखें, तब

---

1. वामनपुराण, 49/43.
2. वही, 49/41-42.
3. वही, 49/43.
4. "ततः स तासां वृत्त्यर्थं वार्तोपायमकारयत्।" वायुपुराण, 8/140-153 तथा ब्रह्माण्डपुराण, 2/7/140-151.

कृषि व्यवस्था निश्चितः सुव्यवस्थित बनी रहती है । आलोचित पुराण में ब्राह्मणों के लिए यज्ञादि, क्षत्रिय के लिए युद्ध, राज्य शासनादि, वैश्य के लिए व्यापार वाणिज्य एवं कृषि तथा शूद्रों के लिए सेवा आदि कर्मों का विधान किया गया है ।

कृषि-कर्म

मानव-संस्कृति में कृषि-कर्म की महत्ता पूर्व सिद्ध है । वामन पुराण के अनुसार राजा का कर्तव्य है कि वह क्षेत्र को महाफलदायी बनाने के लिए कृषि-कर्म को स्वयं व्यवस्थित करें । एक अन्य स्थल पर कृषि कर्म से उत्पन्न जीवन-शक्ति से विकसित होने वाले तप, सत्य, क्षमा, दया, शौच, दान, योग और ब्रह्मचर्य आदि धर्मों पर प्रकाश डाला गया है ।[1]

कृषि-कर्म की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए आलोचित पुराण में एक स्थल पर आख्यात है कि धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को उस राज्य क्षेत्र में रहना चाहिए जहाँ कृषक गण निवास करते हैं ।

पशुपालन

कृषि-कर्म के पश्चात् पशुपालन पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि पशुपालन मानव-संस्कृति का एक अंग रहा है । धार्मिक-क्रियाओं में अधिकतर पंचगव्य अर्थात् दूध, दधि, एवं घृतादि का प्रयोग उपलब्ध है जो गोपालन से ही सुलभ था ।[3] अश्वारोहण में अश्व का प्रयोग, सवारी तथा युद्धादि में अश्व की

---

1. वामनपुराण, 23.24.25.
2. वही, 14/55.
3. वही, 36/8-9.

महत्ता एक सुविदित तथ्य है । एक स्थल पर नदमें को भी वास्तु वस्तुओं में परि-गणित किया गया है ।[1]

मानव-संस्कृति का सौन्दर्य-शिल्प

वैदिक युग से ही भारतीय समाज में विभिन्न उपयोगी वस्तुओं के निर्माण एवं अनेक प्रकार के हस्तशिल्पों के प्रचलन का उल्लेख मिलता है । आलोचित पुराण में शिल्प तथा शिल्पी शब्दों से मानव की कला को प्रस्तुत किया गया है । पौराणिक व्यवस्था में शिल्प हस्तकला एवं हस्तनिर्मित उद्योगों की ओर संकेत करता है । उक्त पुराण में कर्मगृह, अन्नगृह, तथा अग्निशालादि शब्दों का प्रयोग तत्-कालीन समाज में परिचालित उद्योग एवं शिल्प केन्द्रों का संकेत माना जा सकता है ।[2] शिल्पी की दैवी उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए पुराणकार ने किसी सौति (अश्वज्ञान विशारद) को ऋषि शमीक एवं उनकी पत्नी शीला के तेज से उद्भूत बताया है जिसे इन्द्र ने अपना प्रधान सारथी नियुक्त किया था ।[3] तैत्तिरीय संहिता[4] में तक्षा, कुम्भकार, निषाद, रथकार तथा स्वर्णकारादि को शिल्पजीवी रूप में समाज में मर्यादित कहा गया है ।

आलोचित पुराण में विभिन्न प्रकार के शिल्पों का संकेत प्राप्त उपलब्ध है- यथा - भाण्ड-निर्माण[5], वस्त्र निर्माण[6], तैल-निर्माण[7] आदि ।

---

1. वामनपुराण, 64/85-86
2. वही, 15/10.
3. वही, 43/144.
4. तैत्तिरीयसंहिता, 4/5/4/2.
5. वामनपुराण, 15/7 "पुनः पाकेन भाण्डानां कुम्भकानां च मेदसा"
6. वही, 15/5 "सूक्ष्मवस्त्रादिनानां च सहस्राणां च मानतम् "
7. वही, 15/6.

देव संस्कृति

देव-संस्कृति अपने आप में बहुत ही व्यापक एवं विस्तृत है। सृष्टि के आदि काल से अब तक देवों और देवियों की संख्या प्रचुर रही है। वैदिक काल में संभवतया इनकी संख्या 3339 तक पहुँच गई थी। ब्राह्मण काल में कुछ नये देवताओं का समागम हुआ और पौराणिक काल में तो इनकी संख्याओं में बहुत ही तीव्रता से वृद्धि हुई है।

इन्द्र, अग्नि, विष्णु, रुद्र शक्ति सर्वाधिक देवता रहे हैं और जिन देवों को लेकर विभिन्न मत-मतान्तरों की स्थापना हुई है उनमें विष्णु, शिव और शक्ति का विशेष महत्व है।

साधारणतया 'देव' शब्द से उन सत्ताओं का अर्थ लिया जाता है जो अतिमानवीय हैं, मंगलमयी हैं, मानव द्वारा उपास्य हैं और जन्म-मरण के बन्धन से परे हैं। यही कारण है कि भूत-प्रेत आदि प्राणी अतिमानवीय शक्ति से पूर्ण और बहुत से व्यक्तियों द्वारा उपास्य होते हुए भी देव नहीं कहलाते। इनसे मानवों को न कोई लाभ होता है और न ही हानि होती है। इन्हें दुरात्मा या अपदेव (दानव) भी कहा जाता है।

देव शब्द के साथ देवी शब्द का भी प्रयोग होता है और इनका प्रयोग भी उसी अर्थ में होता है जिस अर्थ में देव का। भक्ति-साहित्य में देवी-स्वतन्त्र शक्ति के रूप में पूजित की जा गई हैं। यह विश्व और संसार की कारणभूता बताई गई हैं -

"विश्वेश वा जगन्मूर्तिस्त्वया सर्वमिदं ततम्"

आज हम देवों को अजन्मा और अमर मानते हैं। ऋग्वेद[1] में देवताओं

---

1. ऋग्., 10/53/10.

द्वारा अमरत्व को अर्जित करने का भी उल्लेख हुआ है । ब्राह्मण ग्रन्थों में भी देवों के घोर तप से अमरत्व प्राप्त करने का उल्लेख हुआ ।[1] पुराणों में ऐसा उल्लेख है कि जो राजा सौ अश्वमेध यज्ञ कर लेता था वही इन्द्र पद का अधिकारी हो जाता था, अतः स्पष्ट है कि देवत्व और देवाधिराजत्व श्रम से अर्जित पद था ।

देवता शक्तिशाली, समर्थ, दाता और उदार होते हैं । स्तोता की प्रार्थना पर वे उनके कष्टों का निवारण कर उन्हें सुख और शान्ति प्रदान करते हैं जैसा कि वामन पुराण में देवों की पराजय से दुःखी देवमाता अदिति और महर्षि कश्यप की प्रार्थना और तपस्या से प्रसन्न हो भगवान विष्णु का अदिति के गर्भ से वामन रूप में अवतरित हो कर दैत्य बलि की यज्ञशाला में प्रवेश कर उससे तीन पग भूमि की याचना पर सर्वस्व जीतकर पुनः इन्द्र को त्रैलोक्य प्रदान कर देवताओं को सुख प्रदान करने आदि वर्णित प्रसंग से स्पष्ट होता है ।[2]

केवल रुद्र देव इस नियम के अपवाद हैं । इनका क्रोध अत्यन्त भयंकर होता है जिसकी शान्ति हेतु कई स्थलों पर प्रार्थना की गई है । पर यह सब नैतिक नियमों की प्रतिरक्षा के उद्देश्य से किया जाता है किसी बुरे उद्देश्य से नहीं । भगवान विष्णु का चक्र तो दुष्टों के दमन और सज्जन की रक्षा हेतु मानो सदा ही आतुर रहता है । अन्य पौराणिक देवता भी भक्त-रक्षा के लिए सब कुछ करने को तैयार रहते हैं । जिस प्रकार मनुष्य परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हैं उसी प्रकार देवता भी । यदि वरुण देव सूर्य देव का मार्ग तैयार करते हैं तो, सूर्य देव मानवों के पापों के सम्बन्ध में मित्र और वरुण देव को सूचना देते हैं,

---

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/12/3.
2. वामनपुराण, सरोमाहा० 8/1- 10/85 तक, 65/66.

अग्निदेव इन्द्र की सहायता करते हो और इन्द्र देव अग्नि की जिह्वा से सोम का पान करते हैं । इस प्रकार ये देवता परस्पर मिल-जुलकर रहते हैं ।[1]

वास्तविकता तो यह है कि वैदिक एवं पौराणिक सभी देव पुण्यातिपुण्य कामों में मानवों की सहायता करते हैं । श्री कीथ महोदय का कथन है कि यह सत्य है कि बहुत से देवताओं का आह्वान साधारण से अवसरों पर भी किया गया है ।[2]

देवताओं का प्रिय पेय सोम है और बलि रूप से प्रदान किये गये दूध और अन्न आदि को भी ये सहर्ष ग्रहण करते हैं ।

देव संस्कृति की विशेषता

संस्कृत वाङ्मय में देव-संस्कृति का निरूपण प्राचीन काल से ही होता रहा है । देवताओं का वर्णन तो मुख्यतः वेदों एवं पुराणों में उपलब्ध है । वेदों में उन देवताओं का वर्णन हुआ है जो मुख्यतः प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक हैं, यथा-प्रकाश का सूर्य और अग्नि, जल का वरुण, वायु का मरुत आदि । मनुष्य आदि-काल से ही इन प्राकृतिक शक्तियों को देवों के रूप में पूजने लगा था । धीरे-धीरे इन शक्तियों की संख्या बढ़ती चली गई और वैदिक देव परिवार में इनकी संख्या 31 तक पहुँच गई ।[3] पुराण काल तक आते आते ये वैदिक देव देवता बन गये और मनुष्य द्वारा अति श्रद्धाभाव से पूजे जाने लगे । वामनपुराण में जिस देव-संस्कृति का निरूपण किया गया है वह अधिकांशतः पौराणिक देव परिवार की

---

1. रिलीजन ऑफ ऋग्वेद, पृ0 106.
2. वैदिक माइथोलॉजी, पृ0 57.
3. डा0 सम्पूर्णानन्द, हिन्दू देव परिवार का विकास, पृ0 92.

संस्कृति है । देव संस्कृति की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित बतायी गई हैं -

1. अलौकिक शक्ति सम्पन्नता ।
2. अनन्तैश्वर्य की प्राप्ति ।
3. भव्य एवं विशाल भवनों में निवास ।
4. संगीतप्रियता ।
5. अलंकारप्रियता ।
6. सोम एवं सुधापान में रुचि ।
7. यज्ञों में आस्था ।
8. आत्मवाद की प्रबलता ।
9. अमरता की भावना का प्रसार ।
10. विलासप्रियता ।[1]

आलोचित वामन पुराण में देव संस्कृति की उपर्युक्त विशेषताओं का निरूपण, बलि-वामन चरित, वर्णाश्रम धर्म-वर्णन, वामन की ब्रह्मलोक में पूजा, बलि यज्ञशाला, कामदेव का वर्णन प्रसंग, शिव-पार्वती विवाह-प्रसंग में शिव की विलास प्रियता आदि अनेक वर्णन-प्रसंग में उपलब्ध हैं । देव संस्कृति के ध्वंसावशेष इन्द्र चिन्तित होकर जब देवमाता अदिति महर्षि कश्यप के साथ विष्णु के समीप जाकर देव-सृष्टि के विनाश के कारणों पर विचार करते हैं, तभी देव-संस्कृति की विशेषतायें हमारे सम्मुख आती हैं । देव जाति इतनी शक्ति सम्पन्न थी कि प्रकृति उनके बन्धन में सदैव झुकी रहती थी और धरती देवताओं के चरणों से आक्रान्त होकर प्रतिदिन काँपती रहती थी ।[2] देवता नित्यविलासी होते थे और उनके

---

1. डा० द्वारिकाप्रसाद, कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृ० 308.
2. कामायनी, चिन्तासर्ग, पृ० 9.

सुर सदैव सुरा से सुरभित एवं प्रसन्न रहते हैं, तथा प्रेम अनुराग के आनन्द से भरे रहते थे ।

आलोचित पुराण में वर्णित शिव-पार्वती विवाह-प्रसंग के अन्तर्गत भगवान शिव का पार्वती के साथ क्रीड़ा[1] देवों की विलासप्रियता की ओर इंगित करती है ।

इसी प्रकार भगवान वामन की विराट् विश्वमय स्वरूप[2] देवों की अलौकिक शक्ति सम्पन्नता एवं अनन्त ऐश्वर्य को सूचित करता है ।

मनु ने अपने ग्रन्थ 'कामायनी' में जिन यज्ञों का विधान किया है उससे भी यही सिद्ध होता है कि यज्ञ में देवताओं द्वारा पशुओं की बलि दी जाती थी और सोमपान किया जाता था ।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि देव-संस्कृतियों में जिस स्वरूप का चित्रण हुआ है, वह मुख्यतः भोग-प्रधान ही था ।

दक्ष-यज्ञ[4] में प्रजापति दक्ष द्वारा विष्णु देव का आह्वान करके एवं अन्य अनेक देवताओं को आमन्त्रित कर यज्ञ का प्रारम्भ किये जाने से भी पौराणिक युग में देव-संस्कृति की महत्ता सिद्ध होती है ।

पौराणिक देव-संस्कृति में विष्णु का महत्व

पौराणिक आर्यों के सर्वाधिक प्रिय और श्रेष्ठ देव विष्णु माने गये हैं । स्तोता जिस समय इनकी स्तुति करता है तो लगता है मानो उन्होंने हृदय की

---

1. वामनपुराण, 27/37-38.
2. वही, सरो०मा०-10/48-64; 65/18-28.
3. कामायनी, कर्म सर्ग, पृ० 116.
4. वामनपुराण, अध्याय 4.

सम्पूर्ण भावुकता उड़ेल कर रख दी है । वैसे भी जितना स्पष्ट मूर्तिकरण इस देवता का हुआ है उतना अन्य किसी का नहीं । वामन पुराण में इन्हें सर्वलोकों के प्रभु, एवं सनातन आदि देव भी कहा गया है ।[1]

इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य असुर-विनाश है । ऋग्वेद में इन्हें सभी धनों का एक मात्र स्वामि बताया गया है -

"स हि विश्वानि पार्थिवा एको वसूनि पत्यते ।"

पौराणिक काल में भगवान विष्णु के विभिन्न रूपों में उपासना की गई है । वामन पुराण में उन्हें देवेश, सर्वेश एवं 'जगन्निवासक'[2] बताया गया । विष्णु पुराण के अनुसार इन्द्र ने अमरेशत्व की प्राप्ति हेतु सौ यज्ञों का अनुष्ठान कर देवेश विष्णु को परितुष्ट किया था ।[3] वामन पुराण के प्रारम्भिक श्लोकों में ही इन्द्र की तुलना में विष्णु को अधिक महत्त्वपूर्ण देव बताया गया है ।[4] इसी प्रकार दक्ष-यज्ञ के सन्दर्भ में आख्यात है कि दक्ष ने यज्ञ का कार्य विष्णु के शयनकाल बीत जाने पर तथा उनके जागृत होने पर इन्द्रादि देवों को निमंत्रित करके आरम्भ किया था ।[5]

आलोचित वामन पुराण में यह भी आख्यात है कि विष्णु की आराधना

---

1. बृहद्देवता 1/68.
2. वामनपुराण, 18/20-21, 63/7, 63/24 आदि ।
3. विष्णुपुराण, 5/17/7.
4. वामनपुराण, 1/1.
5. वही, 2/7-8.

हेतु इन्द्र ने महानदी के तट पर स्नान, भूमिशयन एवं एक समय भोजन करते हुए सर्वथा जितेन्द्रिय एवं ब्रह्म हत्या से हुए पाप मुक्ति हेतु एक वर्ष तक तपस्या किया था ।[1] इससे स्पष्ट है कि पौराणिक काल में ऋग्वैदिक देव इन्द्र, वरुण, मरुत् एवं अग्नि आदि की तुलना में विष्णु के व्यक्तित्व का विशेष उत्कर्ष हुआ ।

देव संस्कृति में रुद्र एवं विष्णु

भगवान रुद्र का वैदिक काल से ही महत्व रहा है । आचार्य सायण ने रुद्र की व्युत्पत्ति करते हुए बताया है कि जो सबको अन्त काल में रुलाता हो वही रुद्र है -

"रोदयति सर्वमन्तकाले इति रुद्रः ।"

वैदिक काल की अपेक्षा पौराणिक काल में रुद्र देव की महत्ता विष्णु के समतुल्य रही है और वे प्रमुख देवता के रूप में प्रतिष्ठित किये गये हैं । वायु पुराण में तो कहा गया है कि महेश्वर परम देवता हैं । विष्णु का स्थान महेश्वर के उपरान्त आता है ।[2] किन्तु कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहाँ शिव की अपेक्षा विष्णु को ही महान् माना गया है । उदाहरणार्थ - विष्णु पुराण में एक स्थल पर रुद्र को विष्णु का ही रूप मानते हुए कहा गया है कि इस रूप में वे जगत का संहार करते हैं ।[3]

---

1. वामनपुराण 50/19-22.
2. ईश्वरो हि परो देवो विष्णुस्तु महतः परः ।
   वायुपुराण, 5/20.
3. तन्मयं च सर्वभूतानि देवादीन्यविशेषतः ।
   भूत्वान्ते च सकलं तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥
   विष्णुपुराण 3/17/26.

आलोचित वामन पुराण में भी विष्णु एवं रुद्र की परमदेव रूप में प्रतिष्ठा एवं अन्य देव गणों की गौण स्थिति पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है । वामनपुराण के एक स्थल पर स्वयं विष्णु देव ने अन्य देवगणों में रुद्र (शिव) को श्रेष्ठ बताने का प्रयास किया है परन्तु देवगण रुद्र के प्रताप से उन्हें देख नहीं सके ।[1] आलोचित पुराण में शिव का विष्णु के शरीर में संयुक्त कर दोनों में सम-भाव को स्थापित करने का भी प्रयास किया गया है । इन्हें विश्व मूर्ति कहा गया है एवं स्वयं शिव अपने गणों से कहते हैं कि जो मैं हूँ वही भगवान विष्णु हैं ।[2] इस समभाव के होते हुए भी वामनपुराण विष्णु को रुद्र की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान करता है एवं विष्णु में ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवों को अन्तर्भावित मानता है ।[3]

देव-संस्कृति में अवतारवाद का महत्व

अवतारवाद का भी देव संस्कृति में विशेष महत्व रहा है । जब जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती रही है तब तब भगवान विष्णु, शिव आदि देव विभिन्न रूप में पृथ्वी पर अवतरित होकर अधर्म का विनाश और धर्म की स्थापना करते हैं ।

श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रमुख उद्देश्य को इन शब्दों में व्यक्त किया गया

---

1. वामनपुराण, 36/34-35.
2. वही, 36/28.
3. वही, 8/53.

है -

> यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय-साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे - युगे ॥[1]

अतः स्पष्ट है कि वामन पुराण में भगवान विष्णु का वामनावतरण एवं रामकथा में रामावतार का प्रयोजन भी उपरोक्त ही रहा होगा ।

'देवीशक्तियों' का उद्भव भी पौराणिक काल में विशेष रूप से हुआ है । आलोचित वामन पुराण में शक्ति के अनेक स्वरूपों को वर्णित करते हुए असुरहन्त्री रूप को विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है । एक स्थल पर वर्णित है कि महिषासुर की यातना से कुपित ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के मुख उत्पन्न तेज, जो कात्यायन ऋषि के आश्रम में एकत्र होकर महान् तेज पिण्ड बन गया था, वही पिण्ड महर्षि कात्यायन द्वारा संयुक्त होकर सहस्त्र सूर्य के सदृश जाज्वल्यमान तथा योग से विशुद्ध देह वाली कात्यायनी के रूप में आविर्भूत हुआ ।[2]

'स्तव-पाठ' का भी देव-संस्कृति में विशेष महत्व रहा है । प्रायः एक देवता दूसरे देवता की प्रशंसा हेतु स्तवों का पाठ किया करते थे । जैसा कि वामन पुराण में भगवान वामन के अवतीर्ण होने पर लोकपितामह ब्रह्मा द्वारा स्तुति ।[3] एवं देवों द्वारा कात्यायनी की स्तुति ।[4]

---

1. भगवद्गीता, 4/7/8.
2. वामनपुराण, 14/6-8.
3. वही, सरो०माहा० 9/17-31.
4. वही, 19/18-20.

आरम्भ में 'तपस्या' करके देव शक्तियों (शिव-ब्रह्मा आदि) से वरदान करते थे और फिर संसार का आधिपत्य प्राप्त करने के लिए देवताओं के साथ संघर्ष करते थे। यह क्रम प्रस्तुत आलोचित पुराण में स्पष्टतया मिलता है।

यद्यपि भारतीय धर्म के अनुयायी अध्यात्मवादियों ने 'देवासुर-संग्राम' की कथाओं को सात्त्विक और तामसिक शक्तियों का संघर्ष माना है परन्तु पुराणकारों ने इसको बड़े-बड़े उपाख्यानों का रूप देकर ऐसी रोचक कथाओं में उपगुंफित किया है कि श्रोतागण उन्हें बड़ी तल्लीनता से सुनकर उनसे धर्म की महत्ता और अधर्म के विनाश की शिक्षा को ग्रहण करते हैं।

प्रायः दैत्यों का निवास स्थान 'पाताललोक' बताया गया है - लेकिन किसी समय यहाँ के निवासी समुद्र पार मेसोपोटामिया आदि प्रदेशों को 'पाताल लोक' की तरह मानते थे जिससे वहाँ के रहने वालों को भी असुर कहा जाता था। ये असुरगण समय समय पर भारतवर्ष पर आक्रमण करके अपना राज्य स्थापित करने की चेष्टा किया करते थे, पर कुछ समय पश्चात् पराजित होकर उन्हें पुनः अपने मूल-देश पाताललोक को लौट जाना पड़ा। इस प्रकार की घटनाओं में सबसे अन्तिम घटना राजा बलि की हुई जिसको 'वामनदेव' ने पराभूत करके स्थाई रूप से 'पाताललोक' में निवास करने का आदेश दिया।[1]

आलोचित पुराण में शुम्भ-निशुम्भ[2], चण्ड-मुण्ड[3], महिषासुर[4], तारक[5],

---

1. वामनपुराण, 65/54.
2. वही, 29/11-30/54.
3. वही, 29/49-81.
4. वही, 20/2-21/49.
5. वही, 32/64-83.

मुर[1], अन्धक[2] आदि अनेक असुर वीरों के आख्यान समन्वित है और इन सबका सम्पर्क - 'बलि-वामन'[3] उपाख्यान से इस आधार पर जोड़ा गया है कि राजा बलि जिस दैत्यवंश का सम्राट था, वे समस्त असुर-गण उसके पूर्वज थे । महिषासुर, शुम्भ निशुम्भ आदि उपाख्यानों का वर्णन 'दुर्गा-सप्तशती' एवं 'देवी-भागवत' में भी बहुत विस्तार से किया गया है । इसी प्रकार अन्य अनेक ग्रंथों में इनका वर्णन कहीं संक्षेप और कहीं विस्तार के साथ किया गया है, पर सभी जगह यही दर्शाया गया है कि जब कोई नृपति अथवा अधिपति अहंकारयुक्त अथवा अनीति पर उतारू हो जाता है तो उसका पतन अवश्यम्भावी होता है ।

दैत्यों का जो वर्णन पुराणों में किया गया है, उससे वे राक्षस अथवा रक्त पिपासु नहीं जान पड़ते, वरन् पुराणकारों ने उनके नगरों, महलों और रहन-सहन का जो वर्णन किया है उससे वे ऊँचे दर्जे के शासक, कलाप्रेमी और कुलीन मनुष्य प्रतीत होते हैं ।

वे लोग समुद्र में नौका चलाने में निपुण थे, इसीलिए दूर दूर जाकर अपनी शक्ति से धनसम्पत्ति को एकत्र करके लाते थे । अगर उनमें कोई दोष था तो यही कि उन्हें अपनी शक्ति और सत्ता का अहंकार बहुत जल्दी हो जाता था जिससे वे दूसरों के अधिकार को हस्तक्षेप करके सर्वोच्च पदवी प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगते थे । इसी कारण आर्य जाति के प्रमुख (देवताओं) से उनका संघर्ष हो जाता था और अन्त में भगवान विष्णु अथवा इन्द्र द्वारा उनको पराभूत किया जाता ।

---

1. वामनपुराण, 34/30-62, एवं 35/72-76.
2. वही, 37/2-3, 37/4-19, 40/20-64, 42/1, 43/82-94, 44/1-23, 44/44,73.
3. वही, सरो०माहा० अध्याय 2-10, 59-73.

इससे हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि दैत्य, असुर अथवा राक्षसों को किसी एक जाति का मानना आवश्यक नहीं है । वरन् पुराणकारों की दृष्टि से तो जो लोग धर्म के विरुद्ध आचरण करते थे अथवा वैदिक कर्मकाण्ड के विरोधी होते थे उन सबको दैत्य समूह में गिना जाता था । 'कल्किपुराण' में इसी कारण बौद्ध, जैन आदि सभी अवैदिक सम्प्रदाय वालों को दैत्यों के रूप में चित्रित किया गया है । अतः हम यह भी कह सकते हैं कि जो लोग सात्विक प्रवृत्तियों को त्याग कर राजसी और तामसी प्रवृत्तियों में संलग्न रहते हैं वे दैत्य अथवा असुर ही हैं । क्योंकि तामस प्रवृत्तियाँ हर हालत में व्यक्ति और समाज के लिए घातकारी होती हैं ।

इस दृष्टि से असुरों और देवताओं के युद्ध को हम सिद्धान्तयुद्ध भी कह सकते हैं, चाहे उनमें वास्तविकता का अंश अत्यल्प ही क्यों न हो अथवा उसकी घटनाओं का आधार कल्पना प्रसूत ही क्यों न हो ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देव एवं दानव संस्कृति का मूल आधार प्रवृत्तियों का उत्थानोन्मुख और पतनोन्मुख होना था ।

पौराणिक वाङ्मय में दोनों संस्कृतियों के संघर्ष का ही चित्रण नहीं है बल्कि उनके पारस्परिक स्नेह सम्बन्ध एवं सहयोग का भी चित्रण मिलता है । समुद्र में छिपे रत्नों को उबारने के लिए देवताओं और दानवों ने एकजुट होकर ही सागर मन्थन किया था । देवराज इन्द्र ने पुलोमा राक्षस की कन्या पौलोमी को अपनी महिषी बनाया था । इसी प्रकार देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कच ने दैत्य-गुरु शुक्राचार्य के सान्निध्य में रहकर संजीवनी-विद्या सीखी थी । मानव संस्कृति के साथ भी देव तथा दानव संस्कृति के सम्पर्क के दृष्टान्त प्राप्त होते हैं । दैत्य-राज वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा से चन्द्रवंशी सम्राट ययाति ने विवाह किया था।

इस प्रकार पौराणिक आख्यानों में हम तीनों ही संस्कृतियों के मंजुल समन्वय का उदात्त रूप देखते हैं ।

यदि दैत्यवंश में वृत्र, प्रह्लाद, बलि, और बाणासुर सरीखे देवप्रकार विद्यमान थे तो देवताओं में भी कुछ दैत्य तामसी प्रवृत्ति के विद्यमान थे । अतः यह निश्चित है कि देवत्व और दानवत्व वंशानुक्रम पर उतना आधारित नहीं था जितना कि वैयक्तिक गुणों के विकास अथवा ह्रास पर ।

मानव संस्कृति के मूल निर्धारक तत्व

व्यापक मानव-संस्कृति में जिस अनेकता का आधान किया जाता है, उसका कारण परिस्थितियों की भिन्नता है जो समष्टि रूप सनातन संस्कृति को देश-काल की सीमाओं में आबद्ध करती है । भूमि-जलवायु भौगोलिक-परिस्थितियाँ, आचार-विचार, वेश-भूषा, भाषा-साहित्य एवं परम्परायें आदि ऐसे उपादान हैं जो मानव संस्कृत को विकास की ओर ले जाते हैं । इन तत्वों के अतिरिक्त कुछ अन्य मूल निर्धारक तत्व भी हैं जो हमारी संस्कृति को विशेष रूप से विकसित करने में सहायक सिद्ध होती हैं -

1. सनातनता

अपने मूलभूत आदर्शों के कारण ही हमारी मानव-(भारतीय) संस्कृत विश्व में विशिष्ट एवं सनातन कहलाती है । इसकी महान् आदर्शों एवं उदारता की चरम पराकाष्ठा मानव को सदैव दीयताम् (दो) दयाताम् (दया करो), दम्यताम् (इन्द्रिय-निग्रह) का सन्देश सुनाया करती है जो मानव को कल्याण एवं उत्थान के मार्ग की ओर अग्रसित करती है । इसका उत्कृष्ट उदाहरण, आलोचित पुराण में

भगवान वामन की दयालुता, राजा बलि की दानशीलता एवं महात्मा प्रह्लाद द्वारा इन्द्रिय-निग्रह प्रसंग पूर्णतः स्पष्ट है ।

पराजित देवताओं के हितार्थ भगवान विष्णु का वामन रूप में अवतरित होना और छद्मवेष से बलि का सर्वस्व जीतकर देवराज इन्द्र को स्वर्गलोक प्रदान करना आदि प्रसंग भगवान का देवों के प्रति विशेष कृपा की ओर संकेत करता है ।

2. दानशीलता

समर्थ एवं समृद्ध मानवों में दान कार्य की अनिवार्यतः को बतलाते हुए आलोचित पुराण में राजा बलि के दानशील गुणों पर प्रकाश डाला गया है । राजा का कोश सदैव समृद्धिशाली होना चाहिए जिससे याचक को कभी भी खाली हाथ न लौटना पड़े ।[1] इसके लिए राजा अपने प्राण तक को देकर याचक को संतुष्ट करता था ।[2] वीर पुरुषों के लिए दान से आपत्ति का समागम होना श्लाघ्य बताया गया है तथा जो दान बाधाकारी नहीं होता है वह निस्सन्देह श्रेष्ठतर माना गया है ।[3] दानी राजा के राज्य में दयालुता की नीति के फलस्वरूप प्रजाजन असुखी, दरिद्र, आतुर, दुखित, उद्विग्न एवं तामादि गुणों से हीन नहीं रहते, ऐसा पुराणकारों का विश्वास था ।[4]

---

1. वामनपुराण, सरोमहा0, 10/17.
2. 'प्राणत्यागं करिष्ये हं तु नास्ति जने क्वचित्'। वही, 10/21.
3. वही, 10/23.
4. वही, 10/24,25.

आत्मसंयम

समत्व, संयम और व्याधिव्यसन रहित राजा अपने साथ-साथ सामाजिक प्रगति की प्राप्ति करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन का समत्व-योगी[1] बनने की सलाह दी थी क्योंकि समबुद्धि राजा सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा जय-पराजय में स्थिर बुद्धि रखता है। गरुड़पुराण में उल्लिखित है कि योग से राजा व्याधियों से अबाधित रहता है।[2] अतः राजा को भोग-विलास का यथा सम्भव परित्याग करना चाहिए।[3] तभी शत्रुओं पर विजय स्थापित की जा सकती है।[4] आलोचित पुराण में योग्य राजा को गुणों में शुद्ध बुद्धि, आत्मवान, यज्ञकर्ता, तपस्वी, मृदु स्वाभावयुक्त, सत्यवादी, दाता, भरणकर्ता, स्वजन-रक्षक तथा पराक्रम आदि का होना आवश्यक बताया गया है। इस राज्य में निवसित प्रजाजनों में धर्मपरायणता, आत्मनियंत्रण एवं काम की प्राप्ति होती है।[5]

अध्यात्मभावना

सम्पूर्ण मानव संस्कृति में अध्यात्म भावना का प्राधान्य रहा है। धर्म एवं ईश्वर में श्रद्धा एवं निष्ठा युक्त यह आध्यात्मिक भावना भारतीय संस्कृति में इतनी

---

1. "योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
   सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥"
   -श्रीमद्भगवद्गीता, शंकरभाष्य, 2/48.
2. "स राजा वर्द्धते योगाद्व्याधिभिश्च न बाध्यते।" गरुड़पुराण, 1/111/5.
3. "लीला सुखानि भोग्यानि त्यजेदिह महीपतिः" वही, 1/111/30.
4. "सुख प्रवृत्तैः साध्यन्ते शत्रवो विग्रहे स्थितैः" वही, 1/111/31.

5. वामनपुराण, 49/43, 51, 52.

घनिष्ठ है कि मानव-जीवन का सम्पूर्ण क्षेत्र इससे ओत-प्रोत है । तैत्तिरीय उपनिषद् में इसकी महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है -

> 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
> येन जातानि जीवन्ति ।
> यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति ।
> तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ।।'[1]

अर्थात् निश्चय ही ये सब प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीवित रहते हैं, अन्त में जिसको प्राप्त कर उसमें लीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है ।

आलोचित पुराण में बलि-पितामह-प्रह्लाद का चरित्र जो कि अध्यात्म भावना से सर्वथा ओत-प्रोत है इसका उत्कृष्टतम उदाहरण माना गया है । अध्यात्म योग द्वारा ही प्रह्लाद ने भगवान वामन के स्वरूप का चिन्तन कर, बलि को भगवान के आगमन का कारण बतलाते हैं ।

<u>त्याग और तपस्या की भावना</u>

अध्यात्म भावना से जुड़ी हुई त्याग और तपस्या की भावना है । यह भी जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण का परिणाम है । ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि -

> ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत् ।
> तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

---

1. तैत्तिरीय उपनिषद् 3/1.

अर्थात् 'यह गतिशील विश्व जो जड़-चेतन रूप है, ईश्वर नामक शक्ति के द्वारा नियन्त्रित है । जो कुछ तुम्हें प्राप्त है, उसका त्यागपूर्ण उपभोग करो । किसी दूसरे धन की पदार्थों की लिप्सा न करो ।'

आलोचित पुराण में भगवान वामन की याचना पर राजा बलि का त्याग एवं देवहितार्थ अदिति की तपस्या भारतीय संस्कृति में त्याग एवं तपस्यामूलक भावना को दृढ़ बनाती है ।

आलोचित पुराण में वर्णित आश्रमों में विभाजित भारतीय मानव जीवन भी त्याग और तपस्या का आदर्श प्रस्तुत करता है । ब्रह्मचर्य में त्याग और तप, गृहस्थ में दान और संयम, वानप्रस्थ में त्याग और तप का अभ्यास तथा संन्यास में सर्वत्याग की भावना निहित है । अर्थ-संचयन भी त्याग के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है । राजा बलि का अर्थ के साथ-साथ सर्वस्व त्याग एवं पाताल में निवास इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि त्याग की भावना मानव संस्कृति को सदैव उत्थान की ओर ले जाती है, इसमें संशय नहीं है ।

धर्म

धर्म वह आधार है जिस पर हमारी सृष्टि टिकी हुई है । धर्म[1] वह शक्ति है, जो धारण करती है । धार्मिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है । मानव संस्कृति सदा से धर्मप्राण रहा है । धर्म को पुरुषार्थ माना गया है । आलोचित पुराण में अहिंसादि कृ त्रयोदश अंग वाले धर्म के अनुष्ठान का विधान विवृत है । आलोचितपुराण में स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यजन, अकार्पण्य, दया, अहिंसा, क्षमा, दम, जितेन्द्रियता, शौच,

---

1. जैन दर्शन के अनुसार वस्तु का स्वभाव ही धर्म है ।

एवं विष्णु, शंकर, भास्कर आदि देवों में भक्ति को मानवों का धर्म बताया गया है ।[1]

धर्म के साथ तीन पुरुषार्थों और भी हैं, अर्थ, काम और मोक्ष, किन्तु इनमें भी धर्म तत्व अनुस्यूत है ।

आलोचित पुराण में पुरुषार्थ के महत्व को दर्शाते हुए कहा गया है कि - मनुष्य को सदैव ऐसे पुरुषार्थ को निःशंक होकर करना चाहिए जिसको करने से उसकी आत्मा निन्दित न हो, एवं जो महापुरुषों से छिपाने योग्य न हो । ऐसे सदाचारी पुरुषों के गृहस्थ होने पर भी धर्म अर्थ जैसे उत्तम पुरुषार्थ की यथेष्ट प्राप्ति होती है और व्यक्ति इहलोक एवं परलोक में सुखी होता है ।[2] यथा - आलोचित पुराण में एक स्थल पर विवृत्त है कि त्रैलोक्य राज्य की प्राप्ति के बाद राजा बलि अपने कुल-पूज्य भक्त प्रह्लाद से पुरुषार्थ चतुष्टय के सम्यक् ज्ञान-प्राप्ति हेतु श्रेष्ठ आचरणों का निर्देश प्राप्त करता है ।[3]

इस प्रकार चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति ही मानव-जीवन का लक्ष्य रहा है। मनुष्य को धर्म का पालन करते हुए अर्थोपार्जन एवं कामोपभोग का निर्देश दिया गया है, तदनन्तर मोक्ष की प्राप्ति को मानव जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है । धर्म रहित प्रत्येक काम और अर्थोपार्जन को भारतीय संस्कृति में हेय माना गया है ।

<u>कर्मवाद</u>

कर्मवाद जीवन के लिए अमूल्य है, क्योंकि यह मानव को अविष्य की आशा

---

1. वामनपुराण, 11/23.
2. वही, 15/53-54.
3. वामनपुराण, 48/56-57.

एवं भूत की विस्मृति में विश्वास दिलाता है । जीव की विभिन्न योनियाँ उसके कर्मों के अनुसार ही मिलती है । आलोचित पुराण में निरूपित है कि मानव की आध्यात्मिक चेतना का विकास, नैतिक आचरणों में निष्ठा, धार्मिक अनुष्ठानों का पालन स्वधर्म का सम्यक् पालन, आदि कर्मयोग से ही सम्भव है ।[1] इसके अन्तर्गत अहिंसादि त्रयोदश धर्मों[2] का समावेश बतलाते हुए सत्याराधना को प्रधानतम माना गया है ।[3] व्रतोपवास की अवधारणा को प्रस्तुत करके पुराणकार ने कर्मवाद के सिद्धान्त को आचरण में उतारने का सफल प्रयास किया है ।[4] मानसिक शान्ति एवं क्रियात्मकता में वृद्धि कर्मयोग द्वारा ही सम्भव बताया गया है ।[5]

वर्णाश्रम व्यवस्था

भारतीय संस्कृति में वर्ण और आश्रम की व्यवस्था विशेष बल दिया गया है । समाज की सुचारु रूप से विकास के लिए वर्ण-व्यवस्था का विधान किया गया है । समाज के चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) में विभाजित कर उनके आचरण एवं कर्म नियत किये गये । वर्ण-व्यवस्था मनुष्य के गुण और कर्म पर आधारित था, जन्म पर नहीं ।

वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित वामन पुराण कालीन समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी अपने धर्म के अनुसार, अपने अपने कर्तव्यों के सम्पादन

---

1. वामनपुराण, 15/48, सरो०मा० 26/116, 14/1-2.
2. वही, 16/2-5.
3. वही, 12/46.
4. वही, 48/48, 49/13-14, सरो०मा० 22/81.
5. वही, 28/7, 35/1-28, 14/15-44.

में संलग्न थे । ब्राह्मण वर्ग समाज में ज्ञान का वितरण करते थे, क्षत्रिय उसकी रक्षा करते थे, वैश्य कृषि-गोरक्षा एवं व्यापार द्वारा समाज को समृद्ध बनाते थे तथा शूद्र इन तीनों वर्णों की यथोचित सेवा किया करते थे ।

आश्रम व्यवस्था का लक्ष्य व्यक्ति के जीवन को उन्नत करके समाज का कल्याण करना था । यह तत्कालीन समाज की धुरी थी । समाज चार आश्रमों-ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम में विभक्त था । इस व्यवस्था से समाज में सुख, सन्तोष एवं शान्ति की अभिवृद्धि होती थी तथा पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति में भी यह व्यवस्था महत्वपूर्ण थी ।

गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाते हुए अन्य आश्रमों को इसी आश्रम पर आधारित होने का निर्देश किया गया है ।[1] गृहस्थाश्रम में वाणी संयम, और वासना-विकार को सीमित करने तथा प्रेम और सहयोग आदि गुणों की शिक्षा प्रदान की गई है । वानप्रस्थ में समस्त इच्छाओं का दमन एवं भोग-विरक्ति के अभ्यास को निर्दिष्ट किया गया है तथा संन्यास में इन्द्रिय निग्रह द्वारा सत् की प्राप्ति को बतलाया गया है ।

संस्कार

मानव-संस्कृति में संस्कारों का विशेष महत्व रहा है । समाज के मूल्यों आदर्शों प्रतिमानों एवं उनकी धारणाओं की रक्षा की दृष्टि से संस्कारों के महत्व को विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया है । संस्कार व्यक्तियों को अनुशासित एवं दीक्षित करने के सफल एवं सशक्त माध्यम है ।

---

1. वामनपुराण 15/55.

आलोचित पुराण में षोडश संस्कार के विशेष महत्व को प्रतिपादित करते हुए कुछ संस्कारों का यथातथ्य वर्णन प्रस्तुत किया गया है यथा - जातकर्म[1], चूड़ाकरण[2], नामकरण[3], उपनयन[4], विवाह[5], अन्त्येष्टि[6] आदि संस्कार ।

समन्वय की भावना

अनेकता में एकता को खोजना आर्यजन का प्रमुख सिद्धान्त रहा है, यही कारण है कि मानव संस्कृति में समन्वय की भावना पर विशेष बल दिया गया है । वैष्णव धर्म में तैंतीस करोड़ देवता हैं किन्तु उनमें आपस में कहीं कोई भेद नहीं है - जो कि सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति' ।सब देवताओं को किया हुआ नमस्कार केशव को प्राप्त होता है। से स्पष्ट लक्षित है । इस प्रकार देवताओं के अवतारवाद के मूल में समन्वय की यह भावना पूर्णतया विकसित रही है । आलोचित पुराण में भगवान विष्णु एवं शिव में परस्पर समन्वय को स्थापित करते हुए बताया गया है कि - मुक्ति की कामना करने वाले व्यक्ति को विष्णु एवं शिव को एक रूप मानकर अर्चना करनी चाहिए ।[7] आलोचित पुराण में भगवान विष्णु द्वारा हृदय में सदैव शिवलिंग धारण कर शिव को परमदेव के रूप में स्मरण कर अन्यान्य देवताओं द्वारा

---

1. वामनपुराण, 23/1-2.
2. वही, 23/2.
3. वही, 23/1-2.
4. वही, 23/2.
5. वही, 14/11.
6. वही, 15/42.
7. वही, 14/22.

उपास्य देव के रूप में घोषित करने का जो विवरण है वह भी मानव को देवों के प्रति परस्पर समन्वयात्मकता का प्रतिभासित करता है ।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारतीय (मानव) संस्कृति ही वामन पुराण कालीन समाज का प्राणाधार रहा है ।

---:0:---

---

1. वामनपुराण, 36/3-5.

पंचम अध्याय

धर्म एवं दर्शन - विवेचन

पौराणिक धर्म एवं दर्शन धर्म का स्वरूप

धर्म की परिधि अत्यन्त विशाल है । इसके आदर्श, सृष्टि के आदि तत्त्व ब्रह्म से लेकर संसार की साधारण वस्तुओं और प्रवृत्तियों से अनुबद्ध है । देवताओं के वैदिक अथवा पौराणिक चरित को आदर्श मानकर अपने व्यक्तित्व को दिव्य साँचे में ढालने का उत्साह धर्म की एक अद्भुत देन रही है । व्यक्ति के परस्पर कलह से मानव के धार्मिक जीवन में उत्पन्न हुई संकीर्णता को दूर करने का मुख्य श्रेय पुराण-धर्म को ही रहा है । पुराणों के विभिन्न आख्यानों का यही उद्देश्य रहा है कि सभी प्राणियों में सत्यकामिनी सद्बुद्धि का विकास हो तथा वासनापरक पशु-बुद्धि का ह्रास हो । इस प्रकार धर्म से परिप्लावित हमारे देश में ही धीरे-धीरे धर्म का विकास हुआ, जिसका प्रधान धार्मिक कर्म था - 'मनुष्य के मन में विवेक को उत्पन्न कर उसे सत्यगामी बनाना ।'

पुराण ऐसे ही सत्पुरुषों के अनुभूत जीवन दर्शन को समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है, जिससे सभी स्वधर्म का पालन करते रहें । धर्म ही अपवर्ग की प्राप्ति का साधन है ; जिसका पालन करते रहना मानवमात्र का धर्म कर्तव्य है । धर्म की प्राप्ति श्रद्धा से होती है न कि धनराशि से । इस प्रकार प्राचीन चिन्तकों ने मनुष्य के समक्ष सत्कार्य में मनुष्य बनने का आदर्श प्रस्तुत कर उसे पशुता में विलीन हो जाने से बचाया है ।

मानवजीवन के दो मुख्य उद्देश्य हैं - अभ्युदय (भुक्ति) और निःश्रेयस (मुक्ति) । यह पवित्र भारत भूमि स्वनामधन्य के पर्वों का अनन्य क्षेत्र है । यहाँ मनुष्य सुकृति और स्वधर्म से ही मानुषत्व को प्राप्त कर देवत्व की प्राप्ति हेतु साधना करता है । अपनी विवेक बुद्धि और सात्त्विक दृष्टि द्वारा मनुष्य संसार के भोग्य पदार्थों की क्षणभंगुरता एवं मानव शरीर की अस्थिरता का ज्ञान प्राप्त करता है । जो मनुष्य केवल उदर-भरण में ही लगा रहता है उसे पशु तुल्य समझा

जाता है । अतः मानव-जीवन का उद्देश्य साधारण स्तर से ऊपर उच्च और उदार माना गया है ।

इसी कारण प्राचीन भारतीय जीवन में धर्म का विशेष महत्व रहा है । संसार-चक्र में चक्र के समान घूमते हुए प्रत्येक संसारी जीव को अंतिम मुक्ति की परम श्रेयस्कर अभिलाषा रहती है । यही मुक्ति या मोक्ष कहलाती है जिसकी प्राप्ति धर्म से होती है । इसके विपरीत धर्म से निवृत्ति अथवा वैराग्य ही अज्ञान है । धर्म से ही सुख और ज्ञान प्राप्त होता है तथा ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है जैसा कि गरुड़ पुराण[1] के एक श्लोक से स्पष्ट है ।

इस प्रकार मानव-चित्तवृत्तियों और चेष्टाओं का विवेचन कर, ऋषि-महात्माओं ने पुरुषार्थ चतुष्टय - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्रतिष्ठा की ।

लोक जीवन के चार मार्ग कहे गये हैं यथा - धर्ममार्ग, अर्थमार्ग, काममार्ग और मोक्षमार्ग । मोक्षमार्ग का सम्बन्ध धर्म से होता है अतः धर्म ही लोक-कल्याण और लोक मर्यादा की नियामक शक्ति है जिसके आश्रय से मनुष्य लौकिक और पारलौकिक सुख को प्राप्त करता है ।

प्राचीन भारतीय विचार पद्धति के अनुसार धर्म का मूल वेद है । वैदिक धर्म के भी मुख्य अंग कर्मकाण्ड और ज्ञान-मार्ग प्रचलित थे । किन्तु जैसे जैसे पुराणों का युग आया वैसे वैसे वैदिक धर्म को पौराणिक धर्म ने आत्मसात कर देवार्चन का

---

1. संसारोच्छित्तिहेतुश्च धर्मादेव प्रवर्तते ।
   धर्मात् सुखं ज्ञानान्मोक्षो विधीयते ।।

   गरुड़पुराण, 1/205/9.

स्वरूप दे दिया और देवोपासना में ही समस्त कर्म और ज्ञान का समावेश हो गया । पौराणिक धर्म ने देव-पूजा पद्धति को भक्ति की आधार शिला पर प्रतिष्ठित कर समाज के सभी वर्णों और वर्गों को अपनी ओर आकृष्ट किया तथा भक्ति के आधार पर ही शूद्र, निषाद और द्विजातियों में समता की प्रतिष्ठा की ।[1]

वामन पुराण में धर्म का अनुष्ठान एवं मान्यता

वामन पुराण यद्यपि अन्य महापुराणों की तुलना में संक्षिप्त रहा है तथापि धर्म-दर्शन एवं अन्यान्य विषय-वस्तुओं के सम्यक् समावेश से यह प्रस्तुत पुराण विशेष उल्लेखनीय है । इसमें हिन्दू धर्म की वास्तविक प्रकृति एवं उसकी निरन्तर विकासोन्मुखी प्रवृत्ति का यथेष्ट परिचय देने के साथ-साथ धर्म के व्यापक स्वरूप को उद्घाटित किया गया है ।

नारदीय पुराण में एक स्थल पर वामन पुराण की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि इसमें शाश्वत हिन्दू धर्म एवं दर्शन को साम्प्रदायिक भेद-भावना से ऊपर उठाकर प्रकाशित किया गया है ।[2]

वामन पुराण में धर्म के किसी नये स्वरूप को प्रस्तावित तो नहीं किया गया है परन्तु वेद सम्मत धार्मिक अवधारणा को समय के लम्बे प्रवाह में विकसित

---

1. वाराहपुराण, 5/16.
2. नारदीय पुराण, 1/105/14-17.
द्रष्टव्य आर०सी० हाजरा-स्टडीज इन दि पुराणाज़, भाग 1, पृ0 377, पाद टिप्पणी।

मानव-समाज की चेतना के अनुरूप प्रस्तुत करने का प्रयास अवश्य किया गया है ।[1]

आलोचित पुराण में वैदिक धर्म को परिष्कृत एवं परिवर्तित परिस्थि-तियों में परिवर्द्धित करने की स्तुत्य चेष्टा की गई है ।[2] इस पुराण की इसी विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए ही नारदपुराण ने इसे विशिष्ट महा-पुराणों की कोटि के अन्तर्गत स्वीकार किया है ।[3]

सदाचरण-परायणता

प्रायः पुराणों में धर्म को नैतिक आचरणों से संयुक्त करने का उपदेश दिया गया है ।[4] वामन-पुराण में भी अनेक स्थलों पर सात्विक वृत्ति के ग्रहण एवं सदाचरण के अनुपालन को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य प्रतिपादित किया गया है ।[5] नैतिक आचरणों के अनुपालन से मन, मस्तिष्क एवं शरीर की शुद्धि के साथ साथ पापकर्मों से भी मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है ।[6]

---

1. वामनपुराण, 16/4, 34/19, 40/39.
2. द्रष्टव्य, पुराणम्-पत्रिका-भाग-12, फरवरी अंक-1970, पृ0 83.
3. नारदीय पुराण, 1/105/17.
4. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रैलिजन एण्ड एथिक्स, भाग 10, पृ0 453 में पार्जिटर द्वारा प्रस्तुत लेख - 'दि पुराणाज़' ।
5. वामन पुराण - अध्याय 50 एवं 51, भागवतपुराण, 7/11/5-12, 11/4/6.
6. वही, 14/17.

सदाचार से इस लोक में प्रसन्नता एवं सुख-शान्ति प्राप्त होने के साथ ही साथ परलोक में भी शान्ति प्राप्त की जा सकती है ।[1] क्योंकि ऐसा आचरण करने वाले पुरुष, गृहस्थ होने पर ही धर्म, अर्थ एवं काम की सम्यक् प्राप्ति के साथ ही परलोक में भी कल्याण प्राप्त करने का अधिकारी होता है ।[2]

सदाचरण परायण व्यक्ति पाप एवं पुण्य, सुकृत एवं दुष्कृत कर्मों से मुक्ति प्राप्त कर पुनः जन्म नहीं लेता एवं उसके कर्मों का पूर्णतः क्षय भी हो जाता है ।[3] पुराणकारों ने अनेक स्थलों पर वैदिक धर्म अथवा ईश्वरीय शक्ति की अवज्ञा से होने वाले भयंकर पापों की ओर संकेत करते हुए प्रस्तावित किया है कि पाप-कर्म से बचकर सदाचरण परायण होना कठिन साधना है ।[4] इसमें नरकों की यातना तथा जीवन में विविध प्रकार के कष्टों की सम्प्राप्ति का उल्लेख धर्मच्युति से होने वाले परिणाम कहे गये हैं ।[5] नैमित्तिक कर्मों का निरन्तर पालन करते हुए ईश्वर में दृढ़ आस्था रखकर आत्मज्ञानी होना मोक्षदायक बताया गया है ।[6] मानसिक शुद्धता[7] के बिना कोई भी मनुष्य धर्म एवं सदाचार-परायण हो ही नहीं सकता, अतः इसकी सम्प्राप्ति हेतु शास्त्रविहित कर्मों का सम्यक् अनुपालन एवं धर्मव्रती व्यक्तियों की संगति को अपेक्षित बताया गया है ।[8]

---

1. वामनपुराण, 14/15-16, 49/48-52.
2. वही, 15/54.
3. वही, 59/76-77, 67/48-56.
4. वही, 64/19-115, 18/64-66.
5. वही, 35/1-19.
6. वही, 22/79; 51/46-48; 53/27-28; 64/18, 107, 110.
7. वही, 59/19;
8. वही, सरो0मा0 59/116.

भक्ति

पौराणिक धर्म में भक्ति को प्रधान अंग बतलाया गया है। इसके तीन प्रकार हैं - 1. मानसी, 2. वाचकी एवं 3. कायकी भक्ति। ध्यान-धारणा-पूर्वक वेदार्थ का चिन्तन करना मानस भक्ति है, मन्त्र-जप, वेद-पाठ आदि वाचिक भक्ति एवं व्रतोपवास आदि कायिक भक्तिकहलाती है। इसके अतिरिक्त भक्ति के अन्य तीन स्वरूप भी हैं -

1. लौकिक, 2 वैदिकी एवं 3. आध्यात्मिकी।

घृत-दुग्ध, रत्न, दीप, चंदन, माला, धूप, नृत्य-संगीत, वाद्य एवं भोजनादि से पूजा करना लौकिक भक्ति कही जाती है। वैदिक मन्त्रों का जाप, एवं वेदादि का अध्ययन वैदिकी भक्ति है तथा आध्यात्मिक भक्ति दो प्रकार की है -

1. सांख्यजा - प्रकृति-पुरुषादि का विवेचन।
2. योगजा - योगाभ्यास का निरन्तर ध्यान।[1]

उद्देश्य की दृष्टि से भक्ति के पुनः तीन प्रकार हैं -

1. सात्त्विकी, 2. राजसी एवं 3. तामसी।[2]

सात्त्विकी भक्ति, मोक्ष प्रदायिनी होती है, राजसी भक्ति विषयसिद्धि को प्रभावित करती है एवं तामसी भक्ति अहंकार, आडम्बर एवं ईर्ष्या को उत्पन्न

---

1. पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्याय, 15.
2. वही, उत्तरखण्ड, अध्याय, 126.

करने वाली होती है ।

आलोचित पुराण में इस तथ्य को स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि अनन्यमन से भगवान विष्णु की भक्ति करने वाले मनुष्य पवित्र एवं तीर्थ-स्वरूप होते हैं ।[1] पापक्षय के लिए ईश्वरीय उपासना को परमावश्यक बताया गया है ।[2] ईश्वर की सार्वभौम सत्ता को चुनौती देना, वैदिक सत्ता में किसी प्रकार का अविश्वास प्रस्तुत करना, आत्मा एवं परमात्मा की अभेद सत्ता में संदेह व्यक्त करना तथा स्वधर्म एवं किसी के द्वारा किसी उपकार का प्रमादवश उपेक्षा करना आदि नैतिक संहिता में पाप माने गये हैं ।[3] आलोचित पुराण का विशिष्ट निर्देश रहा है कि कृतघ्न प्रधानतम पापी होता है तथा ऐसे व्यक्ति की निष्कृति करोड़ों वर्षों में भी नहीं होती ।[4]

व्रतोपवास

पौराणिक युग में व्रतों का अधिकता से विस्तार किया गया है । जैसा कि श्रीमद्द्वादशीव्रत में उपवास, विष्णुपूजन, कृष्णमहादेवकन्या आदि देवों की गंधपुष्प पुष्पादि से पूजन एवं विष्णुनामजापन आदि को समन्वित किया गया है ।का विधान है। । एवं अहिंसाव्रत में - मांसभोजन के परित्याग का विधान बताया गया है ।[5]

---

1. वामनपुराण, 87/47.
2. वही, 51/56.
3. वही, 12/43.
4. वही, 12/55-56.
5. पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, 20 अध्याय ।

व्रतों से बहुविध उपयोगिता की सम्भावना की जाती है। जैसे आदित्यशयन व्रत से पापों की निवृत्ति होती है एवं उसके कीर्तन मात्र एवं माहात्म्य श्रवण से मनुष्य इन्द्र (स्वर्ग) लोक को प्राप्त होता है। चन्द्रव्रत से व्यक्ति सौन्दर्य एवं आरोग्यता को प्राप्त कर उत्तम बुद्धि से विष्णु लोक को प्राप्त होता है।[1]

इस प्रकार व्रतों के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पौराणिक युग में यज्ञों के स्थान पर व्रतों का अंश अवश्यमेव ग्रहण किया गया है क्योंकि उसके अनुष्ठान से व्यक्ति के इहलौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय की सम्भावना की गई है। श्रीमद्भागवत पुराण में सद्व्रतों में सत्य की, ब्रह्मचर्य की, अहिंसा की, अन्नदान की, शुद्ध भाव एवं निरहंकारता की आवश्यकता को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया।[2]

वामन पुराण में वर्णित व्रतोपवास

वामनपुराण में सात प्रमुख व्रतोपवास का उल्लेख मिलता है। इसके अनुपालन में कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक रखने तथा नियमपूर्वक पूरा करने से ही पूर्ण फल की प्राप्ति सम्भव है।[3]

1. अशून्यशयन द्वादशी व्रत

आलोचित पुराण में आख्यात है कि आषाढ़ मास की शुक्लपक्ष की एकादशी से कार्तिक मास की अमावस्या तक विष्णु महालक्ष्मी के साथ शयन करते हैं। इसी समय अन्य देवगण भी शयन-कार्य सम्पन्न करते हैं।

---

1. पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, 24 अध्याय
2. भागवतपुराण, 8, 16, 47-59.
3. वामनपुराण, 16/21-23.

विष्णु शान्तचित्त कार्तिक मास की उत्तम द्वादशी तिथि को जागृत अवस्था में आते हैं । उनकी भक्ति में अशून्य शयन द्वादशी का व्रत करने का विधान भी इस वामन पुराण में विवेचित है । इस व्रत को करने से सुखद एवं समृद्धिशाली दीर्घ दाम्पत्य जीवन की प्राप्ति बतलाई गई है । क्योंकि विष्णु महालक्ष्मी से युक्त होकर व्रतधारियों को अशून्य एवं महाभोगों से पूर्ण सुख प्रदान करते हैं ।[1]

2. <u>कालाष्टमी व्रत अथवा अक्षाष्टमी व्रत</u>

वामनपुराण के अनुसार अक्षयाष्टमी तिथि परम पवित्र तथा वेदोक्त विधान से घोर तपस्या एवं व्रत धारण की तिथि मानी गई है । यह व्रत भाद्रपद मास में मृगशिरा नक्षत्र से युक्त पवित्र कृष्णाष्टमी, कालाष्टमी, अक्षयाष्टमी को किया जाता है ।[2] इस तिथि में शिव अपने समस्त लिंगों में सोते एवं उनके सन्निधान में निवास करते हैं । इस अवसर पर व्रत धारण कर शिव की पूजा अक्षय मानी गई है ।[3]

उपर्युक्त तिथि पर व्रतधारियों को गोमूत्र एवं जल से स्नान करने[4] तथा स्नानोपरान्त धतूर के पुष्पों से शिव की पूजा करने, केसर के निर्यास का धूप, मधु एवं घृत का नैवेद्य अर्पण करने का विधान है । 'विरूपाक्ष मुझ पर प्रसन्न हों, ऐसा कहकर ब्राह्मणों को दक्षिणा एवं स्वर्ण के साथ नैवेद्य प्रदान करने का उल्लेख मिलता है ।[5]

---

1. वामनपुराण, 16/22-23.
2. वही, 16/24-25.
3. वही, 10/30.
4. वही, 17/31.
5. वही, 17/32-33.

3. <u>अशून्यशयन द्वितीयाव्रत</u>

वर्षा ऋतु का चातुर्मास काल देवताओं का शयन काल कहा गया है ।[1] वामन पुराण में आख्यात है कि विश्वकर्मा द्वितीया तिथि को शयन करते हैं, इसीलिए इसे अशून्यशयन द्वितीया भी कहा जाता है । इस तिथि को कल्याणकारी एवं पवित्र मानकर व्रत रखने का विधान मिलता है ।[2] इस तिथि में श्रीवत्सांग चतुर्भुज विष्णुलक्ष्मी के साथ पर्यंकस्थ रहते हैं अतः व्रतधारियों के लिए ऐसा विधान निरूपित है कि वे गन्ध-पुष्पादि के, द्वारा विष्णु की अर्चना कर उनके शयन निमित्त स्वनिर्मित शय्या पर क्रमशः फल तथा, सुगन्धादि निवेदित करें । पूजा में व्रतधारियों को प्रार्थना करना चाहिए कि उन्हें धर्मपत्नी की शून्यता न प्राप्त हो तथा विष्णुदेव की कृपा से उनका गार्हस्थ्य जीवन सुखद व अविनाशी बने ।[3]

अशून्य शयन द्वितीयाव्रत करने वाले व्रतधारियों को वामन-पुराण के उल्लेखानुसार रात्रि में तेल एवं लवण रहित भोजन करना चाहिए ।[4] व्रत के दूसरे दिन विष्णु की आराधना करके श्रेष्ठ ब्राह्मण को फल देने का भी विधान बताया गया है ।[5] एवं व्रतधारी को अपनी शक्ति के अनुसार युक्त शय्या के साथ लक्ष्मी धर विष्णु की मूर्ति दान करना चाहिए ।[6] इस व्रत को संयत रूप शास्त्रानुसार करने से व्रती को वियोग दुःख नहीं होता ।[7]

---

1. वामनपुराण, 17/17.
2. वही, 17/19.
3. वही, 17/20-23.
4. वही, 17/24.
5. वही, 17/25.
6. वामनपुराण, 17/28.
7. वही, 17/29.

4. शुक्ल एकादशी व्रत

वामन पुराण के अनुसार शुक्ल एकादशी व्रत विष्णु की पूजा से सम्बद्ध व्रत है।[1] शरद् काल के आगमन तक गन्ध, वर्ण, रसयुक्त पत्र, पुष्प, फल एवं औषधियों से विष्णु की पूजा करने का विधान है। इस तिथि में व्रतधारियों को घृत, तिल, जौ, रजत, सुवर्ण, मणि, मुक्ता प्रवाल, नाना प्रकार के वस्त्र, स्वाद, मधु, आम्ल, कषाय, लवण और तिक्त रसयुक्त वस्तुओं को केशव की पूजा के निमित्त अखण्डित रूप से अर्पण करने का विधान है। इस प्रकार पूजन एवं व्रतधारण करने से वर्ष के पूर्ण होने पर गृह में पूर्णता होती है।[2] उपवास के दूसरे दिन संयत होकर, स्नानकर, श्वेत सरसों अथवा तिल द्वारा उबटन का विचार है। विष्णु को घृत से स्नान तथा घृतयुक्त हविष्य करने के बाद यथा शक्ति दान देना चाहिए।[3]

पुष्पों द्वारा विष्णु के चरण से सिर तक पूजार्चन तथा नाना प्रकार के धूपों से उन्हें धूपित करना चाहिए जिससे सम्वत्सर पूर्ण हो।[4] इस व्रत में सुवर्ण रत्न, वस्त्र, रस-आस्वाद, पौरुष एवं हविष्यों द्वारा विष्णु-पूजा एवं नैवेद्यार्पण का विधान मिलता है।[5]

5. तप्तकृच्छ्रव्रत

वामन पुराण के अनुसार यह व्रत सार्वकालिक काम-वृद्धि हेतु किया जाता

---

1. वामनपुराण, 16/11.
2. वही, 16/12, 13, 14 एवं 15.
3. वही, 16/16-17.
4. वही, 16/18.
5. वही, 16/19.

है ।[1] इस व्रत के अनुष्ठान में तीन दिन तक उष्ण जल का पान, तीन-दिन तक उष्ण दुग्ध-पान, उष्ण घृत-पान तथा वायुमात्र का पान करना व्रतधारियों के लिए आवश्यक बताया गया है ।[2] जल द्वादश पल, दुग्ध आठ पल एवं घृत छः पल की मात्रा में इन दिनों पान करना चाहिए ।[3]

6. <u>श्रवण द्वादशीव्रत</u>

यह व्रत भाद्रपद मास में श्रवण द्वादशी को अनुष्ठानपूर्वक किया जाता है । इसमें व्रतधारी इरावती और नड्वला नदियों के संगम में स्नान को परम पवित्र मानते हैं ।[4] एकादशी के दिन व्रत धारण कर पवित्रतापूर्वक उपवास करना तथा द्वादशी तिथि को ब्राह्मणोपयोगी वस्तुओं, छाता एवं जूता सहित उक्त नदियों के संगम के जल से पूर्ण नवीन एवं दृढ़ कलशपात्र तथा मिष्ठान्न, दधि एवं ओदन से पूर्ण मिट्टी का पात्र ज्ञान एवं धर्म से युक्त पवित्र ब्राह्मण को दान देने का विधान मिलता है ।[5]

7. <u>नक्षत्र पुरुषव्रत</u>

वामन पुराण के अनुसार यह व्रत लक्ष्मीपति वासुदेव की आराधना के लिए किया जाता है । इस पुराण के अनुसार शास्त्रोक्त नक्षत्र विष्णु के अंग हैं। मूल नक्षत्र विष्णु के दोनों चरणों में, रोहिणी जंघा में, अश्विनी दोनों जानुओं में पूर्वाषाढ़ एवं उत्तराषाढ़ दोनों ऊरुओं में, पूर्वाफाल्गुनी एवं उत्तराफाल्गुनी

---

1. वामनपुराण, 36/15.
2. वही, 36/16.
3. वही, 36/17.
4. वही, 53/20-21.
5. वही, 53/23-24.

गुह्यप्रदेश में एवं कृत्तिका नक्षत्र कटिप्रदेश में स्थित हैं ।[1] विष्णु के दोनों पार्श्वों में पूर्व एवं उत्तर भाद्रपद, कुक्षियों में रेवती, हृदय में अनुराधा, पृष्ठ प्रदेश में धनिष्ठा, दोनों भुजाओं में विशाखा, दोनों हाथों में हस्त, अंगुलियों में पुनर्वसु तथा नख में अश्लेषा नक्षत्र विद्यमान है ।[2] विष्णु की ग्रीवा में ज्येष्ठा, कानों में श्रवण, मुख में पुष्य तथा दाँतों में स्वाति नक्षत्रगण स्थित है । इसी प्रकार ज्येष्ठा श्रवण, पुष्य, स्वाति, शतभिषा, मघा, मृगशिरा, चित्रा, भरणी, आर्द्रा आदि नक्षत्रों से विष्णु का नक्षत्र शरीर बनता है ।[3]

वामनपुराण में विवृत है कि चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि में चन्द्रमा के मूल नक्षत्र में होने पर विष्णु के दोनों चरणों की विधिवत पूजा करनी चाहिए एवं नक्षत्र के वर्तमान रहने पर ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए ।[4] इसी प्रकार क्रमशः नक्षत्रों के परिवर्तन के साथ नियमानुसार व्रतोपवास, हविष्यान्न दान, ब्राह्मण पूजन एवं भोजन-दान का विधान है ।[5]

इस व्रत को विधिपूर्वक करने से मनुष्य अंगोपांग सहित स्वस्थ रहता है एवं सात जन्मों के स्वीकृत एवं परिजन कृत पाप से पूर्णतया मुक्त हो जाता है ।[6]

---

1. वामनपुराण, 54/4.
2. वही, 54/5-6.
3. वही, 54/7-9.
4. वही, 54/11.
5. वही, 54/12-29.
6. वही, 54/32.

कर्मयोग सिद्धान्त का अनुपालन

वामन पुराण में धार्मिक अनुभव, कर्मयोग, ज्ञान योग एवं भक्ति योग का संश्लिष्ट समन्वय मिलता है। आध्यात्मिक चेतना का विकास, नैतिक आचरणों में निष्ठा, धार्मिक अनुष्ठानों का पालन, स्वधर्म का सम्यक् पालन कर्मयोग से ही संभव बताया गया है।[1] कर्मयोग के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शौच, इन्द्रिय संयम, मधुर-भाषण, सत्कर्मों में अनुरक्ति तथा निरन्तर सदाचार का पालन आदि सद्गुणों को समाविष्ट किया गया है। ये सभी वर्ण के मनुष्यों के लिए विहित एवं सनातन धर्म है।[2] इन त्रयोदश सूत्री धर्मों में सत्याराधना प्रधानतम माना गया है।[3] शुद्धाचरण बनाये रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए वर्णाश्रमोक्त धर्मों का पालन आवश्यक बताया गया है।[4] स्वधर्मानुकूल जीवनयापन से चित्तवृत्ति कभी दूषित नहीं होती तथा मानसिक शान्ति एवं क्रियात्मकता में वृद्धि होती है।[5] व्रतोपवास की अवधारणा प्रस्तुत करके पुराणकार ने कर्मयोग के सिद्धान्त को आचरण में उतारने का सफल यत्न किया है।[6] श्रीमद्भागवत गीता की भाँति वामनपुराण का भी स्पष्ट निर्देश

---

1. वामनपुराण, 15/48 सरो०मा० 26/116; 14/1-2 तथा 15/53.
2. वही, 16/2-5, मनुस्मृति, 14/920/38.
3. पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, 1/27-29, भागवतपुराण, 7/11/5/12. वामनपुराण, 12/46.
4. वही, सरो०मा० 22/82-83, 23/25, 10/91, 15/47.
   तथा ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वभाग, 2/30/33-38.
   मत्स्यपुराण, 143/27-32.
   वायुपुराण, 57/112-116.
   ब्रह्मपुराण, 175/14-18.
5. वामनपुराण, 28/7, 35/1-28, 14/15-44.
6. वही, सरो०मा० 22/81, 48/48, 49/13-14.

है कि जो व्यक्ति क्षमाशील, अभिमान एवं क्रोध को आत्मवश करने वाला, विद्या-विनीत, परदुःख कातर तथा अपनी पत्नी में संतुष्ट है, उसे संसार में कोई भय नहीं होता ।[1]

ज्ञान-योग सिद्धान्त का अनुपालन

कर्मयोग के अतिरिक्त आलोचित पुराण में ज्ञान-योग के मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है । इसमें एक स्थल पर वर्णन मिलता है कि श्रेष्ठ योगसाधन, वेदाध्ययन, ब्रह्मविज्ञान और विष्णु एवं शिव में स्थिर भक्ति सिद्धों का परम धर्म है ।[2] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर ऋषियों के धर्म का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचर्य, नियताहार, जप, आत्मज्ञान और नियमानुसार धर्म ज्ञान की सम्यक् सम्प्राप्ति ऋषि वर्गों का परम धर्म है ।[3] धर्म की गति परम गहन है ।[4] अतः इसकी साधना चित्तवृत्ति निरोध, ज्ञानार्जन के प्रति सम्पूर्ण समर्पण तथा ध्यान से ही संभव है ।[5] फलतः ज्ञानयोगी के लिए तापस-व्रत-धारण करना आवश्यक बताया गया है ।[6] इसमें मंकण[7] तथा बालखिल्य[8] ऋषियों का आख्यान प्रस्तुत करते हुए योगियों एवं तपस्वियों की आध्यात्मिक ऊँचाई के

---

1. वामनपुराण, 40/27.
2. वही, 11/17.
3. वही, 11/22.
4. वही, सरोमहा० 22/49.
5. वही, 15/59-60, सरो०महा० 22/24-26, द्रष्टव्य, महाभारत, 12/277-57.
6. वही, 12/41-44, 34/72-74, 35/26, 64/114 एवं द्रष्टव्य श्वेताश्वतरोपनिषद्-6/6.
7. वही, 36/43-48-53.
8. वही, सरो०महा० 22/54, सरो०महा० 22/36.

उल्लेख के साथ साथ मिलता है कि परमशक्ति ब्रह्म भी सतत् तपस्यारत रहते हैं।[1]

वामनपुराण में वैदिक एवं औपनिषदिक धर्मदर्शन को विशद रूप से प्रतिष्ठित किया गया है। इसमें ब्रह्म को प्रधानतम शक्ति एवं सृष्टि सृजन से प्रलय तक की क्रियाओं का मूल स्वीकार किया गया है। उपनिषदों में वर्णित निराकार ब्रह्म की अवधारणा को प्रतिष्ठित करने के साथ साथ इसमें साकार उपासना पर भी यथेष्ट बल दिया गया है।[2] वेदों में स्थापित एकेश्वरवाद को स्वीकार करते हुए पुराणकार ने लीलाभाव में उसकी अनेक देवों एवं शक्ति के रूप में साकार करने का उल्लेख किया है।[3]

इस प्रकार निर्गुण एवं सगुण ब्रह्मोपासना को समान रूप से महत्वपूर्ण स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मा सभी उपासना के मूल हैं तथा उसी की प्राप्ति अथवा सम्यक् ज्ञान धर्म-साधना का सर्वोच्च लक्ष्य है। आलोचित पुराण की सम्मति में ब्रह्म अमूर्त एवं सर्वव्यापी है। संसार के समस्त चर और अचर जीव उसी अतीन्द्रिय सत्ता के अंश हैं। ईश्वर अनश्वर है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी का अंश है।[4] वह गुणातीत होते हुए भी सत्व, रजस् एवं तमस गुणों के अवलम्बन से विश्व-सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहार करता है।

---

1. वामनपुराण, सरो माहा० 26/148.
2. वही, 59/64-109.
3. वही, सरो माहा० 22/20-21, 67/38-39, 52/39.
4. वही, सरो माहा० 10/81-91, 60/31, 67/66.

भक्ति योग

वामनपुराण में विभिन्न स्थलों पर मनुष्यों के धर्म का उल्लेख मिलता है। इनमें स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यजन, अकार्पण्य, परिग्रहराहित्य, दया, अहिंसा, क्षमा, दम, जितेन्द्रियता, शौच, मांगल्य तथा विष्णु, शंकर, भास्कर, और देवी में भक्ति को समाविष्ट किया गया है।[1] ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश को, जिन्हें पुराणों में 'त्रिदेव' कहा गया है, पौराणिक धर्म में सृष्टा, रक्षक और नाशक शक्तियों का प्रतीक मानकर उनमें समन्वयात्मक एकता की स्थापना की गई है।[2] आलोचित पुराण में अन्यान्य पुराणों की भाँति वैदिक यज्ञों की प्रतिष्ठा स्वीकार करते हुए पूजा-पद्धति एवं भक्ति-मार्ग पर विशेष बल दिया गया है।

भक्तियोग को पौराणिक साहित्य में प्रश्रय दिया गया है। इसका प्रमुख कारण संभवतः समाज के सभी वर्णों के मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँधने तथा आत्मा को परमात्मा से साक्षात्कार कराने का अवसर विदित करना था। पौराणिक धर्म का दृष्टिकोण उदार था।[3] अतः पूजा एवं भक्ति के लिए विहित प्रतिपादित की गई है।

वामन पुराण में एक अन्य स्थल पर उल्लेख मिलता है कि भक्ति-योग जिज्ञासु भक्त के हृदय एवं मस्तिष्क को नैतिक गुणों एवं आध्यात्मिक अनुशासन

---

1. वामनपुराण, 11/22-23.
2. ए0डी0 पुसाल्कर, स्टडीज इन द एपिक एण्ड पुराणाज् , पृ0 9.
3. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय द्वारा सम्पादित,
   भारतीय संस्कृति पत्रिका, पृ0 215.

से परिपूरित कर देता है।[1] ईश्वर में असीम आस्था एवं पूर्णविश्वास भक्ति का प्रथम सोपान है। भक्त अपने को अपने आराध्य देव की आराधना में लगाकर उनके प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाता है।[2] वह अपने इष्ट देव के प्रति समर्पित भाव, अनासक्त प्रेम अथवा सांसारिक वृत्तियों के त्याग की मनोवृत्ति अर्जित कर लेता है।[3] इस प्रकार की उत्कृष्ट भक्ति को 'पराभक्ति' की संज्ञा दी जाती है।[4] 'पराभक्ति' की स्थिति को प्राप्त कर मनुष्य सांसारिक मोह माया से ऊपर उठ जाता है तथा निरन्तर ईश्वर के साक्षात्कार का अनुभव करने लगता है।[5]

वामनपुराण में गजेन्द्र-मोक्ष-आख्यान के माध्यम से भक्त एवं उसके आराध्य देव के बीच एकसूत्रता का भाव सिद्ध किया गया है।[6] ईश्वर एक है, विभिन्न देवता उसी के अंश हैं।[7] वह अविचलित, निराकार, अमर, क्षेत्रज्ञ, स्वयंभू तथा विभिन्न प्रकार की शक्ति से सतत ज्योतित है।[8] वही परमशक्ति त्रयोगुणों, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा सभी समन्वित शक्ति का स्वरूप ग्रहण करता है।[9] बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा की दृष्टि से धर्मसमन्वय की भावना और भी

---

1. वामनपुराण, 57/73, 59/1-121.
2. वही, 41/42, 51/55.
3. वही, 41/34-36.
4. वही, सरोमहा० 6/22, 44/59-60.
5. वही, 44/72-74.
6. वही, 58/27-29, 57, 59.
7. वही, 41/26-28.
8. 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः' यजुर्वेद, 32/3 एवं वामनपुराण सरो० 9/40-42, 58/31-50, 41/41.
9. वामनपुराण, 41/40-56.

दृढ़ बन गयी, जिससे सभी सम्प्रदाय के लोग धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर धर्म-सहिष्णुता एवं साम्प्रदायिक समन्वय के महत्त्व को भी समझने लगे । फलतः ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश में संक्षेप की दृष्टि से त्रिकूट मन्दिरों की स्थापना होने लगी । इनमें सभी धर्मावलम्बियों की सुविधा की दृष्टि से इन तीनों देवताओं की समन्वयात्मक प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा होने लगी ।[1]

आलोचित पुराण के भक्तियोग के अन्य स्वरूप प्रतीकोपासना का भी उल्लेख किया गया है । इस प्रकार की उपासना में उपासक अपना ध्यान प्रतीकों पर केन्द्रित कर लेता है, तथा उसी की उपासना द्वारा आराध्य देव से अपना तादात्म्य बनाने का प्रयास करता है ।[2] पौराणिक काल में बहुशः प्रचलित शिवलिंगोपासना, प्रतीकोपासना का श्रेष्ठतम उदाहरण माना जा सकता है । इस उपासना पद्धति में भक्त का यह दृढ़ विश्वास अन्तर्निहित होता है कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है तथा वह किसी भी वस्तु अथवा स्वरूप में व्यक्त हो सकता है ।[3] प्रतिमा-पूजन के मूल में भी यही भावना विद्यमान है । प्रतिमाओं एवं प्रतीकों के माध्यम से दैवी-स्वरूपों एवं उनके मनोभावों को प्रकट करने का प्रयास किया गया है ।[4] कीर्तन, पूजन, व्रत, उपासना, दान, उपवास, तीर्थयात्रा तथा पुष्पार्चन आदि क्रियायें भक्ति-भाव एवं भक्त के समर्पण के प्रतीक माने जा सकते हैं ।[5] इस प्रकार की भक्ति को अपरा भक्ति की संज्ञा प्रदान की गई है ।

---

1. वासुदेवशरण अग्रवाल, स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पृ० 254.
2. वामनपुराण, 47/37-76, 52/3-9, सरो महा० 25/1-56 तथा 34/15.
3. वही, 57/72.
4. वही, 57/37-38.
5. वही, 67/68-76.

पराभक्ति का उल्लेख करते हुए वामन पुराणकार ने उसे उत्कृष्टतम कोटि में रखा है । इसमें भक्त की कोई आकांक्षा नहीं होती, वह एकमात्र अपने आराध्य को ध्यान से ही सुख चाहता है । भक्त सांसारिक सुखों को तुच्छ समझता है तथा उसकी समस्त आकांक्षाओं का विनाश हो जाता है । वह सदैव ईश्वरीय शक्ति से आच्छादित होने का अनुभव करता है तथा उसकी ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण भक्ति दृढ़ हो जाती है । उसकी दृष्टि में पुरुषार्थ-चतुष्टय की सम्प्राप्ति नगण्य हो जाती है तथा ईश्वर के साक्षात्कार से ही वह सब कुछ मानने लगता है । इस प्रकार प्रेयस् का त्याग कर वह श्रेयस को ही जीवन का सर्वस्व स्वीकार कर लेता है ।[1]

---

1. वामनपुराण, 51/29, 30, 36.

आलोचित पुराण में वर्णित वैष्णव धर्म

विष्णु प्रमुख देवता के रूप में

वामनपुराण में विपुल देवताओं में विष्णु सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं प्रमुख देव माने गये हैं। वे देवेश, सर्वेश एवं जगन्नियामक है।[1] वे सभी के आश्रय, आधार तथा सर्वव्यापी ब्रह्म हैं।[2] आलोचित पुराण में अनेकत्र वर्णित विष्णु के शताधिक विरुदों से विदित है कि पुराणकारों ने विष्णु को परमशक्ति, परम-ब्रह्म एवं चर-अचर जीवों के अतिरिक्त देवताओं के भी आदि जनक तथा नियामक आदि शक्ति के रूप में स्वीकार किया है।[3]

पौराणिक धर्म में विष्णु सर्वोच्च देव के रूप में प्रतिष्ठित हैं। विष्णु पुराण के अनुसार इन्द्र ने अमरेशत्व की प्राप्ति के लिए सौ यज्ञों का अनुष्ठान करके देवेश विष्णु को परितुष्ट किया था।[4] वामनपुराण के अनुसार विष्णु के अनुग्रह से ही इन्द्र को स्वर्ग की प्राप्ति हुई थी।[5] वे ब्रह्मा एवं शिव जैसे प्रमुख देवों के भी आराध्य रूप में परिकल्पित किये गये हैं।[6] उन्हें विश्वदेवेश, विश्वंभु, विश्वात्मक, स्वयंभु, इन्द्र, अग्नि, भानु, चन्द्रमा तथा ब्रह्मा आदि शक्तियों का स्रष्टा कहा गया है।[7]

---

1. वामनपुराण, 18/20-21, 63/7, 63/24, 63/40आदि।
2. वही, 58/43, 47, 50, विष्णुपुराण, 1/9/57, वायुपुराण 51/18 एवं ब्रह्माण्डपुराण 2/22/18-19.
3. वामनपुराण, 3/14-23, 18/26-36, सरो माहा० 5 गद्य तक सरो० 6/17-36, 8/17-28, 58/31-59, 59/66-110, 60/1-87, 31/2, तथा द्रष्टव्य मत्स्यपुराण 47/1.
4. विष्णुपुराण, 5/17/7.
5. वामनपुराण, 52/88.
6. वामनपुराण, 8/13-23,223, 66/11-35.
7. वही, 66/35-36-41.

ऋग्वेद में विष्णु-भक्ति अथवा स्तुति सम्बन्धित ऋचायें, इन्द्र, अग्नि, मरुत, वरुण जैसे देवों की अपेक्षा कम है ।[1] ऋग्वेद में विष्णु की प्रशस्ति केवल पाँच सम्पूर्ण सूक्तों एवं कुछ अन्य में अंशतः है । इसमें लगभग सौ बार विष्णु का नामोल्लेख मिलता है ।[2] ऋग्वैदिक देवमण्डल में विष्णु महत्वपूर्ण पद के अधिकारी माने जा सकते हैं । ऋग्वेद में विष्णु के मानवत्वारोप का प्रयास मिलता है । उन्हें तीव्रगतियुक्त तीन पग तथा विशाल युवा पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है ।[3] इसी कारण इन्हें 'उरुगाय'[4] की उपाधि से अलंकृत किया गया है ।[5]

ऋग्वेद में विष्णु को इन्द्र से गौण स्थिति में वर्णित किया गया है लेकिन अपनी गौण स्थिति के होते हुए भी वे व्यक्तित्व में उपकारी[6], निरुपद्रव[7], कृपालु[8], उदार[9], एक मात्र रक्षक[10], अप्रमित स्वभाव[11], तीनों लोकों के प्राणियों के धारक[12], प्रेरणा-स्त्रोत[13] तथा मुक्तिदाता[14] जैसे महान् गुणों से युक्त बताये गये हैं ।

---

1. बी०एस० घाटे, लेक्चर्स ऑन ऋग्वेद, पृ० 154.
2. ए०ए० मैक्डानल, वैदिक माइथोलॉजी, पृ० 651-70.
3. ऋग्वेद, 1/155.
4. 'अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः' ऋग्वेद, 1/154-6.
5. 'उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था', ऋग्वेद, 1/154-5.
6. ऋग्वेद, 1/156.
7. वही, 8/25.
8. वही, 7/40.
9. वही, 3/55.
10. वही, 1/52.
11. वही, 1/54.
12. वही, 1/56.
13. वही, 1/55.

सम्भवतः इन्हीं गुणों के कारण परवर्ती काल में उनका व्यक्तित्व अन्य देवों की तुलना में विकसित होता गया । उत्तर वैदिक काल में विष्णु के व्यक्तित्व को उत्कृष्ट स्वीकार करते हुए उन्हें अन्य देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया ।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में भी विष्णु को सर्वोच्च तथा अग्नि को निम्नतम देव प्रतिपादित करते हुए अन्य देवों को इन दोनों के मध्य स्थित बताया गया है ।[2]

पौराणिक साहित्य में विष्णु को वैदिक कालीन व्यक्तित्व के गुणों को अन्य देवों की तुलना में विशेष समुन्नत एवं विशद रूप में स्वीकार कर उनको वैष्णवधर्म का आराध्य देव घोषित किया गया एवं उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म की सम्पूर्ण दार्शनिक अवधारणा को उनमें समाविष्ट करके उन्हें परा एवं अपरा प्रकृति का मूल नियामक एवं जगत्स्रष्टा नारायण स्वीकार किया गया । वामनपुराण के प्रारम्भिक श्लोकों में ही इन्द्र की तुलना में विष्णु को अधिक महत्वपूर्ण देव बताया गया है ।[3] इसी प्रकार दक्ष-यज्ञ के सन्दर्भ में आख्यात है कि दक्ष ने यज्ञ का कार्य विष्णु के शयन काल बीत जाने पर तथा उनके जागृत होने पर इन्द्रादि देवों को निमंत्रित करके प्रारम्भ किया था ।[4] इसमें विष्णु के अनन्त नामों में 'यज्ञ' नाम भी आया है जिन्हें 'सुरश्रेष्ठ' की प्रतिष्ठा दी गई है । इसी आलोचित पुराण में एक स्थान पर कश्यप की स्तुति से प्रसन्न होकर अदिति के गर्भ से इन्द्र के लघुभ्राता (उपेन्द्र) के रूप में वामनावतार लेने का भी वर्णन है ।[5]

---

1. तद्विष्णुः प्रथमः प्राप । स देवानां श्रेष्ठो अभवत्तस्मादाहुर्विष्णुः देवानां श्रेष्ठ इति । शतपथ ब्रा०, 14/1/1/5.
2. ऐतरेय ब्राह्मण, 1/1.
3. वामनपुराण, 1/1.
4. वही, 2/7-8.
5. वही, सरो माहा० 6/4.

आलोचित पुराण में 'उपेन्द्र' का आशय इन्द्र की तुलना में विष्णु की गौण स्थिति न होकर संभवतः इन्द्र के कल्याणार्थ उनके लघुभ्राता रूप को ग्रहण कर, वामनरूप में इन्द्र के राज्य को दैत्यों से छीनकर पुनः उन्हें प्रदान करना था ।

<u>इन्द्र और विष्णु</u>

आलोचित पुराण में आख्यात है कि विष्णु की आराधना हेतु इन्द्र ने महानदी के तट पर प्रातः स्नान, भूमिशयन एवं एक समय भोजन करते हुए सर्वथा जितेन्द्रिय एवं कामक्रोधादि दोषोंसे मुक्त रहकर पाप-मुक्ति हेतु एक वर्ष तक तपस्या किया था ।[1] इन्द्र को यह तपस्या भ्रूण-हत्या के प्रायश्चित रूप में करनी पड़ी थी ।[2] ऋग्वेद[3] में विष्णु को भ्रूण-रक्षक कहा गया है । विष्णु-पुराण[4] के अनुसार इन्द्र को अमरेशत्व प्राप्ति हेतु यज्ञ-यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा विष्णु को प्रसन्न करना पड़ा था । इसमें एक स्थल पर 'शक्र' के रूप में विष्णु की शक्ति का सन्निधान निहित है । इसी रूप में विष्णु पृथ्वी का पालन करते हैं ।[5] इस प्रकार पौराणिक काल में ऋग्वैदिक देवों, इन्द्र, वरुण, ब्रह्मा एवं अग्नि आदि की तुलना में विष्णु के व्यक्तित्व का विशेष उत्कर्ष प्रमाणित है ।

---

1. वामनपुराण, 50/19-22.
2. वही, 50/6.
3. ऋग्वेद, 7/36.
4. विष्णुपुराण 5/17/7 एवं 30.
5. वही, 4/1/87 एवं तरो भाग० 9/33.

सूर्य एवं विष्णु

वामनपुराण में विष्णु को सूर्य-शक्ति के रूप में परिकल्पित किया गया है ।[1] एक स्थल पर शंकर की क्रुद्ध दृष्टि से आकाश से गिरते हुए सूर्य ने कल्याण की कामना से विष्णु-क्षेत्र में जाकर शरण लिया था ।[2] वामन त्रिविक्रम द्वारा बलि के राज्य को नापते हुए उनके विराट् शरीर में सूर्य और चन्द्रमा स्तनांत रूप में विद्यमान थे ।[3] विष्णुपुराण के अनुसार सूर्य-मण्डल वैष्णवी शक्ति से तेजोमय होता है ।[4] इस प्रकार पौराणिक साक्ष्यों से विष्णु एवं सूर्य के पारस्परिक सम्पर्क तथा प्रथम का द्वितीय पर अविच्छिन्न प्रभाव परिलक्षित होता है । ऋग्वेद में भी एक स्थल पर विष्णु एवं इन्द्र की सहशक्ति से सूर्य की उत्पत्ति बताई गयी है ।[5] शतपथ ब्राह्मण[6] की एक पुराकथा के अनुसार, यज्ञरूपी विष्णु सर्वप्रथम यज्ञ का महत्व समझ लेने के कारण देवों में प्रधान बन गये तथा कुछ कारणों से धनुष टूट जाने से इनका शीर्ष पृथक् होकर 'आदित्य' बन गया ।

पुराणों में यद्यपि विष्णु एवं सूर्य पृथक् देवों के रूप में वर्णित हैं तथापि अधिकांश पुराण में विष्णु सूर्य की अपेक्षा श्रेष्ठ माने गये हैं । विष्णु-पुराण[7] में तो आदित्य को विष्णु का उपासक कहा गया है एवं वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य, एवं विष्णु पुराणों में विष्णु को आदित्य का अधिपति बताया गया है ।

---

1. वामनपुराण, सरो० 6/33.
2. वही, 6/48-401.
3. वही, 10/63, वही, 10/49 में सूर्य एवं चन्द्र को त्रिविक्रम का दोनों नेत्र कहा गया है ।
4. विष्णुपुराण, 2/10/19.
5. ऋग्वेद, 7/99/4, मैकडानल, ऋग्वेद, पृ० 31.
6. शतपथ, 14/1/1, मैकडानल, शतपथ, पृ० 77.
7. विष्णुपुराण 4/11/2.

रुद्र एवं विष्णु

पुराणों में विष्णु के सदृश रुद्र (शिव) को भी प्रमुख देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।[1] ऋग्वेद में रुद्र का उल्लेख गौण है इसमें इनकी प्रमुख विशेषता उग्रता एवं रौद्र रूप है।[2] इनकी स्तुति क्रोध के निवारक, विपत्तियों में संरक्षक, समृद्धि दाता एवं कल्याणकर्ता के रूपों में किया गया है।[3]

पौराणिक काल में वैदिक रुद्र विष्णु के समकक्ष प्रमुख देव के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। जैसा कि वामन पुराण के एक स्थल पर स्वयं विष्णु ने अनेक देवगणों में रुद्र (शिव) को श्रेष्ठ बताने का प्रयास किया है। परन्तु देवगण रुद्र के प्रताप से उन्हें देख नहीं सके।[4] इस प्रकार आलोचित पुराण में विष्णु एवं रुद्र के परम देव रूप में प्रतिष्ठा एवं अन्य देवगणों की गौण स्थिति पर स्पष्ट-रूप से प्रकाश डाला गया है।

विष्णु एवं शिव में समता-स्थापना की भावना को भी आलोचितपुराण में सिद्ध किया गया है। शंकर विष्णु के शरीर में संयुक्त है वैसा इस पुराण में आख्यात है। इन्हें शिवमूर्ति कहा गया है एवं स्वयं शिव अपने गणों से कहते हैं कि जो मैं हूँ वही भगवान विष्णु हैं।[6]

---

1. मैक्डानल, ऋग्वेद, पृ० 139.
2. ऋग्वेद, 1/114.
3. वही, 1/114 एवं 2/33.
4. वामनपुराण, 36/34/5.
5. वही, 36/21-23, 29/30-37.
6. वही, 36/28.

इस समभाव के होते हुए भी आलोचित पुराण में विष्णु को रुद्र की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है एवं विष्णु में ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, अग्नि, वरुण एवं वायु देवों को अन्तर्भावित किया गया है ।[1] भगवान शंकर द्वारा ब्रह्महत्या प्रकरण में भगवान विष्णु की आराधना एवं विष्णु के द्वारा बताये गये उपाय भी विष्णु की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का साक्ष्य माना जा सकता है ।[2]

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर बदरिकाश्रम में शिव द्वारा नारायण से भिक्षा-याचन[3] एवं विष्णु द्वारा दशाश्व-मेधस्य के यम-दर्शन का उपदेश[4] भी इनको शिव की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर मानने का प्रमाण है । इन संदर्भों के आलोक में तथा दक्ष - यज्ञ में शिव को निमन्त्रित न किये जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु का हमेशा यज्ञादि कर्मकाण्डों से सम्बद्ध होने के कारण उनकी श्रेष्ठता अक्षुण्ण रही है ।

---

1. वामनपुराण, 8/53.
2. वही, 3/22-25.
3. वही, 2/43.
4. वही, 3/41.

आलोचित पुराण में वर्णित शैव-धर्म

वामन पुराण में शिव का स्थान विष्णु के उपरान्त श्रेष्ठ देव के रूप में अंकित है । उन्हें देवमणि[1], महेश[2], महेश्वर[3], लोकनाथ[4], महादेव[5], देवदेव[6], परमात्मा[7], भुवनेश्वर[8], विश्वेश्वर[9], सुरनायक[10], सर्वेश[11], आदिदेव, परमेश्वर, परब्रह्म तथा सुरद्विजार्चित[12] उपाधियों से संबोधित किया गया है । लघु कलेवर वाले इस पुराण में शिव स्तोत्रों की संख्या आठ है जो विष्णु स्तोत्र में उपरान्त सबसे अधिक है ।

शिव से सम्बन्धित कथावृत्तों अथवा आख्यानों में सर्वत्र महादेव अथवा सर्वेश्वर नामों से उन्हें सम्बोधित किया गया है जिससे पौराणिक भावना में शिव

---

1. वामनपुराण, सरो0 15/54.
2. वही, 32/105, 36/5.
3. वही, 2/16, 17/63, 18/4 एवं सरो0 20/24.
4. वही, 23/18.
5. वही, 6/29, 17/43, सरो0 20/12.
6. वामन, सरो0, 23/2.
7. वामनपुराण,सरो0, 23/5.
8. वही, 23/6.
9. वही, 33/8-9.
10. वही, 23/5 पद्यांश
11. वही, 23/10, 15/20 एवं पद्यांश
12. वही, 23, पद्यांश 26.

वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, स्कन्द एवं मत्स्यादि पुराणों में भी शिव को महादेव आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है । इन साक्ष्यों से शिव की महत्ता स्पष्ट लक्षित होती है ।[1] लोकाधिपम्, सर्वज्ञ, देवेश, परात्पर, ज्ञानेश, महाविरंचि, महाविभूति, महापुरुष, सर्वभूतात्मा, मनोनिवास, ईशान, दुर्विज्ञेय, दुराराध्य, महाभूतेश्वर, महायोगेश्वर, सर्वशक्ति आदि अनेक विरुदों से शिव को अलंकृत किया जाना भी इनके बढ़ते हुए प्रभावों एवं प्रधानता को सिद्ध करता है ।[2]

प्रमुख शैव सम्प्रदाय

वामन पुराण में शिव के चार प्रमुख सम्प्रदायों की विशद एवं सविस्तार उल्लेख मिलता है । शिव॥हर॥ भक्तों का प्रथम सम्प्रदाय शैव, द्वितीय पाशुपत तृतीय कालदमन एवं चतुर्थ कापालिक सम्प्रदाय कहा गया है ।[3]

शैव सम्प्रदाय

वामन पुराण में शैव सम्प्रदाय की उत्पत्ति वशिष्ठ के पुत्र शक्ति द्वारा बताई गई है तथा शक्ति को शिव का अवतार कहा गया है ।[4] शक्ति के शिष्य का नाम गोपायन कहा गया है जो शैव सम्प्रदाय के एक प्रमुख आचार्य थे। वामन पुराण के अनुसार इस सम्प्रदाय के लोग शरीर में भस्मलेपन तथा हाथ में त्रिशूल धारण करते है एवं इन्हें प्रमथवर अर्थात् शिव के गणों में अग्रगण्य माना गया

---

1. वायुपुराण, 5/41,27/16, ब्रह्माण्ड, 2/10-17, विष्णु 1/8/7, 1/9/97 मत्स्य-250/35, स्कन्दपुराण, 1/2/7-8.
2. वामनपुराण, सरो० 23/5, 10/15 तथा 25 ॥पर्याय॥
3. वामनपुराण, 6/87.
4. वामनपुराण 6/88.

है ।[1]

शैव सम्प्रदाय के अनुयायियों के मत में विश्व में तीन प्रमुख रत्नों को भक्तों का केन्द्र माना गया है । शिव, शक्ति एवं बिन्दु । इनमें शिव कर्ता है, शक्ति कारण और बिन्दु उपादान है । इन्हीं रत्नों के सम्यक् बोध से शिव-तत्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त शिव की दो प्रमुख शक्तियाँ समवायिनी एवं परिग्रह रूप का ज्ञान भी इस सम्प्रदाय में शिवत्व प्राप्ति के निमित्त आवश्यक साध्य स्वीकार किया गया है ।

समवायिनी शक्ति-निर्विकार और चिद्रूपा है तथा परिग्रह-रूप शक्ति अचेतन और परिणामशालिनी है जिसे बिन्दु कहा गया है । बिन्दु के दो प्रकार है - शुद्ध एवं अशुद्ध । शुद्ध बिन्दु महामाया है एवं अशुद्ध बिन्दु माया । दोनों भिन्न जगत् के उपादान कारण रूप है । महामाया बिन्दु सात्विक जगत की और माया बिन्दु प्राकृत जगत की रचना है । शैव सम्प्रदाय के सिद्धान्त में चार पाद (यथा - विद्या, क्रिया, योग, चर्या) तथा तीन पदार्थों (पति, पशु एवं पाश) का परिकल्पन किया गया है । पति का अर्थ-शिव, से, पशु का अर्थ जीवात्मा से एवं पाश का अर्थ बंधन से माना गया है । इस मत के अनुसार उपासना का लक्ष्य है जीव तथा बंधन से मुक्ति प्राप्ति । जिसके लिए साधना आवश्यक है एवं क्रिया करना भी अनिवार्य है । क्रिया अथवा साधना के द्वारा ही जीव सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर शिवत्व में लीन हो सकता है ।

पाशुपत सम्प्रदाय

आलोचित पुराण में शैवसम्प्रदाय के बाद पाशुपत सम्प्रदाय को शिव के

---

1. वामनपुराण 41/10.

मुख से उद्भूत बताया गया है ।[1] इस पुराण के अनुसार तपस्वी भारद्वाज को महापाशुपत आचार्य एवं सोमकेश्वर राजा ऋषभ को उनका शिष्य बताया गया है ।[2] इस सम्प्रदाय का उदय महाभारत की रचना से पूर्व ज्ञात होता है । महाभारत में श्रीकण्ठ नामक आचार्य को पाशुपत कहा गया है ।[3]

वायु एवं लिंगपुराणों में पाशुपत सम्प्रदाय का अभ्युदय लकुलिन नामक ब्रह्मचारी द्वारा बताया गया है जिन्हें शिव का अवतार माना गया है ।[4] इन पुराणों के अनुसार इनके प्रमुख शिष्यों में कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य थे । लकुलिन का अर्थ होता है – लगुड, लकुट अथवा लंगोटी धारण करने वाला । पाशुपत सम्प्रदाय में लकुट धारण करने की प्रथा आज भी विद्यमान है । इस सम्प्रदाय में दण्ड को शिव का प्रतीक माना गया है एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के मथुरा स्तम्भलेख में ऐसा उल्लेख है कि उदिताचार्य नामक पाशुपतमतावलम्बी ने उपमितेश्वर एवं कपिलेश्वर नामक शिव लिंगों की स्थापना की थी । गुजरात से प्राप्त तेरहवीं शती ईस्वी के एक अभिलेख में लकुलीश के रूप में शिव का अवतार वर्णित है, जिनके चार शिष्यों में कुशिक को प्रथम शिष्य बताया गया है ।[5]

---

1. वामनपुराण, 6/87
2. वही, 6/89.
3. महाभारत, शान्तिपर्व 349/64.

   "सांख्यं योगः, पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
   ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ।"

4. वायुपुराण, 30वाँ अध्याय, लिंगपुराण, 21वाँ अध्याय ।
5. द्रष्टव्य, एपिग्राफिया इण्डिका, 19, पृष्ठ 8.

लेकिन आलोचित वामन पुराण में भारद्वाज आचार्य को ही पाशुपत सम्प्रदाय का जनक बताया गया है न कि लकुलीश को । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणकार ने लकुलीश के स्थान पर भारद्वाज आचार्य का उल्लेख कर वैष्णव मतावलम्बियों एवं पाशुपत सम्प्रदाय के मतावलंबियों में परस्पर सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है ।

कालवदन सम्प्रदाय

आलोचित पुराण के अनुसार आचार्य आपस्तम्ब को 'कालवदन सम्प्रदाय' का प्रणेता माना गया है, उन्हें ऐश्वर्ययुक्त तपोधन भी कहा जाता था एवं उनके शिष्य क्राथेश्वर को वैश्य वर्ण से सम्बद्ध बताया गया है ।[1] इस सम्प्रदाय का तादात्म्य कालमुख शैव सम्प्रदाय से किया जा सकता है । सम्भव है कि पुराणकार ने इस सम्प्रदाय का कालवदन नामकरण शिव के महाकाल रूप में उपासना के कारण किया हो । काल मुख सम्प्रदाय के अनुयायी भी मृत्युंजय रूप शिव के ही उपासक थे एवं उज्जयिनी के महाकालेश्वर शिव की मृत्युंजय रूप में ही उपासना की जाती है ।

शिव के मृत्युंजय स्वरूप की कथा मार्कण्डेय ऋषि से सम्बद्ध है, जिनकी कालपाशों से रक्षा शिव ने ही की थी । कालदमन, कालमुख, कालानन अथवा कालान्तक, शिव के ये नाम इसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित माने जाते हैं । शिव संभवतः अतिमार्गी थे, इसीलिए शिवपुराण में इन्हें महाव्रतधर कहा गया है । नरकपाल में भोजन-पान, सुरा-पान, मद्य-पान तथा नर-भस्म का भस्म-शरीर पर लेपन करना, इनकी अतिवादी प्रवृत्ति के प्रमुख लक्षण माने जा सकते हैं ।

---

1. वामनपुराण, 6/90,

कालमुख सम्प्रदाय का उल्लेख उत्तर भारतीय अभिलेखों में नहीं मिलता तथापि दक्षिण भारत में इस सम्प्रदाय के विशेष प्रभाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।[1] इस सम्प्रदाय के 'कतिपय आचार्य चालुक्य नरेशों' के राज गुरु भी थे जिससे इस सम्प्रदाय को राजाश्रय प्राप्त होने का भी भान होता है ।[2]

कापालिक सम्प्रदाय

वामन पुराण में चतुर्थ शैव सम्प्रदाय कापालिक नाम से अभिहित किया गया है ।[3] इस सम्प्रदाय के आचार्य का नाम धनद बताया गया है जो महाव्रती थे । उनके प्रसिद्ध शिष्य का नाम कर्णोदर कहा गया है, जो शूद्र जाति में उत्पन्न तथा महातपस्वी थे ।[4] कापालिकों के इष्टदेव भैरव कहे गये हैं, जो शिव के अवतार माने गये हैं । कापालिक सम्प्रदाय का प्रारम्भ संभवतः उत्तर वैदिक काल में ही हो गया था । मैत्रायणी उपनिषद्[5] में कापालिकों का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है । शिव पुराण[6] एवं तांत्रिक ग्रन्थों में भी कापालिकों

---

1. पाठक, वी०एस०, हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया फ्राम इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० 28, 1960, मोतीलाल बनारसीदास.

2. ईस्टर्न चालुक्याज, पृ० 167, द्रष्टव्य यशस्तिलक, चम्पू एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० 348, द्रष्टव्य, ए०इ० 23, पृ० 161.

3. वामनपुराण 6/87,   4. वामनपुराण 6/91.

5. "अथ ये चान्येहवृथाकषाय कुण्डलिनः कपालिनः"
   मैत्रायणी उपनिषद् , पृ० 6.

6. शिवपुराण, अध्याय 29.

का वर्णन किया गया है । मालतीमाधव, मत्त-विलास, कर्पूरमंजरी, प्रबन्ध चन्द्रोदय एवं चण्ड-कौशिक सरीखे काव्य ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है । इसके अतिरिक्त ललित विस्तर एवं रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य में भी कापालिकों का वर्णन आया है । इस सम्प्रदाय के लोग सिर पर जटाजूट, गले में रुद्राक्ष की माला, शरीर पर श्मशान-भस्म तथा करतल में नर-कपाल धारण करते हैं । ब्रह्मसूत्र में कापालिकों की छः मुद्राओं का उल्लेख है । यथा-कण्ठिका, रुचक, कुंडल, शिखामणि, भस्म एवं यज्ञोपवीत । इन मुद्राओं को धारण करने से जीव सांसा-रिक बन्धनों से मुक्त माना है ।

कूर्म पुराण के अनुसार शैव सम्प्रदायों में कापालिक सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान है ।[1] कापालिकों को स्वभाव से क्रूर एवं भयंकर बताया गया है । भव-भूति ने अपने मालती माधव नामक प्रकरण में कपाल-कुण्डला नामक श्मशानवासिनी स्त्री का उल्लेख किया है, जो गुप्त कर्मों एवं महाक्रूर थी तथा जिसके समक्ष ना-यिका मालती को ले जाया गया था ।[2] राजस्थान से उपलब्ध दो अन्य अभि-लेखों में भी कापालिकों के क्रूर आसुरी स्वभाव का उल्लेख किया गया है ।[3]

वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों में समन्वय

वामनपुराण में वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों में समन्वय एवं दोनों देवों हरि

---

1. कापालं लाकुलं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम् ।
   पांचरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः ।।
   कूर्मपुराण, 16.
2. मालती माधव, सर्ग 5.
3. एपिग्राफिया इण्डिका, 19, पृ0 47.

एवं हर को अन्योन्याश्रित रूप से सम्बद्ध किया गया है । मुक्ति की कामना करने वाले भक्तों के लिए इस पुराण में ऐसा कहा गया कि वह विष्णु एवं शिव को एक रूप मानकर अर्चना करें ।[1] स्वयं शिव भी एक स्थल पर अपने गणों को ज्ञान की शिक्षा देते हुए बताते हैं कि जो विष्णु है वही मैं भी हूँ और जो मैं हूँ वही अविनाशी विष्णु हैं ।[2] इस प्रकार दोनों देवों में अभेदत्व एवं अपार्थक्य को बतलाते हुए वामनपुराण में हरि एवं हर को एक ही मूर्ति के दो रूप में वर्णित किया गया है ।[3] एक अन्य स्थल पर शिव स्वयं को पुष्कराक्ष जगन्नाथ एवं विष्णु को सर्वव्यापी, गणेश्वर, शर्व तथा सदाशिव रूप मानते हुए परस्पर ऐक्य पर विशेष बल देते हैं ।[4] दोनों देवों को समर्पित भिन्न भिन्न स्तोत्रों में समान विरुदें भी इनकी पारस्परिक समन्वय को सिद्ध करती हैं । भगवान विष्णु द्वारा हृदय में सदैव शिव लिंग धारण कर उन्हें परमदेव के रूप में स्मरण रखने एवं अन्यान्य देवताओं द्वारा उपास्य देव के रूप में घोषित करने का जो विवरण है वह भी परस्पर पौराणिक समन्वयात्मकता को प्रतिभासित करता है।[5]

समन्वयात्मक प्रवृत्ति का यह दृष्टान्त वामन पुराण के अतिरिक्त अन्य पुराणों जैसे - वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य, विष्णुधर्मोत्तर एवं भागवत आदि में भी अनेक स्थलों पर दृष्टिगत है जहाँ विष्णु शिव को श्रेष्ठ देवों के रूप में प्रतिष्ठित करके उनके समन्वयात्मक संश्लेषण को स्थापित करने का प्रयास किया गया है । इस प्रकार इन दोनों सम्प्रदायों का मुख्य उद्देश्य शैव एवं वैष्णव धर्म का ऐकान्तिक वर्णन एवं प्रचार न होकर दोनों धर्मों के समन्वयात्मक स्वरूप को पौराणिक धर्म में समान रूप से प्रतिपादित करना था ।

---

1. वामनपुराण 14/22.
2. यो ऽहं स भगवान् विष्णुर्विष्णुः सो ऽहमव्ययः ।। वही, 41/27.
3. वही, 41/28.
4. वही, 41/40-42.
5. वही, 36/3-5.

<u>शाक्त धर्म</u>

वैदिक युग से ही देवी-पूजा की प्रथा प्रचलित रही है । ऋक्-संहिता युग में तो इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि देवताओं की महानता देवियों की अपेक्षया अधिक थी, परन्तु अदिति, उषा, सरस्वती, पृथ्वी आदि के मन्त्रों से देवियों का महत्व भी स्पष्ट परिलक्षित होता है ।[1] पौराणिक-तांत्रिक ग्रन्थों में शक्ति-पूजा के महत्व का आधार देवी-सूक्त और विशेषकर मार्कण्डेय पुराण के देवी माहात्म्य को बताया गया है ।[2] डा० आर०एन० मेहता ने शक्ति-उपासना के उदय पर विचार व्यक्त करते हुए बताया है कि मातृ देवी की उपासना का मूल पाषाण-युग-नव-पाषाण-युग से खोजना चाहिए ।[3] विष्णु के साथ पृथ्वी[4] का विशेष सम्बन्ध ज्ञात होता है ।

पुराणों में शक्ति-उपासना के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि सृष्टि के लिए ब्रह्मा द्वारा वर्षों तक उग्र तपस्या के पश्चात् भी जब कुछ न हो सका तो क्रोधावेश में उनकी आँखों से आँसुओं की बूंदे गिरने पर, जिससे भूत-प्रेतों की उत्पत्ति हुई । उनको देखकर ब्रह्मा ने आत्मग्लानि से अपने प्राण त्याग दिये । तब प्रभु के मुख से रुद्र का जन्म हुआ । उन्होंने अर्ध नारीश्वर होकर अपने शरीर के आधे अंश से 11 रुद्रों और आधे अंश से शिवा उमा को जन्म दिया । उमा से लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती, माया, रौद्री, वैष्णवी

---

1. पौराणिक-तान्त्रिक रिलिजन, पृ० 112-113.
2. वही, पृ० 113.
3. 'शक्ति कल्ट एण्ड तारा' - इण्डिक बाई - डा०डी०सी० सरकार। पृ० 64.
4. मत्स्यपुराण, 1/34/19.

कामी, कमलवासिनी आदि देवियों का जन्म हुआ । और इन देवियों से हजारों स्त्रियों का जन्म हुआ ।[1]

वायु-पुराण के अनुसार – ब्रह्मा के क्रोध से एक तेजस्वी पुरुष का जन्म हुआ जिसका आधा शरीर स्त्री का था और आधा पुरुष का । उसने अपने आपको अलग अलग स्त्री पुरुष के रूप में विभक्त कर लिया । पुरुष भाग से एकादश रुद्रों की उत्पत्ति हुई तथा शंकर की अर्धांगिनी स्त्री ने अपने आपको दो भागों शुक्ल और कृष्णपक्ष में विभक्त कर सम्पूर्ण संसार को मेधा, लक्ष्मी, अपर्णा, दुर्गा, रौद्री, पाटला, उमा आदि देवियों से व्याप्त कर दिया ।[2]

पुराणों के इन उद्धरणों से शक्तियों की उत्पत्ति और स्वरूप पर महत्व-पूर्ण प्रकाश पड़ता है । पुरुष का जीवन स्त्री के अभाव में अशक्त रहता है और पुरुष का मन भी अकेले रमण करने में असमर्थ रहता है । इसीलिए स्त्री तत्व को शक्ति की संज्ञा प्रदान की गई है । पुराणों में शक्ति के दो रूप प्रसिद्ध है –

1. शुक्ला अथवा सौम्या
2. कृष्णा अथवा रौद्री

देवी के दोनों स्वरूप (सृजन और संहार) कार्यों से सम्बन्धित बताये गये विभिन्न भावनाओं-श्रद्धा, क्षमा, शान्ति, दया, प्रीति आदि चित्तवृत्तियों की अधिष्ठात्री भी थी ।[4]

---

1. लिंगपुराण, 1/41/38-47
2. वायुपुराण, 1/9/68-96.
3. ब्रह्मपुराण, 1/223/1-11, 17-21.
4. पद्मपुराण, 5, अध्याय 3.

आलोचित पुराण में वर्णित शक्ति अथवा शाक्त धर्म

आलोचित पुराण में शक्ति को परमशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है । शुम्भ-निशुम्भ वध-प्रसंग में शक्ति ने शिव को दूत बनाकर दानवाधिपतियों को त्रैलोक्य के राज्य को छोड़कर सातवें रसातल लोक में निवास करने का संदेश प्रेषित किया था ।[1] शक्ति को सुरेश्वरी,[2] माहेश्वरी[3], वरदाम्बिका[4], योगेश्वरी[5], भगवती[6], पापनाशिनी[7], दैत्यसुविनाशनी आदि अनेक अभिधानों से विभूषित किया गया है । शक्ति को पौराणिक भावना में विष्णु, शिव, सूर्य, इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवों द्वारा स्तुत्य कहा गया है ।[8] इन्हें तीनों लोकों का दुःख हरण करने वाली,[9] पृथ्वी को सदैव धारण करने वाली[10] तथा विश्वेश्वरी[11] कहा गया है । इन उल्लेखों से प्रमाणित है कि पुराण-संरचना के काल तक शक्ति को सर्वशक्तिमयी देवी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी ।

---

1. वामनपुराण 30/11-14.
2. वही, 30/18.
3. वही, 30/19.
4. वही, 30/28.
5. वही, 30/40.
6. वही, 30/56.
7. वही, 30/57.
8. वही, 30/58.
9. वही, 30/50.
10. वही, 30/39.
11. वही, 30/61.

शक्ति की पौराणिक महत्ता का प्रतिपादन वायु[1], ब्रह्माण्ड[2], विष्णु[3], मत्स्य[4], मार्कण्डेय[5], देवीभागवत[6], स्कन्द[7], वाराह[8], तथा शिव[9] आदि पुराणों में भी उपलब्ध है । इस प्रकार पुराणों में शक्ति की महत्ता को विशि-ष्ट स्थान प्रदान करने के क्रम में वैदिक भावना का विशेष समादर परिलक्षित होता है जिसकी प्रक्रिया उत्तर वैदिक काल में प्रारम्भ होकर पुराण काल में पूर्ण रूप से विकसित हुई ।

असुरों के विनाश में शक्ति का सहयोग

आलोचित पुराण में शक्ति के अनेक स्वरूपों में असुरहन्ता रूप को विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है । एक स्थल पर उल्लेखित है कि उन्होंने महिषासुर नगर, रक्तबीज तथा अन्यान्य-देव-शत्रुओं का विनाश किया था ।[10] शक्ति की

---

1. वायुपुराण 9/86-87.
2. ब्रह्माण्डपुराण, 4/29/145.
3. विष्णुपुराण, 5/1/86
4. मत्स्यपुराण, 13/86.
5. मार्कण्डेयपुराण, 82/1-34/36.
6. देवीभागवत, 5/2/3-19-44.
7. स्कन्दपुराण, 1/1/83, 1/60.
8. वराहपुराण, 92/1-95-65.
9. शिवपुराण, 5/46/1-63.
10. वामनपुराण, 18/37-38.

उत्पत्ति ही महान असुरों के संहार के लिए ही परिकल्पित की गई । आलोचित पुराण में एक स्थल पर उल्लिखित है कि महिषासुर से पराजित देव-समूह स्वर्ग-लोक छोड़कर त्रिदेवों के शरण गये ।[1] असुरों की यातना से कुपित ब्रह्मा विष्णु एवं शिव के मुख से महान तेज प्रकट हुआ, जो कात्यायन ऋषि के आश्रम में एकत्र होकर महान तेज-पिण्ड बन गया ।[2] प्रस्तुत पुराण में उल्लेख है कि कात्यायन द्वारा देवतेज संयुक्त वह पिण्ड सहस्त्र सूर्य के सदृश जाज्वल्यमान तथा देवी कात्यायिनी का शरीर पिण्ड बन गया ।[3] महेश्वर के तेज से उनका मुख, अग्नि के तेज से तीन नेत्र, यम के तेज से केश तथा हरि के तेज से उनकी अट्ठारह भुजायें उत्पन्न हुई ।[4] इसी प्रकार ब्रह्मा, आदित्य, चन्द्रमा, प्रजापति, रुद्र, वायु आदि देवों के तेज को ग्रहण कर शक्ति का व्यक्तित्व असुरहन्ता बन गया ।[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय धर्म के तीन प्रमुख पीठों - वैष्णव, शैव एवं शाक्त का अत्यन्त सारगर्भित विवेचन वामनपुराण में किया गया है । विवेचन का महत्व अपनी उदारता के कारण बड़े महत्व का है क्योंकि जहाँ अधिकांश पुराण किसी एक सम्प्रदाय के उत्कर्ष की सिद्धि में पर्यवसित है वहाँ वामन पुराण धर्म के विभिन्न पक्षों को सविस्तार विवेचित करते हुए भी उनमें एकसूत्रता का प्रयास करता है । इस प्रकार अनेकता में एकता, भेद में अभेद तथा विस्तार में संक्षेप की दृष्टि वामनपुराण की अपनी अद्भुत विशेषता रही है । आज के युग

---

1. वामनपुराण, 19/1-2.
2. वही, 19/6-7.
3. वही, 19/8.
4. वही, 19/9.
5. वही, 10/17.

में ऐसी शाश्वत समदृष्टि का अत्यन्त महत्व है । प्राचीन इतिहास बताता है कि शैव, शाक्त आदि साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण समय समय पर भारत राष्ट्र में बड़ी अस्थिरता पैदा हुई है । दक्षिण में तो एक ही नगर दो भागों में विभक्त हो गया । शिव और विष्णु कांची के शैवों और वैष्णवों का विद्वेष मध्यकाल में पराकाष्ठा पर था । इसी प्रकार अनेक राजवंश किसी न किसी सम्प्रदाय के आश्रयदाता थे । यदि गुप्त नरेश वैष्णव थे तो दक्षिण के चोल और पाण्ड्य वंशीय नरेश शैव थे । स्वाभाविक था कि ऐसे राजा दूसरे सम्प्रदाय से सम्बद्ध प्रजा के प्रति उतना स्नेह नहीं रख पाते थे जितना कि स्वाश्रित प्रजा के साथ । इस प्रकार धार्मिक समदृष्टि और समभाव की स्थापना करने में वामन पुराण की सम्प्रदाय समन्वयात्मक दृष्टि का महान योगदान स्वीकार किया जाना चाहिए ।

दार्शनिक विवेचन

दर्शन संभवतः भारतीय संस्कृति की समुज्ज्वलतम कृति है । पुराणों में दर्शन शास्त्र एक प्रश्न के रूप में प्रारम्भ होता है और संवाद के रूप में जीवित रहता है । पुराणों के मूलभूत प्रश्न ही दार्शनिक प्रश्न होते हैं । हर प्रश्न 'क्या' 'क्यों' और कैसे पूछता है, लेकिन 'क्या' 'क्यों' पूछने वाले सभी प्रश्न दार्शनिक नहीं होते । प्रायः ऐसे प्रश्नों में कुछ प्रश्न 'सूचना' की मांग करते हैं और कुछ अन्य 'परिभाषा' की । ये प्रश्न दार्शनिक नहीं हैं । दार्शनिक प्रश्न तो एक अन्वेषण, एक परीक्षा और एक अनुसन्धान होता है । प्लेटो ने कहा है कि दर्शन, द्वन्द्ववाद स्थापित करने के उद्देश्य से अपनी परिकल्पनाओं को नष्ट करने के उद्देश्य से अपनी परिकल्पनाओं को नष्ट करने की कला है । 'दर्शन' शब्द तक शुरू होता है जब वह अपनी ही प्रस्थापनाओं की परीक्षा करता है । अपनी ही प्रस्थापनाओं की परीक्षा करना अपने आपकी परीक्षा करना है ; और

अपने आपकी परीक्षा करना यह जानना है कि हम नहीं जानते, इसलिए हमें अन्वेषण करना है ; और कोई अन्वेषण ऐसा नहीं है जो आत्म-अन्वेषण नहीं हो । अतः दर्शनशास्त्र आत्म-परीक्षण का विज्ञान और कला है । यह प्रश्न उठाने की एक अनुपम कला है ।

दर्शन

(क) निश्चयात्मकता का आधार है और

(ख) यह यथार्थ की प्रकृति जानने का प्रयत्न करता है ।

वामन पुराण (1/3) में देवर्षि नारद महर्षि पुलस्त्य से प्रश्न पूछते हैं कि – "कथं भगवता ब्रह्मन् विष्णुना प्रभविष्णुना ।

वामनत्वं धृतं पूर्वं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ।।"[1]

अर्थात् हे ब्रह्मन् , सामर्थ्यशाली भगवान विष्णु ने कैसे पूर्व काल में वामन-शरीर ग्रहण किया था, इसे आप मुझ प्रश्न-कर्ता को बतलाइये । तथा सुन्दर वदन (मुख) वाली सती क्यों अपने शरीर को त्यागकर पर्वतराज हिमालय के घर में उत्पन्न हुई ।[2] इन प्रश्नों से तात्पर्य निकलता है कि एक ऐसा सर्व-व्यापी सामान्य तत्व है जिसको जानने पर सब कुछ जान लिया जाता है । इन प्रश्नों में 'क्या' 'कैसे' और 'क्यों' 'प्रश्न' तत्व को समेटे रहता है जिसको जानने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है । दर्शन अथवा ज्ञान दो रूपों में

---

1. वामनपुराण, 1/3.
2. वही, 1/6 "किमर्थं सा परित्यज्य स्वशरीरं वरानना ।
जाता हिमवतो गेहे गिरीन्द्रस्य महात्मनः ।।"

विभक्त किया गया है -

(1) निम्नतर ज्ञान अथवा अपराविद्या ।

(2) उच्चतर ज्ञान अथवा पराविद्या ।

अपराविद्या विशेष विज्ञानों का तथा आन्तरिक बोध के कड़ियों के रूप में वैदिक ग्रंथों के किताबी और शास्त्रीय अध्ययन का ज्ञान है जबकि पराविद्या 'अक्षर' (ब्रह्म) का ज्ञान है । इसीलिए पुराणों एवं भारतीय संस्कृति का मूल प्रश्न यथार्थ के रूप में अक्षर के ज्ञान की संभावना तथा मानव-जीवन में एक वास्तविकरण मूल्य के रूप में है ।

पश्चिम देशों में यह केवल फिलासफी अथवा विद्या का अनुराग-मात्र है, पंडितों के मनोविनोद अथवा बुद्धि-विलास की वस्तु हैं, किन्तु भारत में इसका जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसका उद्देश्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक तत्वों से संतप्त मानवता के क्लेशों की निवृत्ति है । यूरोप में दर्शन धर्म पृथक् पृथक् है । दर्शन बुद्धि का विषय है, इसका उद्देश्य सत्य की खोज है एवं धर्म श्रद्धा और विश्वास की वस्तु है किन्तु हमारे देश में धर्म और नैतिकता की आधारशिला दर्शन है । जो मानव के सम्पूर्ण आचार-विचार का परिचालक और मार्गदर्शक है ।[1]

---

1. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, हरिदत्त वेदालंकार, पृष्ठ 106.

वामन पुराण में वर्णित दर्शन

विष्णु, ब्रह्म, मत्स्य एवं मार्कण्डेय आदि पुराणों की भाँति वामन पुराण में भी न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा ॥वेदान्त॥ आदि अनेक आस्तिक दर्शन-सामग्रियाँ, यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। ये दर्शन आस्तिक इस लिए कहे जाते हैं क्योंकि वेद-प्रामाण्य इनको मान्य है। प्रत्येक दर्शन अपने अपने ढंग से मनुष्य के जीवन-मरण के बन्धन से छुड़ाकर मोक्ष प्राप्त कराने का दावा रखता है।

1. न्यायदर्शन

न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम मुनि माने जाते हैं, जिन्होंने अपने न्याय सूत्रों में इस दर्शन के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इसमें बुद्धि को सर्वोच्च स्थान, दिया गया है और इसे 'मानव के मुक्ति मार्ग को प्रस्तुत करने वाला' भी बतलाया गया है। इस दर्शन के सोलह तत्वों, यथा-प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रह-स्थान के ज्ञान को मनुष्य के निःश्रेयस की प्राप्ति का साधन बतलाया गया है।

<u>प्रमाण</u> - ज्ञान-प्राप्ति के इस साधन को चार प्रकार का बताया गया है - ॥1॥ प्रत्यक्ष, ॥2॥ अनुमान ॥3॥ उपमाएँ एवं ॥4॥ शाब्दिक।

॥1॥ <u>प्रत्यक्ष ज्ञान</u> इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है जैसा कि वामन पुराण में बलि की यज्ञशाला में भगवान वामन ॥विष्णु॥ के विराट् विश्वमय स्वरूप का बलि द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन।[1]

वामनपुराण, 65/18-29, सरो० मा० 10/28.

<u>अनुमान</u> में इन्द्रियों की सहायता के अतिरिक्त कार्य-कारण आदि सम्बन्धों के यथोचित्य की आवश्यकता पड़ती है । यथा-आलोचित पुराण में भगवान विष्णु का अदिति के गर्भ से उत्पन्न होते ही पर्वतों सहित सम्पूर्ण पृथ्वी लोक का संक्षुब्ध होना ।[1]

<u>उपमान</u> - समानता अथवा सादृश्य के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह उपमान की कोटि में आता है । उपमान में, प्रसिद्ध वस्तु-साधर्म्य से अप्रसिद्ध की साधना होता है, यथा - 'यथा विष्णुस्तथा वामनः' । आलोचित (वामन) पुराण में एक स्थल पर विवृत्त है कि प्राचीन समय में चक्रधारी विष्णु ने ही इन्द्र आदि देवताओं की कार्यसिद्धि एवं ब्राह्मणों, ऋषियों एवं गौओं के हितार्थ ही वामन-रूप धारण किया था[2], इससे दोनों (भगवान विष्णु और वामन) में परस्पर साम्य दृष्टिगत है ।

<u>आप्त</u> - अर्थात् विश्वसनीय लोगों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वही आप्त अथवा शब्द प्रमाण है । यथा - आलोचित पुराण में भगवान वामन का देवमाता अदिति के गर्भ में स्थित होने पर असुरों के तेज का विनाश होते देखकर पितामह प्रह्लाद का बलि को उपदेश देना[3] आदि ।

<u>प्रमेय</u> - प्रमाण-ग्राह्य अर्थ प्रमेय होता है । इसके अन्तर्गत, आत्मा, देह, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, पुनर्जन्म, फल, दुःख और मोक्ष - ये बारह तत्त्व आते हैं । इस दर्शन में आत्मा को परमात्मा की कोटि में रखा गया है यथा - भगवान के अवतीर्ण होते ही असुरों का निस्तेज होना, भगवान का यज्ञशाला में प्रवेश, उनका विराट् स्वरूप दर्शन आदि ।

---

1. वामनपुराण्, स०मा० 10/1-2
2. वही, 65-66
3. वामनपुराण्, स०मा० 8/1-9/11.
4. वही, 7/16; 10/35; 10/48.

3. संशय - किसी वस्तु-विशेष के सम्यक् ज्ञान के प्रति जो आशंका होती है, वही संशय है, यथा-वामनपुराण में महात्मा प्रह्लाद द्वारा दैत्यों के निस्तेज होने का कारण बतलाये जाने पर संशय को प्राप्त हुए दैत्यराज बलि का भगवान वासुदेव के प्रति शंकित (संशय उत्पन्न होना। होना कि 'हमारे पास वासुदेव से अधिक बलवान सैकड़ों दैत्य तथा दानव हैं जो महापराक्रमी एवं भूभार को धारण करने में समर्थ है। इनमें से एक एक के आधे बल के भी तुल्य कृष्ण नहीं है[1], संशय का उत्कृष्टतम उदाहरण माना जा सकता है।

4. प्रयोजन - किसी फल की इच्छा से जो कार्यारम्भ होता है वह प्रयोजन होता है - जैसा कि वामन पुराण में इन्द्र की भलाई, एवं देवताओं की कार्य-सिद्धि हेतु भगवान विष्णु का वामनरूप में अवतरण एवं सम्पूर्ण पृथ्वी को आक्रान्त कर बलि को बाँधना।[2]

5. दृष्टान्त वह है जिसमें विवाद का कोई विषय ही न रहे। आलोचित पुराण में भगवान वामन द्वारा दो ही पग में सम्पूर्ण लोक को नाप लिए जाने पर तीसरे हेतु स्थान अवशेष न होने पर बलि द्वारा बिना किसी विवाद के स्वयं को भगवान के लिए समर्पित करना, दृष्टान्त का उत्कृष्ट उदाहरण है।

6. सिद्धान्त - प्रमाणभूत बातों को कहते हैं, यह चार प्रकार का होता है - सर्वतन्त्र, परितन्त्र, अधिकरण एवं अभ्युपगम्। जैसे - वामनपुराण में समुद्रों तथा पर्वतों सहित पृथ्वी क्षुब्ध होना, अग्नि द्वारा असुरों के भागों को ग्रहण न करना आदि इस बात को सिद्ध कर देते हैं कि निश्चय ही भगवान वामन यज्ञ में प्रस्थान कर रहे हैं।[3]

---

1. वामनपुराण, सप्मा०, 8/27-32.
2. वही, 65/66.
3. वही, 10/2-5.

7. अवयव – वाक्य का अंश होता है ।

8. तर्क – द्वारा सन्देह मिटाकर ज्ञान प्राप्त किया जाता है जैसा कि वामन-पुराण में – महात्मा प्रह्लाद द्वारा भगवान् वामन के अदिति के गर्भ में प्रविष्ट होने एवं असुरों के बल का अपहरण करने की बात पर संशय उत्पन्न होने पर बलि द्वारा भगवान वासुदेव के प्रति अपशब्द कहना, जिससे क्रुद्ध हुए प्रह्लाद द्वारा बलि को श्रीच्युत होने पर शाप देना, और भगवान विष्णु को जगत नाथ बतलाकर सुसार सिद्ध करना, तदनन्तर महात्मा प्रह्लाद के उग्र वचनों को सुनकर बलि द्वारा गुरु (प्रह्लाद) को पुनः पुनः प्रणाम कर प्रसन्न करना, एवं पुनः भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद द्वारा बलि को देवेश्वर भगवान हरि के प्रति भक्तिमान बनने का उपदेश देना और श्रेय की प्राप्ति कराना[1] आदि । इस प्रकार के तर्क द्वारा सन्देह मिटाकर ज्ञान प्राप्त किया जाता है ।

9. निश्चय – निश्चय तर्क के पश्चात् फल-रूप में प्राप्त होता है अथवा सन्देह व तर्क के पश्चात् जो निश्चय होता है उसे निर्णय कहते हैं ।

वामनपुराण में भगवान वामन के अवतीर्ण होते ही असुरों के निस्तेज होने एवं महात्मा प्रह्लाद एवं बलि के बीच सन्देह व तर्क के पश्चात् बलि का भगवान विष्णु के वामनावतरण का निश्चय ज्ञान[2] इस दर्शन का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है ।

10. वाद – पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रह से गुरु-शिष्य के जो प्रश्नोत्तर होते हैं उसे वाद

---

1. वामनपुराण, स०मा० 8/1-9/11 तक
2. वही, 8/1-9/11 तक

करते हैं जैसे – आलोचित पुराण में गुरु प्रह्लाद एवं शिष्य बलि एवं गुरु शुक्राचार्य एवं शिष्य बलि का संवाद ।[3] इसी प्रकार जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान भी तर्क की पद्धति में उपस्थित होने वाली बाधायें हैं जो वामनपुराण के विभिन्न स्थलों पर दृष्टिगत होती है । इस प्रकार स्पष्ट है कि न्याय दर्शन मानव के लिए दुःखों को दूर करने की योजना प्रस्तुत करता है ।

2. वैशेषिक दर्शन

कणाद मुनि इस दर्शन के प्रणेता माने जाते हैं । वैशेषिक दर्शन के अनुसार सभी प्रकार की हिंसायें दोषमयी हैं और किसी भी दुष्ट पुरुष से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखना दोष है ।[2] अतः मानव को अपने अभ्युदय के लिए केवल वे ही कार्य करने चाहिए, जिनकी उपयोगिता तथा प्रयोजन शास्त्र-सम्मत हो ।[3] इस दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान केवल दो ही प्रमाण माने गये हैं । इन प्रमाणों द्वारा नैयायिक पद्धति पर सात पदार्थों – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव का ज्ञान प्राप्त किया जाता है ।

परमाणुवाद, वैशेषिक दर्शन की विशेषता रही है, अतः इसे जगत् का उपादान कारण माना जाता है । इसमें जगत् व ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और यह अहिंसा ही परम धर्म है एवं हिंसा अधर्म है, इस बात को निर्दिष्ट कर संसार को अदृष्ट आत्मा से सम्बन्धित करता है ।

---

1. वामनपुराण, स०मा० 8/1-9/11, 10/1-32.
2. न्याय-भाष्य 4/1/47.
3. कणाद-सूत्र, 6/1/7-8.

वामनपुराण में धर्म स्वरूप भगवान वामन का अहिंसात्मक रूप से अधर्म स्वरूप राजा बलि पर विजय प्राप्त करना है इस बात की साक्षि करती है कि संसार से घृणा करना ही हिंसा है । और राजा बलि की विनम्रता, शील एवं भक्ति से प्रसन्न भगवान विष्णु (वामन) का बलि को सावर्णिक मन्वन्तर में इन्द्र बनने का वरदान प्रदान कर सुतल लोक भेजना इस बात को निर्दिष्ट करता है कि धर्म अर्थात् श्रद्धा, अहिंसा, सत्य वचन, भावशुद्धि, अक्रोध आदि गुणों से सदैव हर प्रकार की उन्नति ही होती है ।

अतः स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन में सर्वसाधारण के आचार-पथ की रूप-रेखा को नियोजित किया जाता है ।

3. <u>सांख्य दर्शन</u>

सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि ने इस दर्शन में प्रकृति एवं पुरुष सम्बन्धी तत्त्वान्वेषण तथा जीवन की भौतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए जिस पद्धति को स्वीकार किया है वह प्रधानतया ज्ञान मार्ग से मानव के व्यक्तित्व के परम विकास की योजना प्रस्तुत करता है । प्रकृति एवं पुरुष का सम्बन्ध परस्पर अन्धे और लंगड़े के सदृश हैं । प्रकृति यदि अंधी है, तो पुरुष लंगड़ा है । जब तक पुरुष प्रकृति से अपना पृथकत्व नहीं समझ लेता, तब तक वह संसार चक्र में भ्रमता रहता है और जब उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब वह कैवल्य को प्राप्त करता है । सत्व, रजस् और तमस् युक्त इस त्रिगुणात्मक प्रकृति के प्रत्येक गुण परस्पर सम्बद्ध होते हुए क्रमशः ज्ञान, कर्म और मन्दता के कारण बनते हैं । यही त्रिगुणात्मक प्रकृति विकसित होकर सृष्टि की रचना करती है जिसमें पुरुष अविद्या के कारण फँस जाता है ।

प्रकृति का विकास इस प्रकार होता है -
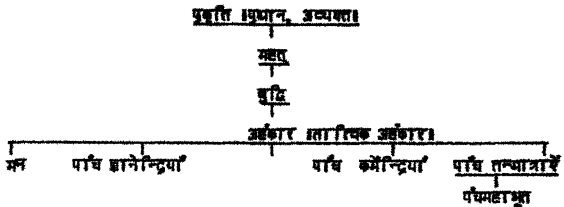
इस प्रकार प्रकृति से चौबीस तत्त्व विकसित होते हैं एवं पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष है । कुल मिलाकर सांख्य के पच्चीस तत्त्व माने गये हैं । सांख्य के अनुसार प्रकृति के अतिरिक्त पुरुष की सत्ता भी है । पुरुष त्रिगुणातीत, निर्विकार, शुद्ध, उदासीन, चैतन्य और विवेकी है । वह न तो कारण है और न ही कार्य । वह कोई भी कार्य नहीं करता वरन् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है ।

ऐसी परिस्थिति में पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध एकमात्र प्रकृति की ओर से सम्भव होता है और पुरुष को प्रकृति के पाश से मुक्त कराने की माया भी प्रकृति की ही रची हुई है । प्रस्तुत आलोचित पुराण में पुरुष रूप दैत्यश्रेष्ठ बलि का देवताओं को पराजित कर सम्पूर्ण लोक में एकाधिकार प्राप्त करने की प्रेरणा भी प्रकृति रूप भगवान विष्णु से प्राप्त होती है और बाद में वामन (वटु) रूप भगवान विष्णु की याचना पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर मोह पाश से मुक्त कराने की माया अथवा प्रेरणा भी भगवान विष्णु से ही प्राप्त की गई है। इस प्रकार दोनों ही स्थिति में भगवान वामन (विष्णु) रूप प्रकृति श्रेष्ठ है ।

वास्तव में पुरुष तो सदैव निष्क्रिय होता है, वह न तो बन्धन में पड़ता

है और न ही मुक्त होता है । अतः स्पष्ट है कि बन्धन और मोक्ष की धारणा पूर्णतः बनावटी और मिथ्या है ।

4. योग दर्शन

इस दर्शन के प्रणेता पतंजलि मुनि योग एवं सांख्य में सैद्धान्तिक समानता बतलाते हुए कपिल के निरीश्वर सांख्य से इसकी भिन्नता दर्शाने के लिए इसे सेश्वर सांख्य भी कहते हैं । इसके सिद्धान्तों के अनुसार सांसारिक जीवन का उद्भव इच्छाओं के कारण होता है इसलिए चित्तवृत्तियों का निरोध परम आवश्यक है और यही सच्चा योग है । योग दर्शन जीवन की पवित्रता और चिन्तन, मनन और निदिध्यासन द्वारा मानव के व्यक्तित्व विकास एवं उद्देश्य की पूर्ति करता है । योग-दर्शन के अनुसार चित्त की प्रसन्नता के लिए सभी प्राणियों के सुख के प्रति, मैत्री भाव, दुःख के प्रति करुणा, पुण्य के प्रति मुदिता (हर्ष) तथा अपुण्य के प्रति उपेक्षा को अनिवार्य बताया गया है ।[1]

चित्तवृत्ति के निरोध के लिए अष्टांगयोग की साधनों को आवश्यक माना गया है । ये अष्टांगयोग क्रमशः इस प्रकार हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ।

यम - अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह है ।

नियम - के द्वारा शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति होती है । जब तक किसी मनुष्य का चरित्र अच्छा नहीं हो जाता, तब तक वह न तो सत्य की खोज करने में सफल हो सकता है और न ही मुक्ति पा

---

1. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम्
योगसूत्र, 1/33.

सकता है जैसा कि वामन पुराण में महात्मा प्रह्लाद के ज्ञानामृत रूप उपदेश[1] का पान किये जाने के पश्चात् निर्मल चित्तवृत्ति को प्राप्त राजा बलि भगवान वामन रूप सत्य को प्राप्त करने में सफल होते हैं और अन्त में भगवान के परम धाम (मोक्ष) के अधिकारी होते हैं। अतः स्पष्ट है कि यम और नियम के पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाने के पश्चात् ही मानव व्यक्तित्व का विकास सम्भव हो पाता है।

धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा चंचल चित्त पर शनैः शनैः अधिकार प्राप्त होता है। धारणा चित्त की स्थिरता है, ध्यान धारणा की ही विकसित अवस्था है और ध्यान की विकसित अवस्था ही समाधि है। समाधि के दो क्रम होते हैं -

1. सम्प्रज्ञात और 2. असम्प्रज्ञात

सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में योगी को ज्ञात रहता है कि हमने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया है जो मुक्ति के लिए आवश्यक है जैसा कि प्रस्तुत आलोचित पुराण में महात्मा प्रह्लाद के द्वारा भगवान विष्णु (वामन) के प्रति श्रद्धा और भक्ति का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् निरन्तर भगवान वामन की भक्ति और आराधना से स्पष्ट है।

राजा बलि की यज्ञ शाला में जब भगवान वामन प्रवेश कर उनसे तीन पग की याचना कर दो ही पग में सम्पूर्ण लोक को नाप कर तीसरे पग हेतु स्थान देने को कहते हैं तब राजा बलि भगवान के तीसरे पग के लिए स्वयं को समर्पित कर देते हैं[2] क्योंकि इस अवस्था तक उनमें भगवान वामन (विष्णु) के प्रति भक्ति-

---

1. वामनपुराण, स०मा० 8/16-9/11.
2. वामनपुराण, 65, स०मा० 10/44, 47.

निष्ठा प्रगाढ़ हो चुकी होती है और उन्हें ज्ञात रहता है कि मैंने सत्य का। ज्ञान प्राप्त कर लिया है जो कैवल्य के लिए आवश्यक है।

असम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्ति का सर्वथा लोप हो जाता है। अपने व्यक्तित्व और अस्मिता का ज्ञान नहीं रह जाता। असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहते हैं जैसे वामन पुराण में भगवान् वामन को सहर्ष सर्वस्व समर्पित करने वाले राजा बलि।

पूर्वमीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन के प्रणेता जैमिनी मुनि कहे जाते हैं। इसे कर्म-मीमांसा भी कहते हैं क्योंकि इसका सम्बन्ध कर्मकाण्ड से होता है। इसके मन्तव्यानुसार नित्य, नैमित्तिक यज्ञादि के करने से ही सच्ची मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

इसमें यज्ञों का ही प्राबल्य है, दार्शनिक सिद्धान्त तो गौण रूप से हैं। पूर्व-मीमांसा में तीन प्रमाण माने गये हैं - ।1। प्रत्यक्ष, ।2। अनुमान और ।3। शब्द। पश्चात् के आचार्यों प्रभाकर और कुमारिल ने तीन प्रमाण और माने हैं - उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।

इन प्रमाणों से सिद्ध ज्ञान ही उपादेय होता है। मीमांसा-दर्शन के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण बहुत कुछ न्यायदर्शन के प्रमाणों से मिलते-जुलते हैं। अर्थापत्तिद्वारा ऐसे सत्य की प्रतीति की जाती है जो प्रत्यक्ष तो नहीं होता, पर उसके सत्य होने में किसी प्रकार का सन्देह हो ही नहीं सकता जैसे यदि किसी परीक्षार्थी का नाम 'सफल विद्यार्थियों' की सूची में नहीं है तो उसकी असफलता के ज्ञान के लिए मीमांसक लोगों को अर्थापत्ति प्रमाण की आवश्यकता पड़ सकती है। इस प्रमाण के अनुसार मीमांसा में मृत्यु के पश्चात्

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की गई है । जैसे वामनपुराण में राजा बलि की वास्तविक दानशीलता और भक्तिनिष्ठा का परिचय तब ही पाता है जब भगवान वामन की याचना पर वह अपना सर्वस्व अर्पित कर देता है ।[1] वेदों के अनुसार याज्ञिक कर्मों का फल भावी जीवन में मिलता है जिसका प्रमुख अंग त्याग है । भगवान (वामन) की याचना पर राजा बलि का सर्वस्व त्याग ही उसे (बलि को) भावी जीवन में अर्थात् सावर्णिक मन्वन्तर में इन्द्र की पदवी और एक कल्प की आयु रूप फल को प्रदान कराता है ।

अभाव प्रमाण के द्वारा अनुपलब्धि का ज्ञान प्राप्त होता है जैसे यदि कभी रात्रि का अंधकार हो, तो सूर्य का अभाव जानने के लिए मीमांसा-दर्शन का अनुपलब्धि (अभाव) प्रमाण ही उपयोगी होता है । जैसे वामन पुराण में भगवान वामन के बलि की यज्ञशाला में प्रवेश करते समय पृथ्वी का कम्पित होना, अग्नि का द्विजेन्द्रों द्वारा भक्ति पूर्वक ऋग्वेद एवं सामवेद के मन्त्रों की आहुतियों से हुत यज्ञीय भागों का ग्रहण न किया जाना आदि भगवान विष्णु के निश्चित आगम को सिद्ध कर देते हैं अतः ऐसे स्थलों पर अभाव-प्रमाण ही उपयोगी होता है । क्योंकि पूर्व-मीमांसा में कितने ही देवताओं का उल्लेख है जो यज्ञ में हविष्य ग्रहण करते हैं । जैसे अश्वमेध, राजसूय यज्ञ में - विष्णु ।

अतः इन देवताओं के अतिरिक्त अन्य किसी सर्वोपरि देवता की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । अतः इस सिद्धान्त के अनुसार कर्म ही परम तत्व है और ईश्वर ही धर्म है । कर्म-काण्ड के पथ पर चलने वालों के लिए उच्च चरित्र के आदर्श सदैव ही उनके पूज्य देवताओं की चरित-गाथा में उपलब्ध रहे हैं जैसा कि वामनपुराण में कर्मकाण्ड के पथ पर चलने वाले राजा बलि के साथ भगवान वामन का चरित्र ।[2]

---

1. वामनपुराण, 65/51-52.
2. वहीं, सं0वा0 1-70 अध्याय.

वेदान्त दर्शन

महर्षि बादरायण द्वारा प्रणीत इस दर्शन को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। वैदिक साहित्य की सारी दार्शनिक शिक्षाओं को वेदान्त नाम से अभिहित किया गया है। इस दर्शन के अनुसार प्रमाण दो हैं - ॥1॥ श्रुति ॥प्रत्यक्ष॥ एवं ॥2॥ स्मृति ॥अनुमान॥ ।

जगत में ब्रह्म ही सत्य है तथा प्रकृति एवं पुरुष उसी के परिवर्तित स्वरूप हैं। इस दर्शन में जिस शाश्वत आनन्द की कल्पना की गई है, उसका एक मात्र आधार ब्रह्मानुभव ही है। यही ब्रह्म की अनुभूति, मानव के व्यक्तित्व की सर्वोच्च झलक है। ब्रह्म सर्वव्यापक ही नहीं है, अपितु वह सब कुछ है।[1] ब्रह्म के माध्यम से ही मानव अपने में सबको और सबमें अपने को पाता है, जैसा कि वामन पुराण में दैत्यराज बलि की भगवान के प्रति प्रगाढ़ भक्ति एवं निष्ठा से स्पष्ट है।

आगे चलकर वेदान्त दर्शन तीन शाखाओं में विकसित हुआ - अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, और द्वैत।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार - मानव-जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य जीव और ब्रह्म की वास्तविक एकता का ज्ञान प्राप्त करना है। ज्यों ही मानव को यह प्रतीति हो जाती है कि वह ब्रह्म है त्यों ही उसकी लौकिक विचार-धारा भी असीमित होकर अस्मिता और संकीर्णता के गर्त को छोड़कर विपुलता की ओर चल पड़ती है, जैसा कि वामनपुराण में दैत्यराज बलि जब तक मोहग्रस्त और आत्मबल के घमण्ड से विमुढ़ बना होता है तब तक अज्ञानापूरित और ब्रह्म से अनभिज्ञ होने

---

1. वेदान्तदर्शन, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

के कारण वह महात्मा प्रह्लाद द्वारा भगवान विष्णु के अवतीर्ण होने के कारण असुरों का निस्तेज होना बताये जाने पर भी अहं को प्राप्त हुआ । बलि पितामह से भगवान के प्रति दुर्वचनों को कहता हुआ ।[1] पितामह प्रह्लाद को पीड़ित करता है । क्रुद्ध प्रह्लाद द्वारा भगवान की उपेक्षा करने वाले बलि को श्रीच्युत होने का शाप दे दिया जाता है । तदनन्तर अज्ञानावरण के हट जाने पर उग्र पितामह प्रह्लाद को प्रणाम करते हुए राजा बलि अपने किये गये अपराधों के लिए पश्चाताप् करते हुए भगवान हरि का स्मरण करते हैं और प्रह्लाद से उच्च आदर्श को प्राप्त कर भक्तिमान् और असीम विचारों से युक्त हो ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि मानव अपने में ही सीमित रहकर तुच्छ होता है किन्तु जब वह अपनी ब्रह्मवत् सत्ता को पहचान लेता है, तब वह महान् हो जाता है ।

<u>विशिष्टाद्वैत</u> में वैष्णव दर्शन का उपर्युक्त वेदान्त के साथ सामंजस्य स्थापित किया गया है । इसके अन्तर्गत रामानुजाचार्य ने ब्रह्म, जीव और जगत् तीनों को सत् माना है पर तीनों की कोटि पृथक् है । अर्थात् तीनों पृथक् होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं । ब्रह्म विशेष्य है तथा जीव और प्रकृति उसके विशेषण है जैसा कि वामनपुराण में भगवान वामन (विष्णु) विशेष्य स्वरूप हैं लेकिन दैत्यराज बलि और उसके गुण विशेषण स्वरूप निबद्ध हैं ।

रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार मानव जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य नारायण-लोक की प्राप्ति है जो ज्ञान और भक्ति से सम्भव है । भक्ति मार्ग

---

1. वामनपुराण, सरो० मा० 8/29-32.

की तीन शाखाओं में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग है। कर्मयोग में भगवान् को सर्वस्व समर्पण करके निष्काम कर्म करने की आवश्यकता पड़ती है जैसा कि प्रस्तुत आलोचित पुराण में राजा बलि का भगवान वामन के प्रति सर्वस्व समर्पण तथा निष्काम अथवा निस्वार्थ कर्म।

ज्ञान-योग में आत्मा और परमात्मा का क्रमशः ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है जिसके लिए ध्यान और समाधि का आश्रय लेना आवश्यक है। वामन पुराण में भगवान वामन द्वारा सर्वस्व छीन लिए जाने पर भी अविचलित चित्त वाले दैत्यराज बलि का भगवान विष्णु (वामन) के ध्यान में मग्न होना ज्ञान योग का दृष्टान्त है; और

भक्ति-योग में तो सदैव परमात्मा का ध्यान ही अपेक्षित होता है जैसा कि भक्तिमान् राजा बलि का भगवान वामन (विष्णु) का स्मरण अथवा ध्यान।

द्वैत वेदान्त-दर्शन में भी नारायण अथवा विष्णु की ही प्रतिष्ठा हुई है और उन्हें ही परमब्रह्म परमात्मा माना गया है। परमात्मा की शक्ति लक्ष्मी की भी इस दर्शन में कल्पना की गई है।

शंकराचार्य के वेदान्तसूत्र जिसे मायावाद कहते हैं, के अनुसार हमें जो कुछ भी दिखाई देता है वह सत्य नहीं है बल्कि मात्र आभास है। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के अन्धकार में ब्रह्म इस जगत् के रूप में दिखाई देने लगता है जैसा कि वामनपुराण में 'भक्तश्रेष्ठ महात्मा प्रह्लाद द्वारा जब भगवान वामन के अवतीर्ण होने के कारण असुरों के तेज क्षय का को अद्भुत बताया जाता है तो अज्ञान से आवृत्त होने के कारण ही राजा बलि अपने पितामह प्रह्लाद से कहता है कि 'हमारे पास वासुदेव

से भी अधिक बलवान् सैकड़ों दैत्य और दानव हैं जो भूभार को धारण करने में समर्थ हैं ।[1] अतः स्पष्ट है कि बलि का भगवान वामन के प्रति इस प्रकार कहा जाना मायान्वित अथवा अज्ञानावृत के कारण ही है । इस प्रकार अनेकत्व केवल आभास है एवं एकत्व एक-मात्र सत्य है । यथा - 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जब जीवात्मा सच्चे ज्ञान के प्रकाश में अविद्यान्धकार को दूर कर माया के फन्दे को तोड़ देता है तब उसे एकत्व का भास होने लगता है और वह अनुभव करने लगता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् "मैं ही ब्रह्म हूँ" । आलोचित पुराण में वर्णित अज्ञानवश भगवान के प्रति दुर्वचनों को कहे जाने एवं पितामह द्वारा 'श्रीच्युत' से शापित, मायान्वित बलि का भगवान के प्रति कहे गये दुर्वचनों के लिए पश्चाताप करते हुए पितामह प्रह्लाद से क्षमा याचना करना और दैवेश्वर (ऋषिगण) का स्मरण करना, तदनन्तर प्रसन्न हुए पितामह का बलि को भगवान हरि के प्रति दृढ़-भक्ति का उपदेश देना, बलि का भगवान के प्रति दृढ़ आस्था और भक्तिमान् होना' आदि उद्धरणों से उप-रोक्त कथन पूर्णतः स्पष्ट है ।

यही कारण है कि आलोचित पुराण में भगवान वामन द्वारा तीन पग भूमि की याचना को राजा बलि द्वारा सहर्ष स्वीकार कर लिए जाने पर भगवान वामन जब दो ही पगों में सर्वलोकों को आक्रान्त कर लेते हैं तो शेष (तीसरे) पग हेतु राजा बलि स्वयं को समर्पित कर भगवान के प्रति अपनी अगाध निष्ठा और भक्ति का परिचय प्रस्तुत करते हैं ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि न केवल वैदिक काल में ही वरन् पुराण

---

1. वामनपुराण, सरो०मा०, 8/28-32.

काल में भी 'दर्शन' की अनुपम महिमा थी और इसके प्रति लोगों की स्वाभाविक रुचि भी थी। यही कारण है कि मानवों के साथ-साथ दानवों के जीवन की समग्र गति-विधियों पर भी दर्शन का अप्रतिम प्रभाव रहा है, जिसका स्पष्ट उदाहरण आलोचित पुराण में यत्र-तत्र, दृष्टगत है।

---:0:---

षष्ठ अध्याय

साहित्यिक - सौन्दर्य - विवेचन

साहित्यिक सौन्दर्य का परिवेश - "प्रकृति वर्णन"

भूमिका

साहित्य शैली के विकास में, सौन्दर्य के परिवेश का अमिट प्रभाव पड़ता है । क्योंकि किसी भी काल का मान्यता, युग की चेतना तथा सामाजिक रूढ़ियाँ उस युग के साहित्य को विशिष्ट शैली का आश्रय लेने को बाध्य करती है । अतः साहित्य की विभिन्न शैलियाँ यथा - रस, छन्द, अलंकार आदि में सौन्दर्य एक महत्वपूर्ण तत्व है जिसका काव्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है । प्रत्येक काव्य रचना, चाहे वह ऐतिहासिक हो अथवा पौराणिक, स्त्री के मुख सदृश होती है जैसे - स्त्री का मुख कितना ही कान्तिमान क्यों न हो, आभूषणों के बिना वह आकर्षक नहीं होता[1] ठीक उसी प्रकार कोई भी काव्य सौन्दर्य के बिना नीरस और अनाकर्षक होता है । अतः सौन्दर्य को साहित्य का आभूषण कहा जाता है ।

वस्तुतः सौन्दर्य प्रकृति की ही देन है । प्रकृति में निहित सौन्दर्य ही सम्पूर्ण विश्व वाङ्मय को अंकुरित करता है । संस्कृत साहित्य का प्रत्येक काव्य चाहे वह रामायण हो, महाभारत हो, पुराण हो अथवा कालिदास, बाण, भव-भूति आदि महाकवियों की रचना हो सभी को प्राकृतिक सौन्दर्य के परिवेश में ही सजाया, संवारा गया है । संस्कृताचार्य वामन ने साहित्यिक सौन्दर्य को इस प्रकार समझाया है -

"यदि हम, पुष्पों का सौन्दर्य ग्रहण करने के लिए पुष्प-वृक्ष लगाते हैं तो हम सौन्दर्य ग्रहण के उद्देश्य से प्रेरित होकर ही वृक्षारोपण करते हैं । परन्तु

---

1. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम् ।

हम सौन्दर्य का रोपण नहीं करते । हमें बीज बागीचा बोना पड़ता है और जब हम बीज बोते हैं तो इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक हो जाता है कि इसकी वृद्धि के लिए किस प्रकार की मिट्टी और ऋतु अपेक्षित है । साथ ही इसे सींचने के लिए जल की मात्रा पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है । परन्तु सौन्दर्य का प्रदर्शन वह तभी कर पाता है जब वह पौधा बड़ा होता है और फूल देने लगता है । ठीक यही स्थिति काव्य की भी होती है । यदि काव्य निर्माण की सामान्य बातों को समझना है तो कोई भी अपना प्रथम प्रयास सौन्दर्य तत्व से आरम्भ नहीं करेगा । प्रथम उसे बीज, पौधे, मिट्टी, पानी, खाद आदि से परिचित होना पड़ता है अर्थात् उसे प्रकृति के अन्तर्गत ऋतु, वन, नदियों, पर्वतों, जलाशयों आदि से परिचित होना पड़ता है, जिससे वह सौन्दर्य-तत्व, अलंकार, रस-निष्पत्ति, इतिवृत्ति, आदि की समीचीनता को प्रमाणित कर सके ।"

<u>प्रकृति का स्वरूप</u>

प्रकृति सर्वदा से मानव-मन को आकर्षित करती रही है । भारतीय वाङ्मय में तो प्रकृति का महत्व वैदिक काल से लेकर आज तक के काव्यों में विभिन्न रूप से वर्णित है । वैदिक वाङ्मय के ऋषि मुनियों ने विराट्-चेतन सत्ता के व्यापक प्रसंग में उषा, सविता, वरुण, इन्द्र, चन्द्र, मरुत आदि प्राकृतिक तत्वों का नैसर्गिक रूप का प्रचुर मात्रा में वर्णन किया है । वेद संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों में भी प्रकृति के प्रतीक, उपमान रूपक आदि की भरमार है । वाल्मीकि रामायण, महाभारत एवं पुराण में शुद्ध प्रकृति चित्रों का जैसा संश्लिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है वैसा कालिदास और भव-भूति के सिवा अन्य किसी कवि के काव्य में दृष्टिगत नहीं होता ।

वामन पुराण का प्रारम्भ ही कवि ने प्रकृति के स्थूल दृश्यों यथा - वर्षा-वर्णन, शरद् वर्णन आदि से किया है जिसकी अनुपम छटा पाठक एवं श्रोतागण को बरबस आकृष्ट कर लेती है । चूँकि स्थूल प्रकृति का आनन्दास्वाद, जन-सामान्य के लिए सुलभ होता है । अतः प्रकृति के स्थूल दृश्यों - यथा - पर्वतों, नदियों, वनों, तालाबों, मानसरोवरों, वृक्षों पक्षियों का कलरव, लता-वितानों आदि अनेक प्रसंगों को प्रायः सभी कवियों ने अपने काव्य ग्रन्थों में यत्र-तत्र सर्वत्र वर्णित कर जन-जन पर काव्य की मनोहरता का दिग्दर्शन कराकर नवीन मोड़ प्रदान किया है ।

चूँकि सूक्ष्म प्रकृति जन-सामान्य द्वारा सरलता से ग्राह्य नहीं होता, उसे कुछ प्रखर बुद्धि वाले ही समझ पाते हैं अतः सूक्ष्म प्रकृति कवि की साधारण कल्पना से परे सूक्ष्म मन की अभिव्यक्ति होती है । स्वयं कवि भी कभी-कभी सूक्ष्म प्रकृति के गूढार्थ से भ्रमित हो जाता है तो सामान्य जन की बात ही क्या है ? बिना स्थूल प्रकृति को समझे सूक्ष्म-प्रकृति तक पहुँचने की कल्पना मनुष्यमात्र के लिए असम्भव है । इसी दृष्टि से आलोचित पुराण का प्रारम्भ भी वर्षा वर्णन एवं शरद वर्णन रूप स्थूल प्रकृति से किया गया है । आलोचित पुराण में वर्णित स्थूल प्रकृति का चित्रण कुछ इस प्रकार है -

यथा - <u>वर्षा वर्णन</u>

विभान्ति धारा कुमुदावदाता
न मन्दगामी तोयधरा मनोहर ।
स्फुरन्ति नीलाम्बुधरेषु विद्युतो
वाशन्ति केकारवमेव बर्हिणः ॥

विकासमायान्ति च पंकजानि
चन्द्रांशवो भान्ति कलाः कुमुद्वतः ।
नन्दन्ति वृक्षाण्यपि गोकुलानि
सन्तश्च संतोषमनुव्रजन्ति ॥

सरस्सु पद्मा गगने च तारका
जलाशयेष्वेव तथा पयांसि ।
सतां च चित्तं हि दिशां मुखैः समं
वैमल्यमायान्ति शशांककान्तयः ॥[1]

प्रकृति के इन स्थूल वर्णन के अतिरिक्त आलोचित पुराण में सूक्ष्म प्रकृति का वर्णन भी अन्य अनेक प्रकार से वर्णित है । कहीं प्रकृति आलम्बन रूप में दिखाई देती है तो कहीं उद्दीपन रूप में, अथवा कभी मानव के मनोवेगों की क्रीड़ा स्थली का रूप धारण कर लेती है और कभी सम्पूर्णतः रचनाकार की मनोवृत्तियों, भावनाओं आदि पर आश्रित सी हो जाती है । इसका स्पष्ट उदाहरण कालिदास और भवभूति जैसे कवियों के काव्यों में वर्णित प्रकृतिवर्णन में पूर्णतः लक्षित है । एक ओर कालिदास यदि प्रकृति के कोमल रूप के प्रेमी है तो भवभूति प्रकृति के उग्र रूप को अधिक पसन्द करते थे, किन्तु पुराणों के रचयिता-कार महर्षि व्यास ने प्रकृति के दोनों पक्षों कोमल एवं उग्र, को अपने विशाल पुराण ग्रन्थ में बहुत ही चातुर्यकारिता के साथ प्रयुक्त किया है । यथा-

ववाग्नी बलाकाः सहसा रुद्रुंमपमावृताः ।
विकृताः पुष्किलावर्तो वाताः सूर्योदयो ध्रुवम् ॥
पपात वायो विभातान्नि विकृताः कुसुमोत्कराः ।
असौ विलापको चन्द्र उदितश्च प्रतापवान् ॥[1]

---

1. वामनपुराण, 16/30-31.

अर्थात् यतः गुंजार कर रहे भ्रमर समूह से आवृत्त ये सुन्दर कमल विकसित दिखलाई पड़ रहे हैं अतः निश्चय ही सूर्योदय हुआ है ।

तथा च, यतः ये कुमुदवृन्द विकसित हैं अतः यह ज्ञात होता है कि प्रतापवान चन्द्रमा उदित हुआ है ।

ततः क्रोधाभिभूतेन भानुना रिपुभेदिभिः ।
भानुभी राक्षसपुरं तद् दृष्टं च सकोपया ।।
स भानुना तदा दृष्टः क्रोधाध्मातेन चक्षुषा ।
निपपाताम्बराद् दृष्टः क्षीणपुण्य इव ग्रहः ।।[1]

अर्थात् क्रोधाभिभूत सूर्य ने रिपुभेदी रश्मियों के द्वारा भलीभाँति उस राक्षसपुर को देखा । उस समय सूर्य द्वारा क्रोधपूर्ण दृष्टि से देखा गया वह पुर क्षीणपुण्य ग्रह के सदृश आकाश से गिर पड़ा ।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि एक ओर जहाँ पुराणकार ने सूर्य को अति कोमल रूप में अभिव्यक्त किया है वहीं दूसरी ओर उसके सूर्य के। अति रुद्र रूप को प्रस्तुत कर अपनी निपुणता का परिचय दिया है ।

उद्दीपन रूप में भी प्रकृति-चित्रण संस्कृत साहित्य में कम नहीं हुआ है, किन्तु प्रकृति को विभाव की कोटि में आलम्बन मानकर वर्णन करने की शास्त्रीय मर्यादा परवर्ती संस्कृत के प्रबन्ध काव्यों में नहीं रही है । इसी कारण उनमें प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णनों में उतनी तल्लीनता नहीं पाई जाती ।

---

1. मार्कण्डेयपुराण 16/38-39.

वामन पुराण में भक्ति-काल में भी प्रकृति का स्वतन्त्र-चित्रण हुआ है और आलम्बन-उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत होने के साथ ही साथ उसमें उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति भी पाई जाती है । महर्षि वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, कालिदास, बाण आदि में जहाँ प्रकृति मानवीय भावों के साथ चलती है, वहाँ मानव को उपदेश देने में कुशल भी है - यथा -

भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां
सुतदुहितृकलत्रत्राणभारार्दितानाम् ।
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां
भवति शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम् ।।[1]

अर्थात् संसार रूपी समुद्र में निमग्न, द्वन्द्व रूपी वायु से आहत, पुत्र, कन्या, पत्नी आदि की रक्षा के भार से दुःखी, भयंकर विषयरूपी जल में मग्न हो रहे नौकारहित मनुष्यों के लिए विष्णु रूप नौका ही एक मात्र शरण होती है ।

आलोचित पुराण का सम्पूर्ण 67 अध्याय मानवीय भावों के साथ चलती प्रकृति, द्वारा प्रदत्त मानव-उपदेश से अलंकृत है ।

प्रकृति-वर्णन में खिलखिलाती हुई चाँदनी, लहराता हुआ मन्द-पवन, कलकल करती हुई जलधारा, रात्रि में पपीहे की पुकार और उपवन में कोकिल का स्वर, नायक-नायिका के प्रिय मिलन के लिए उनके हृदयों को गुदगुदा देते हैं । प्रकृति, काव्य में संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों को उद्दीप्त करती

---

1. वामन पुराण, 67/28.

है । संयोग में प्राकृतिक उपादान प्रेमी-प्रेमिका के परस्पर अनुराग को बढ़ाते हैं और मिलन को अधिक सुखपूर्ण बना देते हैं यथा –

> यत्र क्रीडां विदधतौ सुकुसुमतरवौ वारिणो बिन्दुवारि-
> गन्धाढ्यैर्गन्धचूर्णैः प्रविरलमकरोत् मुग्धिता मुग्धिकायाम् ।
> मुक्तादामैः प्रकामं हरगिरितनया क्रीडनार्थं तदाऽन्यत्
> पश्चात्सिन्दूरधूलैरविरतविततैर्मङ्गलः क्ष्मां सुरक्ताम् ।।[1]

"अर्थात् सुन्दर पुष्पों वाले वृक्षों से अलंकृत भूमि के घेरे में क्रीड़ा करते हुए शंकर और पार्वती ने एक दूसरे पर सुगन्धित जलबिन्दुओं और गन्धचूर्णों की अविरल वर्षा की । तदनन्तर उन दोनों ने क्रीड़ार्थ एक दूसरे को मुक्तादाम से मारने के उपरान्त सिन्दूरधूल की अविरल वर्षा से पृथ्वी को लाल कर दिया।"

किन्तु वियोगावस्था में ये प्राकृतिक उपादान इससे भी अधिक प्रभाव-कारी सिद्ध होते हैं । वियोगावस्था में ये काम की अन्तर्दशाओं को उद्दीप्त करने में सहायक होते हैं । यथा – सती-वियोग में उद्विग्न होकर अरण्यों में विचरण करते हुए भगवान शंकर को जब वनों, सरोवरों, नदियों, तटों, कमल-वनों, एवं पर्वतों आदि ने जब अत्यधिक विचलित कर दिया तो वे सती को स्मरण कर इस प्रकार कहते हैं –

> 'विभूति तिष्ठ किं मूढे त्यजसे मामनिन्दिते ।
> सुभ्रु त्वया विरहितो दग्धोऽस्मि मदनाग्निना ।।[2]

---

1. वामनपुराण, 27/37.

2. वही, 6/34.

षट्पदैरपि कामार्तैर्न्यस्तं परिष्वज्य सुलोचने ।
मान्यथा मन्यते लोकः शयनेनापि मां प्रिये ॥[1]

इसी प्रकार पावस के उमड़ते-घुमड़ते मेघ, वसन्त के फलते फूलते उपवन, शरद् की दुग्धस्नात ज्योत्स्ना और प्रकृति के वैसे ही अनेक स्वरूप वियोगी हृदय को उद्दीप्त बना देते हैं ।

प्रकृति-आलम्बन रूप में

प्रकृति के विशाल-सौन्दर्य का क्षेत्र है पौराणिक काव्य । सौन्दर्य के धरातल से सम्बद्ध प्रकृति और काव्य को कवि की अनुभूति के साथ अभिव्यक्त किया गया है । अपने पूर्व संस्कारों में कवि प्रकृति के सामने अनुभूतिशील हो उठता है और अपनी कल्पना से इस सौन्दर्य को व्यंजित करता है । काव्य अथवा पुराण में प्रकृति आलम्बन-स्वरूप होती है और कवि भावों का आश्रय ।

इस प्रणाली में प्रकृति का यथा-तथ्य चित्रण करना ही कवि का लक्ष्य होता है और इसी से कवि की मौलिकता का पता चलता है । प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करने की दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं -

1. बिम्ब ग्रहण की प्रणाली ।
2. नाम परिगणन प्रणाली ।

इनमें बिम्ब प्रणाली के माध्यम से प्रकृति का एक ऐसा दृश्य प्रस्तुत किया जाता है जिसमें कवि अपनी कल्पना का पूरा पूरा प्रयोग करता हुआ अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण प्रकृति के रम्य एवं भयानक रूप की झाँकी दिखाता

---

1. वामनपुराण 6/41.

आलोचित पुराण में वर्णित एक अन्य उदाहरण इस प्रकार भी है -

> तस्य सानुमतः पृष्ठे सरः काञ्चनपङ्कजम् ।
> कारण्डवसमाकीर्णं राजहंसोपशोभितम् ॥
> कुमुदोत्पलकह्लारैः पुण्डरीकैश्च मण्डितम् ।
> कमलैः शतपत्रैश्च काञ्चनैः समलंकृतम् ॥
> पत्रैर्मरकतप्रख्यैः वृक्षैः काञ्चनसन्निभैः ।
> गुल्मैः कीचकवेणूनां समन्तात् परिवेष्टितम् ॥[1]

अर्थात् पर्वत के पृष्ठभाग में सुवर्ण कमलों से युक्त, कारण्डवों से आकीर्ण, राजहंसों से सुशोभित, कुमुद, उत्पल, कह्लार, पुण्डरीक आदि नानाजातीय कमलों से मण्डित, शतपत्रों वाले सुवर्ण कमलों से अलंकृत तथा मरकत के सदृश पत्रों वाले कांचन के समान वृक्षों एवं कीचक नामक बाँस के गुल्मों से चारों ओर से परिवेष्टित एक सरोवर (सुशोभित) है ।

किन्तु दूसरी प्रणाली 'नाम परिगणन' के अनुसार प्रकृति के वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि के केवल नाम ही गिना दिये जाते हैं और उनसे कोई सामूहिक प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास नहीं किया जाता ।[2]

यथा -

> सरस्वती नदी पुण्या तथा वैतरणी नदी ।
> आपगा च महापुण्या गंगा मन्दाकिनी नदी ।
> मधुस्रवा वाहुनदी कौशिकी पापनाशिनी ॥

---

1. वामनपुराण 58/16–18.
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; चिन्तामणि, (द्वितीय भाग), पृ0 3.

दृषद्वती महापुण्या तथा हिरण्वती नदी ।
वर्षाकालवहाः सर्वा वर्जयित्वा सरस्वती ॥[1]

इसी प्रकार आलोच्य पुराण में सुकेशि नगर-वृत्तान्त[2] उपाख्यान के अन्तर्गत सूर्य, नक्षत्र, चन्द्रमा का आलम्बन रूप में वर्णन पाठक एवं श्रोतागण के चित्त को बरबस आकृष्ट कर लेता है । सुकेशि नगर उपाख्यान का प्रारम्भ ही सूर्य, चन्द्र की मनोरम छटा से हुआ है । त्रिभुवन में निशाचरों की नगरी दिन में चन्द्र के समान और रात में सूर्य के समान हो गया है, आकाश में सूर्य की गति भी दिखाई नहीं पड़ती जिससे सुकेशि का यह श्रेष्ठ नगर तेज के कारण आकाश में चन्द्रमा के सदृश प्रतीत हो रहा है ।[3] जिससे चक्रवाक पक्षी इस प्रकार कहने लगे -

नूनं कान्ताविहीनेन केनचिच्चक्रवाकिणा ।
उत्सृष्टं जीवितं शून्ये पुत्कृत्य सरित्तटे ॥
ततो नुकम्पयाविष्टो विवस्वांस्तीव्ररश्मिभिः ।
संतापयज्जगत् सर्वं नास्तमेति कथंचन ॥[4]

अर्थात् निश्चय ही किसी पत्नी से विहीन चक्रवाक पक्षी ने एकान्त में नदी तट पर फूत्कार करके जीवनोत्सर्ग किया है । इसी से दयार्द्र होकर सूर्य तीव्र किरणों से जगत को सन्ताप देते हुए किसी भी प्रकार अस्त नहीं हो रहा है ।

---

1. वामनपुराण, सरोमाहात्म्य, 12/6-8.
2. वामनपुराण, 16/7-63.
3. वही, 16/8-9.
4. वही, 16/14-15.

अन्य लोगों ने चन्द्रमा को पूर्णिमा तथैव व्याप्त देखकर इस प्रकार उत्प्रेक्षा की है मानो चन्द्रमा ने भगवान हरि के अखण्ड व्रत द्वारा आराधना की है अथवा भगवान शंकर ने उसे अक्षय वर प्रदान किया है -

अन्ये ब्रुवन् चन्द्रमसा पुराराधितो हरिः ।
प्रीतेन रूपकर्त्रेण तेनाक्षय्यः शशी दिवि ।।
अन्ये वृषध्वजेनैव पूर्वं रक्षा कृतात्मनः ।
पादद्वयं समभ्यर्च्य त्रिनेत्रेरमितौजसः ।।
तेनासौ दीप्तिमांश्चन्द्रः परिभूय दिवाकरम् ।
अस्माकमानन्दकरो दिवा तपति सूर्यवत् ।।[1]

<u>स्वानुभूत सौन्दर्य</u> - भी कभी-कभी प्रकृति का आलम्बन बनता है । इसमें प्रकृति का आलम्बन परोक्ष और अनुभूति प्रत्यक्ष रहती है । प्रकृति के इस सौन्दर्य - साहचर्य में कवि अपनी तन्मयता और चेतना से उन्मादित हो उठता है और कभी कभी प्रकृति सौन्दर्य को अपने मानस में प्रतिष्ठित कर इस प्रकार आत्मलीन हो जाता है कि वह प्रकृति सौन्दर्य की चेतना को भूलकर अपने मन में निरन्तर आनन्द-अभिव्यक्ति की प्रेरणा ग्रहण करता है ।

यथा - वामनपुराण में वर्णित 'वामन चरित' उपाख्यान के अन्तर्गत दैत्यों के तेज का विनाश हुआ देखकर राजा बलि द्वारा पितामह प्रह्लाद से कारण पूछे जाने पर प्रह्लाद का भगवान के ध्यान में मग्न होकर भगवान के स्वरूप

---

1. वामनपुराण, 16/26-28.

का चिन्तन करना[1] -

"स ददर्शोदरे दित्याः प्रह्लादो वामनाकृतिम् ।
तदन्तस्थ वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ॥
साध्यान् विश्वे तथादित्यान् गन्धर्वोरगराक्षसान् ।
विरोचनं च तनयं बलिं चासुरनायकम् ॥
जम्भं कुजम्भं नरकं बाणमन्यांस्तथासुरान् ।
आत्मानमुर्वीं गगनं वायुं वारि हुताशनम् ॥
समुद्राद्रिसरिद्द्वीपान् सरांसि च पशून् महीम् ।
वयोमनुष्यानखिलांस्तथैव च सरीसृपान् ॥
समस्तलोकस्रष्टारं ब्रह्माणं भवमेव च ।
ग्रहनक्षत्रताराश्च दक्षाद्यांश्च प्रजापतीन् ॥"[2]

अर्थात् (पितामह प्रह्लाद ने) देवमाता अदिति के उदर में वामनाकृति (भगवान विष्णु) को देखा । उनके भीतर वसुगण, रुद्रों, दोनों अश्विनीकुमारों, मरुतों, साध्यों, विश्वेदेवगण, आदित्यों, गन्धर्वों, उरगों, राक्षसों, अपने पुत्र विरोचन, असुरनायक बलि, जम्भ, कुजम्भ, नरक, बाण, अन्य अनेक असुरों एवं स्वयं को तथा पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि, समुद्रों, पर्वतों, नदियों, द्वीपों, सरों, पशुओं, पक्षियों, समस्त मनुष्यों, सरीसृपों, समस्त लोकों के स्रष्टा ब्रह्मा, शिव, ग्रहों, नक्षत्रों, तारागणों तथा दक्षादि प्रजापतियों को देखा ।

इस प्रकार आनन्द की यह आत्मतल्लीन स्थिति प्रकृति के सर्वविस्तारशील आधार पर सम्भव है और तादात्म्य-भाव सम्बन्धी अनुभूति इस से सम्बन्धित है ।

---

1. वामनपुराण, स०मा०, 8/1-9
2. वही, 8/10-14

प्रतिबिम्बित सौन्दर्य

प्रकृति की अनुभूति के साथ कवि अथवा रचनाकार अपने मानवीय जीवन का प्रतिबिम्ब भी समन्वित करता है । इस अभिव्यक्ति में प्रकृति मानवीय जीवन के समानान्तर ही प्रतीत होती है । इसमें प्रकृति मानसिक प्रतिबिम्ब के रूप में भावों का आलम्बन बनती है । इस स्थिति में भावों का भिन्न कोई आलम्बन नहीं होता । काव्य अथवा पुराण में प्रकृति अपने आप में लीन और क्रियाशील सी चित्रित होती है परन्तु यह मानवीय चेतना का प्रतिबिम्ब ही होता है । कवि अपनी कल्पना में विभिन्न भावों को प्रकृति पर प्रतिभासित करता है । अतः भावमग्न प्रकृति आश्रय (कवि) के भावों को प्रतिबिम्बित करती हुई स्वयं आलम्बन है ।

प्रकृति उद्दीपन रूप में

काव्य का विस्तार मानवीय भावों में है, जो मानवीय सम्बन्धों में स्थित है । जैसा कि पूर्व विदित है कि प्रकृति के आलम्बन रूप में कवि का व्यक्तित्व प्रधान था परन्तु जब किसी स्थायी भाव को कोई अन्य प्रत्यक्ष आलम्बन होता है, उस समय प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत विभिन्न रूपों में उपस्थित होती है । यथा -

आलोच्यपुराण में वर्णित भगवान वामन के अवतीर्ण होते ही दैत्यों के तेज का विनाश होने पर पृथ्वी का सहसा धैर्य छोड़ना, पर्वत का डगमगाना, समुद्र का क्षुब्ध होना एवं अग्नि द्वारा आहुत आसुरीय भागों का ग्रहण न किया

---

1. वामनपुराण, 64/1-2, स०मा० 8/5.

स्थिति के अनुकूल वातावरण को उपस्थित करती है ।

प्रकृति का उद्दीपन रूप अनेक परिस्थितियों में सम्पन्न होता है -

(1) <u>प्रकृति की पार्श्वभूमि</u>

यदि आश्रय (व्यक्ति, वानर, रामादि) में भाव की स्थिति अन्य आलम्बन को लेकर होती है, तो वह उस भाव को उद्भूत करती सी विदित होगी और इस सीमा पर वह विभिन्न रूपों में उद्दीपन का कार्य करती सी प्रतीत होगी और जब आश्रय के मन में भावों की स्थिति प्रत्यक्ष आलम्बन को लेकर होती है, उस समय प्रकृति उन भावों के समानान्तर प्रतीत होती है । इस रूप में केवल भावों की रंगी हुई छाया का वर्णन होता है और प्रतिबिम्बित प्रकृति-रूप की चेतना सन्निहित होती है । यथा - असुरगण (आश्रय) का भगवान वामन (आलम्बन) के अवतीर्ण होते ही प्रकृति अर्थात् असुरों का निस्तेज होना, पृथ्वी का प्रकम्पन एवं समुद्र का संक्षुब्ध होना आदि उद्दीपन ।[1]

उद्दीपन की यह प्रेरणा कभी अव्यक्त-भाव को उभार लाकर अधिक स्पष्ट करती है और कभी व्यक्त-भाव को अधिक तीव्र करती है । भाव-स्थिति का यह व्यापार साम्य तथा विरोध के आधार पर चलता है । इसके साथ भावों की अभिव्यक्ति से साम्य उपस्थित कर प्रकृति उद्दीपन के अन्तर्गत आती है यथा-दैत्यों के तेज का विनाश हुआ देखकर ही पृथ्वी का प्रकम्पन, समुद्र का संक्षुब्धम् , पर्वतों का डगमगाना आदि प्रकृति उद्दीपन रूप में अभिव्यक्त हुए हैं । भाव कभी तो अप्रत्यक्ष आलम्बन के स्थान पर प्रत्यक्ष आधार लेकर व्यक्त होता है और कभी-कभी भावों की व्यंजना प्रकृति के आरोप के सहारे अधिक तीव्र होती है ।

---

1. वामनपुराण, सरोमाहात्म्य, 8/5, 64/1.

<u>भावों की पार्श्वभूमि</u>

प्रायः कथावस्तु अथवा उपाख्यानों की साधारण परिस्थितियों तथा घटना-स्थितियों को चित्रित करने में कवि प्रकृति के उद्दीपन रूप का आश्रय लेता है । इस चित्रण में भाव-ग्रहण कराने की प्रेरणा सन्निहित रहती है । साधारण वस्तु-स्थिति का चित्रण तो वर्णन का सरल रूप होता है और वह आलम्बन रूप ही माना जाता है किन्तु जब इन वर्णनों में आगे होने वाली घटना या भाव के संकेत सन्निहित हो जाते हैं, उस समय प्रकृति भावों को ग्रहण करने वाले की मनःस्थिति को प्रभावित करती है । भावों के पार्श्वभूमि में प्रकृति मानव-सहचरी के रूप में अपनी सहानुभूति से कभी भावों को प्रभावित करती है और कभी प्रकृति विरोध उपस्थित कर भावों को उत्तेजित करती हैं । यथा -

<u>सहानुभूति में</u>

"पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः ।
महादुष्कृतकर्माणं प्रयान्ति परमं पदम् ॥"[1]

अर्थात् कुरुक्षेत्र में वायु-प्रेरित धूलि भी महादुष्कर्मियों को परम पद देती है ।

<u>विरोध में</u>

सतत् वायोर्वंधः सुत्यादुःखेन महता न्वितः ।
उवाच शोकसंतप्तस्य दुःखेन दुःखितः ।
एव घोरेण पापेन अतीव परिवेष्टितः ॥[2]

---

1. वामनपुराण, स०मा० 24/25.
2. वही, 24/44.

अर्थात् वायु के कठोर वचन को सुनकर दुःखी एवं शोकसंतप्त राजा ने कहा – यह घोर पाप से युक्त व्याप्त है । प्रकृति विरोध का उत्कृष्ट उदाहरण आलोचित पुराण में इस प्रकार है –

"भगवान वामन के अवतीर्ण होने के कारण दैत्यगणों का निस्तेज होना, पृथ्वी का प्रकम्पित होना, समुद्र का संक्षुब्ध होना, अग्निदेव के द्वारा हुत होने पर भी आसुरीय भागों को ग्रहण न करना आदि विरोधी अवस्था की उपस्थिति राजा बलि के भावों को उत्तेजित कर देता है जिससे बलि भार्गव से धर्मयुक्त, तथ्य, हितप्रद और सभी प्रकार के उत्साह से युक्त वचन कहते हैं – कि हे भगवन् वासुदेव के आने पर मेरे करने योग्य धर्म, अर्थ एवं काम के तत्त्व को बतलायें ।"

हुताशना मन्त्रहुतानपीह
नूनं तमागच्छति वासुदेवः ।
तदङ्घ्रिविक्षेपमपारयन्ती
मही सुशैला चलिता दिलीशा ।
तस्यां चलत्यां मकरालयाश्च
उद्वृत्तवेला दितिजाय जाताः ।।

शुक्रस्य वचनं श्रुत्वा बलिर्भार्गवमब्रवीत् ।
धर्मं तथ्यं च पथ्यं च सर्वोत्साहसमीरितम् ।।[1]

xxxxx xxxxx xxxxx xxxxx

आयाते वासुदेवे वद मम भगवन् धर्मकामार्थतत्त्वं ।।[2]

---

1. वामनपुराण 64/8-10.
2. वही, 64/11.

इसी प्रकार प्रकृति के अनन्य पुजारी कालिदास की सूक्ष्म ग्राहिणी प्रतिभा ने भी देश-काल के विस्तृत क्षेत्र से केवल आवश्यक तत्वों को लेकर उन्हें गिने चुने शब्दों में रखकर विविध चित्रों की व्यंजना की है । कालिदास ने तो नगरों, पर्वतों, नदियों आदि का वर्णन मानव सापेक्ष एवं स्वतंत्र-दोनों प्रकार से किया है, किन्तु अधिकांशतः ये उद्दीपन रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं ।

उपमान योजना

प्रकृति-सौन्दर्य को प्रभावी बनाने के लिए काव्य में प्रायः अप्रस्तुत विधान अथवा प्रकृति की जो योजना बनायी जाती है उसके द्वारा रचनाकार अपने प्रसंग को भावपूर्ण और अनुभूति को अधिक व्यापक तथा चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए भी उपयोग करता है । अर्थात् जब हमारा मन किसी बात को प्रस्तुत रूप में कहने मात्र से संतुष्ट नहीं होता तो हम उसके लिए किसी अप्रस्तुत विधान (प्रकृति) को प्रस्तुत प्रसंग (प्रकृति) के सामने लाकर रख देते हैं जैसा कि वामन पुराणकार की रचना में प्रयुक्त उपमान-विधान के समृद्ध प्रयोग से स्पष्ट है ।

आलोचित पुराण में 'सुकेशि नगर पुराख्यान' उपाख्यान के अन्तर्गत, त्रिभुवन में निशाचरों की नगरी दिन में चन्द्र के समान और रात में सूर्य के समान एवं तेज के कारण आकाश में चन्द्रमा के सदृश प्रतीत होता हुआ[1] भी विभिन्न लोगों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रस्तुत (उपमान) विधान से अलंकृत किया गया ।

यथा -

पूर्णं कान्ताविहीनेन केनचिन्मदनात्मना ।
उत्सृष्टं वीक्षितं शून्ये कुङ्कुमं हरितालके ॥

---

1. वामनपुराण, 16/8-9.

रहस्य भावना

आनन्दानुभूति और आत्मतल्लीनता साधारण रूप से प्रकृति में ही व्याप्त है। इसकी अभिव्यक्ति की भाव-गम्भीरता के साथ रहस्यानुभूति सन्निहित है। प्रेमी साधक अपने प्रेम को व्यापक आधार देने के लिए प्रकृति की प्रसरित चेतना में और सौन्दर्य में अपने प्रेम के प्रतीक को ढूँढता है परन्तु उसको (प्रकृति को) आलम्बन मानकर अधिक दूर तक नहीं चलता, जबकि प्रकृति वादी, रहस्यवादी प्रकृति के सौन्दर्य से प्रेम के सत्य तक पहुँचता है। वह प्रकृति के सौन्दर्य में ही परम-सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करता है। जब कवि के चित्त में प्रकृति का रोम-रोम इस प्रकार रम जाये कि उसके अन्तस में उसे (कवि को) अदृश्य सत्ता के दर्शन अथवा आभास होने लग जाये तो वहाँ रहस्याभिव्यंजित प्रकृति का चित्रण होता है।

यथा - वामनोत्पत्ति प्रसंग में भगवान वामन का यज्ञशाला के लिए प्रस्थान करते ही 'प्रकृति की संक्षुब्धता' से भयभीत दानवेश्वर बलि को भगवान वामन के निश्चय आगमन की सूचना देते हुए शुक्राचार्य द्वारा दैत्येश्वर से इस प्रकार कहा जाना -

> सुराश्रमा मन्महतान्यतीव
> नूनं समागच्छति वासुदेवः ॥
> तदङ्घ्रिविक्षेपमपारयन्ती
> मही सशैला चलिता दितीश ।
> तस्यां चलायां मकरालयामी
> उद्वृत्तवेला दितिजाद्य जाताः ॥[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि ईश्वर सर्वाधिक रहस्य है और प्रकृति उसके अत्यंत निकट है। अतः प्रकृति से हमें उसकी सत्ता के अनेक संकेत मिलते हैं।

---

1. वामनपुराण, 64/8-9.

मानवीय संवेदनाओं का चित्रण

मानवीय संवेदनाओं के वर्णन से पूर्व प्रकृति के मध्य मानव की स्थिति को जानना परमावश्यक है । मानव, प्रकृति और काव्य के बीच की कड़ी है, क्योंकि काव्य मानव की ही अभिव्यक्ति है । विश्व-रचना में मानव का स्थान अकिंचन है, परन्तु जिस विज्ञानमय-मनस्-तत्व की स्वचेतन स्थिति मानव में है, उससे वह विश्व-चेतना का केन्द्र बन जाता है । वास्तव में मानव प्रकृति की शृंखला क्रम की ही एक कड़ी है, किन्तु हम अपनी मानवीय दृष्टि से प्रकृति और मानव को अलग-अलग मानकर चलते हैं ।

संवेदना का व्यापक अर्थ प्रकृति के रूप से अन्तर्हित भाव है । जिसे हम प्रभावशीलता कह सकते हैं । यह विश्व-रचना की आन्तरिक प्रेरणा-शक्ति है । शरीर-विकास में जीव के स्तर की रागात्मक संवेदना के मूल में जीवन और संरक्षण की सहजप्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं । चेतना के मानसिक स्तर की सम्भावना के पूर्व में सहजप्रवृत्तियाँ शरीर से सम्बन्धित होती हैं और सहज-प्रेरणा के अनुरूप अपना कार्य करती हैं । मानव-शरीर भी इसी आन्तरिक एकता में स्थिर है और आन्तरिक वेदनाओं में क्रियाशील है । ये आन्तरिक वेदनाएँ जीवन की सहजवृत्ति के रूप में, बिना किसी बाह्य कारण के, इन्द्रिय-वेदन का आधार न होने पर भी, भौतिक पीड़न और तोष की अनुभूति का स्रोत है ।

तोष और पीड़न की जो सुख-दुःखात्मक अनुभूति इन्द्रिय वेदनाओं से सम्बन्धित है, वह प्रत्यक्ष-बोध से सम्बन्ध स्थापित करके प्रत्यक्षीकरण द्वारा विचार और कल्पना से भी सम्बन्धित हो जाती हैं । यही संवेदना भावों के विकास में, सौन्दर्य-बोध के मूल में निहित है ।

कल्पनाओं के आधार पर ही मानव, प्रकृति के विभिन्न रूपों को नये

रूप में संयोजन कर मानसिक धरातल पर प्रभावपूर्ण चित्रण करता है यथा, आलोचित पुराण में नक्राहयोपाख्यान के अन्तर्गत विभिन्न सौन्दर्य से परिवेष्टित सरोवर[1] को कवि ने अपनी कल्पनाओं के माध्यम से ही सजाया-संवारा है। अतः स्पष्ट है कि प्रकृति,मानव-जीवन के समानान्तर है। मानव अपनी अनुभूति का आरोप प्रकृति पर करता है और प्रकृति भी मानवीय भावों के विकास में सहायक हुआ करती है।

मानव के समान प्रकृति भी संवेदनशील है, अन्तर केवल इतना है कि मानव अपने संवेदन को व्यक्त कर सकता है किन्तु जड़ पदार्थ ऐसा करने में असमर्थ है, क्योंकि मनस्-शक्ति के अभाव में वे संज्ञा-शून्य है।

मानवीय संवेदनाओं का विकास

सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य सर्वप्रथम प्रकृति के प्रति जिज्ञासु हुआ। अपने समक्ष प्रकृति के अस्त-व्यस्त रूप को देखकर वह भय से आक्रान्त हो उठा, तदनन्तर प्रकृति के अस्पष्ट बोध से भयभीत एवं व्याकुल उसमें भय का भाव उत्पन्न हुआ, भय के अतिक्रमण के साथ 'क्रोध' का भाव उत्पन्न हुआ अर्थात् जीविकोपार्जन एवं संरक्षण प्राप्त करने के लिए क्रुद्ध होकर संघर्ष करता हुआ मानव जब बाह्य परिस्थितियों पर विजय प्राप्त न कर सका तो उसमें क्रोध भावना जागृत हुई। इस प्रकार क्रोध-भाव के विकास में बाह्य परिस्थितियों का महत्त्व-पूर्ण योग रहा। धीरे-धीरे उसे प्रकृति के रंग-रूप, आकार-प्रकार का बोध होने लगा। अब उसमें जिज्ञासु की भावना ने जन्म लिया, वह प्रकृति के प्रति जिज्ञासु हो उठा, प्रकृति उसे लुभाने लगी। कालान्तर में प्रकृति से पूर्ण-परिचित

---

1. वामनपुराण 58/16-18.

रूप में संयोजन कर मानसिक धरातल पर प्रभावपूर्ण चित्रण करता है यथा, आलोचित पुराण में गजग्राहोपाख्यान के अन्तर्गत विभिन्न सौन्दर्य से परिवेष्टित सरोवर[1] को कवि ने अपनी कल्पनाओं के माध्यम से ही सजाया-संवारा है । अतः स्पष्ट है कि प्रकृति,मानव-जीवन के समानान्तर है । मानव अपनी अनुभूति का आरोप प्रकृति पर करता है और प्रकृति भी मानवीय भावों के विकास में सहायक हुआ करती है ।

मानव के समान प्रकृति भी संवेदनशील है, अन्तर केवल इतना है कि मानव अपने संवेदन को व्यक्त कर सकता है किन्तु जड़ पदार्थ ऐसा करने में असमर्थ है, क्योंकि मनस्-शक्ति के अभाव में वे संज्ञा-शून्य है ।

मानवीय संवेदनाओं का विकास

सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य सर्वप्रथम प्रकृति के प्रति जिज्ञासु हुआ । अपने समक्ष प्रकृति के अनन्त-व्यापक रूप को देखकर वह भय से आक्रान्त हो उठा, तदनन्तर प्रकृति के अस्पष्ट बोध से भयभीत एवं व्याकुल उसमें भय का भाव उत्पन्न हुआ, भय के अतिक्रमण के साथ 'क्रोध' का भाव उत्पन्न हुआ अर्थात् जीविकोपार्जन एवं संरक्षण प्राप्त करने के लिए क्रुद्ध होकर संघर्ष करता हुआ मानव जब बाह्य परिस्थितियों पर विजय प्राप्त न कर सका तो उसमें क्रोध भावना जागृत हुई । इस प्रकार क्रोध-भाव के विकास में बाह्य परिस्थितियों का महत्व-पूर्ण योग रहा । धीरे-धीरे उसे प्रकृति के रंग-रूप, आकार-प्रकार का बोध होने लगा । अब उसमें जिज्ञासु की भावना ने जन्म लिया, वह प्रकृति के प्रति जिज्ञासु हो उठा, प्रकृति उसे स्वच्छ करने लगी । कालान्तर में प्रकृति से पूर्ण-परिचित

---

1. वामनपुराण 58/14-18.

होने पर उसमें 'अहं' भाव जागृत हुआ । प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के कारण 'अहं' की भावना विकसित होने लगी, तत्पश्चात् प्रकृति के जिन क्षेत्रों पर उसका अधिकार न हो सका, उसके प्रति वह आत्महीनता की भावना का अनुभव करने लगा । इस प्रकार प्रकृति के विभिन्न चित्रों के माध्यम से मानव में क्रमशः संवेदनाओं का उतार-चढ़ाव होता गया ।

मानवीय संवेदनाओं का क्रमिक विवेचन

1. भय की संवेदना

भय भाव किसी न किसी कारण से सम्बन्धित होता है, यथा - आलोचित पुराण में विवृत्त देवासुर-संग्राम में दैत्यों से पराजित देवताओं का दैत्यराज बलि के भय से पीड़ित होकर देवमाता अदिति के साथ भगवान (विष्णु) को स्मरण करना और अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करना ।[1] एवं महिषासुर-वधोपाख्यान के अन्तर्गत देवी कात्यायनी (दुर्गा) के अतुलनीय शौर्य एवं पराक्रम से भयभीत हुए दैत्यगणों का रणक्षेत्र छोड़कर भाग खड़े होना आदि ।[2]

2. क्रोध की संवेदना

भय तथा कठिनाइयों का अतिक्रमण करने के साथ ही साथ मानव में क्रोध संवेदना भी बाह्यप्रकृति के माध्यम से प्रकटती चली जाती है । यथा - युद्ध में दानवों द्वारा वेगपूर्वक शक्ति से प्रहार किये जाने एवं सिंह के ऊपर त्रिशूल चलाये

---

1. वामनपुराण, सरो०मा० अध्याय, 2,3,4.

2. वही, 21/7-12.

जाने पर क्रुद्धता को प्राप्त हुई देवी कात्यायनी द्वारा भयंकर व्याघ्र के समान मुखवाले दैत्यों को मध्य से पकड़कर अपने बायें हाथ से घुमाकर पटह [illegible] के तुल्य बजाना[1] एवं क्रुद्ध हुई दुर्गा द्वारा चार बाणों से दैत्यों के चार घोड़ों को, एक सारथी एवं एक से ध्वज को काट दिया जाना और आक्रमणकारी दैत्यों के दोनों हाथ, पैर एवं मस्तक काट कर पृथ्वी पर फेंक दिया जाना[2] और अन्त में महिषासुर की गर्दन पर वार किये जाने पर उसके कटे कंठ से उद्भूत एक खड्गधारी पुरुष के हृदय पर चरण से आघात कर क्रोध की चरम कोटि को प्राप्त हुई देवी द्वारा उसका सिर काट दिया जाना आदि ।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि क्रोध की संवेदना मानव के हृदय में एक तूफान लिए हुए उत्पन्न होती है जिसमें मानव प्रकृति के हर असम्भव को सम्भव कर दिखाने का भरसक प्रयत्न करता है ।

3. <u>स्पर्धा की संवेदना</u>

मानव में जब स्पर्धा की संवेदना उत्पन्न होती है तो उसमें वैर की भावना बलवती हो जाती है जिससे एक व्यक्ति दूसरे को पूर्ण रूप से विनष्ट करने को तत्पर हो जाता है । यथा – आलोचित पुराण के 'सरोमाहात्म्य' के अन्तर्गत 'वसिष्ठापवाह' प्रसंग से पूर्णतः स्पष्ट है ।[3]

'वसिष्ठापवाह' वर्णन से स्पष्ट है कि केवल मानव में ही नहीं वरन् (का अनुभव करती है, जैसा कि सरस्वती नदी ने) प्रकृति भी मानवीय संवेदनाओं यथा भय, क्रोध, दया आदि वसिष्ठ की भाषा

---

1. वामनपुराण, 21/14-17.
2. वही, 21/26-49.
3. वामनपुराण, स०मा० 19/2-27.

देखकर कुद्ध विश्वामित्र द्वारा ज्यों हि यष्टिक को मारने हेतु शस्त्र खींचा गया त्यों हि ब्रह्महत्या के भय से भीत हुई सरस्वती यायिनुम को वंचित कर दोनों के वाक्य का पालन करती हुई उस यष्टिक को जल में बहा ले जाती है ।

4. आश्चर्य की संवेदना

मानव में आश्चर्य तथा अद्भुत भाव का विकास प्रकृति के आकार-प्रकार, रंग-रूप के अस्पष्ट तथा संदिग्ध बोध ज्ञान के आधार पर होता है यथा - भगवान वामन के अवतीर्ण होते ही दैत्यों के तेज का विनाश होना, पर्वतों एवं पृथ्वी का प्रकम्पित होना, समुद्र का संक्षुब्ध होना, अग्नि द्वारा आसुरीय भाग को ग्रहण न किया जाना[2] आदि प्रकृति के अचानक परिवर्तन दैत्यगणों में आश्चर्य का कारण बनते हैं । इसी प्रकार भगवान वामन के अद्भुत विराट् विश्वमय स्वरूप[3] के दर्शन से दैत्यराज बलि के हृदय में उत्पन्न हुआ विस्मय ।

इसी प्रकार मानव के कलात्मक भावों द्वारा प्रकृति का अनुकरण किये जाने से भी मानव में सौन्दर्य-भाव का विकास होता है ।

संवेदनायें सदैव एक सी नहीं होतीं, तमयानुसार उनमें सरलता एवं विषमता आती रहती है । आज मानवीय संवेदनाओं की स्थिति कुछ विषम सी हो गई है । अनेक परिस्थितियों एवं अन्य भावों के सम्मिश्रण से भय क्रोध आदि में अनेकरूपता तथा विषमता आ गई है ।[4]

---

1. वामनपुराण, स0मा0 19/18-19.
2. वामनपुराण, 64/1-9.
3. वही, 65/18-28, स0मा0 10/48-61.
4. डब्लू0जेम्स, दि प्रिन्सिपल्स ऑफ साइकोलॉजी : इमोशन्स से

5. <u>धार्मिक संवेदनायें</u>

साधारणतः संवेदनाओं का सम्बन्ध प्रकृति से नहीं है, परन्तु भावों के उच्च स्तर पर स्थित आचरणात्मक तत्वों से सम्बन्धित सौन्दर्य से भी होता है। इस प्रकार प्रकृति की सौन्दर्य-भावना में आचरणात्मक संवेदनाओं का आरोप किया जाता है। मानव की कुछ संवेदनायें धार्मिक भी होती हैं, वे धार्मिक संवेदनायें ही माध्यमिक हैं और इनके आधार पर जो भय, आश्चर्य आदि भाव उत्पन्न होते हैं, उनका प्रकृति से सीधा सम्बन्ध होता है। प्रकृति देवताओं का अस्तित्व भय के आधार पर माना जाता है। आश्चर्य-भाव के साथ इन देवताओं को प्रकृति के विभिन्न रूपों में प्रसारित देखा गया है, क्योंकि इस युग में प्रत्यक्ष-बोध अधिक स्पष्ट रहा है। यथा - भगवान वामन के विराट् विश्वमय रूप में उनके पैर में भूमि, जंघाओं में त्रैलोक्य-पूजित आकाश, दोनों जानुओं में सत्यलोक और तपोलोक, दोनों उरुओं में मेरु और मन्दर पर्वत, कटि-प्रदेश में विश्वदेव, वस्ति प्रदेश के शीर्षस्थान पर मरुद्गण, लिंग में कामदेव, वृषणों में प्रजापति, कुक्षियों में सप्त समुद्र, जठर में समस्त-भुवन, त्रिवली में नदियाँ एवं पीठ में वसुगण, देवगण, हृदय में ब्रह्मा उर के मध्य श्री तथा समुद्र, मन में चन्द्रमा, ग्रीवा में देवमाता, भुजाओं में सारी विद्यायें मुख में अग्नि सहित ब्राह्मण, ललाट में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जिह्वा में सरस्वती देवी नेत्रों में चन्द्र एवं सूर्य तथा रोमकूपों में तारागण आदि सम्पूर्ण चराचर अवस्थित दिखाई दिये गये।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि जब प्रत्यक्ष-बोध अधिक स्पष्ट होता है तो संवेदनायें अधिक तीव्र हो जाती हैं। जहाँ मानवीय संवेदनायें प्रकृति के देवताओं से सम्बन्धित होती हैं वहाँ देवता को मानवीय साकार और भाव प्रदान कर

---

1. वामनपुराण 65/19-28, [illegible] 10/49-59.

दिया जाता है । इस प्रकार मानवीय मानस में उत्पन्न धार्मिक संवेदनाओं के विकास में प्रकृति के रूप और भाव दोनों पक्षों का संयोग होता रहा है ।

6. सौन्दर्यमय-संवेदनायें

मानव के मानस पटल में उद्भूत धार्मिक संवेदनाओं के समान ही सौन्दर्य-मय संवेदना भी एक सरल भाव नहीं है । इसमें भी प्रकृति का पूर्ण योग रहा है । मानव को प्रकृति के प्रत्यक्ष-बोधों में सुख-दुःख की विभिन्न संवेदनायें प्राप्त हुई हैं । मानव ने प्रकृति का क्रीड़ात्मक अनुकरण किया है और कलात्मक निर्माण को भी उसने प्रकृति से ही सीखा है । मानव में यौन-सम्बन्धी रागा-त्मक संवेदन के लिए प्रकृति के रंग-रूप आदि प्रेरक रहे हैं और इन सब भावों का संयोग, सौन्दर्य-संवेदन के विकास में हुआ है ।

यथा - सती वियोग में व्यथित, स्वप्नों में विचरण करते हुए शिव में सती विषयक राग उत्पन्न करने में कामदेव का उन्माद, संतप एवं अभिम नामक अस्त्र प्रेरक रहा है । क्योंकि उन्माद शर से ताड़ित किये जाने पर ही शंकर उन्मत्त होकर वनों एवं सरोवरों में विचरण करते हुए रागात्मक संवेदन को प्राप्त हुए । अतः स्पष्ट है कि सौन्दर्य एक व्यापारी संवेदन है ।

इसी प्रकार देवकन्याओं के मध्य अतिसुन्दर सूर्यपुत्री तपती को देखकर राजा संवरण के कामबाणों से पीड़ित होने[2] में सौन्दर्य प्रेरक रहा है । रागात्मक संवेदनायें ही प्रकृति एवं सौन्दर्य के अतिरिक्त सामाजिक एवं आत्म-सम्बन्धी भावों के योग में भी होती है ।

1. वामनपुराण 6/27-45.
2. वही, 22/33-34.

दिया जाता है । इस प्रकार मानवीय मानस में उत्पन्न धार्मिक संवेदनाओं के विकास में प्रकृति के रूप और भाव दोनों पक्षों का संयोग होता रहा है ।

6. सौन्दर्यमय-संवेदनायें

मानव के मानस पटल में उद्भूत धार्मिक संवेदनाओं के समान ही सौन्दर्य-मय संवेदना भी एक सरल भाव नहीं है । इसमें भी प्रकृति का पूर्ण योग रहा है । मानव को प्रकृति के प्रत्यक्ष-बोधों में सुख-दुःख की विभिन्न संवेदनायें प्राप्त हुई हैं । मानव ने प्रकृति का क्रीड़ात्मक अनुकरण किया है और कलात्मक निर्माण को भी उसने प्रकृति से ही सीखा है । मानव में यौन-सम्बन्धी रागात्मक संवेदन के लिए प्रकृति के रंग-रूप आदि प्रेरक रहे हैं और इन सब भावों का संयोग, सौन्दर्य-संवेदन के विकास में हुआ है ।

यथा - सती वियोग में व्यथित, स्वप्नों में विचरण करते हुए शिव में सती विषयक राग उत्पन्न करने में कामदेव का उन्माद, संभव एवं आंभव नामक अस्त्र प्रेरक रहा है । क्योंकि उन्माद शर से ताड़ित किये जाने पर ही शंकर उन्मत्त होकर वनों एवं सरोवरों में विचरण करते हुए रागात्मक संवेदन को प्राप्त हुए । अतः स्पष्ट है कि सौन्दर्य एक बलवती संवेदन है ।

इसी प्रकार देवकन्याओं के मध्य अतिसुन्दर सूर्यमुखी तपती को देखकर राजा संवरण के कामबाणों से पीड़ित होने[2] में सौन्दर्य प्रेरक रहा है । रागात्मक संवेदनायें ही प्रकृति एवं सौन्दर्य के अतिरिक्त सामाजिक एवं आत्म-सम्बन्धी भावों के योग में भी होती है ।

---

1. वामनपुराण 6/27-45.

2. वही, 22/33-34.

मानव के अन्तर्गत संवेदनाओं के लिए तनाव की एक निश्चित स्थिति का होना भी आवश्यक है तथा साथ ही मानसिक विकास का उच्च स्तर भी वांछनीय है। विशेष स्थिति में उद्देश्य को लक्ष्य करके भविष्योन्मुखी भावों की प्रेरणा जागरित होती है। इसीलिए ये संवेदना से अधिकांशतः संचारी भावों के रूप में होती हैं। आशा, निराशा, चिन्ता आदि ऐसे ही संवेदन हैं -

जैसे - पार्वती द्वारा शिव को पुनः प्राप्ति करने की आशा एवं भगवान शंकर द्वारा सती वियोग में सती की चिन्ता आदि।

इसके विपरीत अतीत के विषय में उद्देश्य के प्रति मानव के भावों की स्थिति जागरित होती है। इन भावों में पश्चाताप, अनुताप आदि सन्निहित होते हैं। यथा - पितामह प्रह्लाद द्वारा शाप दिये जाने पर मोदग्रस्त बलि का अपनी धृष्टता के लिए पश्चाताप करना।[1] इन भावों का प्रकृति से सीधा सम्बन्ध न होकर भी अन्य संवेदनाओं के साथ संयोग हो जाता है।

प्रकृति का सम्पर्क किसी की स्मृति को जगाकर मानव को चिन्तित कर सकता है। यथा - सती वियोग में वनों एवं सरोवरों में विचरण करते हुए शिव का कन्दर्प के उन्माद, सन्ताप आदि शर से आहत किये जाने पर सती का स्मरण कर कभी गाना, कभी रोना और कभी मुक्त कण्ठ से विलाप करते हुए सती की चिन्ता करना[2] आदि इसके अतिरिक्त इन संवेदनाओं की मनःस्थिति

---

1. वामनपुराण, स0मा0 9/2-4.
2. वामनपुराण, 6/26-45.

मानव के अभ्यन्तरित संवेदनाओं के लिए समाज की एक निश्चित स्थिति का होना भी आवश्यक है तथा साथ ही मानसिक विकास का उच्च स्तर भी वांछनीय है । विशेष स्थिति में उद्देश्य को लक्ष्य करके भविष्योन्मुखी भावों की प्रेरणा जागरित होती है । इसीलिए ये संवेदना से अधिकांशतः संचारी भावों के रूप में होती हैं । आशा, निराशा, चिन्ता आदि ऐसे ही संवेदन हैं -

जैसे - पार्वती द्वारा शिव को पुनः प्राप्ति करने की आशा एवं भगवान शंकर द्वारा सती वियोग में सती की चिन्ता आदि ।

इसके विपरीत अतीत के विषय में उद्देश्य के प्रति मानव के भावों की स्थिति जागरित होती है । इन भावों में पश्चाताप, अनुताप आदि सम्मिलित होते हैं । यथा - पितामह प्रह्लाद द्वारा शाप दिये जाने पर मोदग्रस्त बलि का अपनी धृष्टता के लिए पश्चात्ताप करना।[1] इन भावों का प्रकृति से सीधा सम्बन्ध न होकर भी अन्य संवेदनाओं के साथ संयोग हो जाता है ।

प्रकृति का सम्पर्क किसी की स्मृति को जगाकर मानव को विचलित कर सकता है । यथा - सती वियोग में वनों एवं सरोवरों में विचरण करते हुए शिव का कन्दर्प के उन्माद, सन्ताप आदि शर से आहत किये जाने पर सती का स्मरण कर कभी गाना, कभी रोना और कभी मुक्त कण्ठ से विलाप करते हुए सती की चिन्ता करना[2] आदि इसके अतिरिक्त इन संवेदनाओं की मनःस्थिति

---

1. वामनपुराण,स0मा0 9/2-6.
2. वामनपुराण, 6/26-45.

में हमारे मन में प्रकृति के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है अर्थात् इस प्रकार के शोक संवेदन में मानव अपने तन-मन की सुध-बुध को खोता है और दूसरे दयालु पुरुषों द्वारा दया व स्नेह का पात्र बनता है ।

आलोचित पुराण में वर्णित भगवान वामन का बलि के यज्ञवाट में प्रवेश एवं बलि से पद-त्रय की याचना आदि वृत्तान्त के अन्तर्गत भगवान वामन का अपने तीसरे चरण हेतु बलि को बन्धन स्वीकार कराने के प्रसंग में बलि पुत्र बाण एवं पुनः भगवान का हेतुयुक्त संवेदन मानवीयता का एक उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है ।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में सृष्टि का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है उसके दो पक्ष हैं -

1. जड़ सृष्टि एवं 2. चेतन सृष्टि

जड़ सृष्टि के अन्तर्गत मुख्यतः प्रकृति आती है जिसमें वन, पर्वत, प्रपात, नदियाँ, संध्या, प्रातः, गाँव, नगर, सूर्योदय, चन्द्रोदय और ऋतुचक्रादि सैकड़ों प्राकृतिक उपादान सम्मिलित है । चेतन सृष्टि के अन्तर्गत, मानव समाज आता है । जड़ और चेतन के बीच कुछ अर्धचेतन अथवा अविकसित चेतन प्राणी हैं । जैसे - पशु-पक्षी सरीसृप आदि । चूँकि जड़ता और चैतन्य एक ही सृष्टि के दो पहलू हैं इसलिए दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं । यह तथ्य प्रत्यक्ष - प्रमाण से भले ही न सिद्ध हो परन्तु सहृदय कवि की आँखें इस तथ्य को पहचानती हैं । कवित्व की दृष्टि से यदि मनुष्य क्रोध में चिल्लाता है तो वर्षा ऋतु के बादल भी क्रोध में गरजते हैं । उसकी दृष्टि में रंग-बिरंगे फूल यदि प्रेम की अभिव्यक्ति हैं तो पक्षियों का कलरव मूक प्रकृति का हर्षोल्लास है ।

---

1. वामनपुराण 65/36-45.

महाकवि कालिदास इसी दृष्टि से शकुन्तला की विदाई में जंगल की लताओं को पीले पत्तों को गिराकर, करुण-क्रन्दन करने का दायित्व प्रदान करते हैं । जड़ और चेतन के समन्वय के बिना दृष्टि की सार्थकता सिद्ध नहीं होती । यद्यपि इस बोध दृष्टि का विकास परवर्ती संस्कृत कविता में अधिक मुखर हुआ, परन्तु इसका शुभारम्भ पौराणिक काव्य में ही हो गया था । वामन पुराण में उपलब्ध उपर्युक्त प्रकृति सौन्दर्य तथा उस सौन्दर्य से अभिषिक्त चेतन जगत उसी बोध दृष्टि का परिचायक है ।

रस-योजना

सहृदय सामाजिक चित्तवृत्तियों में निरन्तर विद्यमान रस एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो समस्त प्राणियों में निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। यह पुरुष और प्रकृति के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है। शरीर के लिए जो महत्व आत्मा का है, वही महत्व साहित्य के लिए रस का है। इस ब्रह्म की भाँति सूक्ष्म, नित्य, व्यापक और अगोचर है। जैसे ईश्वर हृदय में निवास करता है।[1] वैसे ही रसोद्रेक के लिए भी हृदय ही उपयुक्त स्थान माना गया है। हमारे साहित्य की, कला की एवं काव्य की प्रेरणा हृदय के नैसर्गिक रसस्रोत का ही परिणाम है।

जीवन के सामान्य प्रसंगों में तो 'रस' शब्द का व्यवहार प्रायः सुन्दर, आनन्ददायक, कुतूहलवर्द्धक एवं चमत्कारपूर्ण बातों के साथ होता रहा है, अतः स्पष्ट है कि रस शब्द का अर्थ 'आनन्द' ही है। आनन्द को दो कोटियों में विभाजित किया गया है - लौकिक एवं अलौकिक।

काव्यानन्द, ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाकर लोकोत्तर की सी प्रतीति में लौकिक आनन्द ही है। अतः साहित्य में रस का यह स्थान साहित्य को जीवन के कितना समीप सिद्ध करता है इसके लिए किसी क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता नहीं है।[2]

---

1. 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' गीता, अध्याय - 18, श्लोक 61.
2. डा० सत्नामसिंह शर्मा 'अरुण' कृत ; बिहारी पुल ;
   साहित्य में रस तत्त्व, पृष्ठ 138.

रस की परिभाषा

अति प्राचीन काल से ही प्रचलित 'रस' का व्यवहार वैदिक साहित्य में - 'आध्यात्मिक आनन्द अथवा ईश्वरीय अनुभूति का आनन्द' रूप में हुआ है। तैत्तिरीय उपनिषद् में रस का उल्लेख इस प्रकार हुआ है -

"रसो वैसः, रसह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"[1] अर्थात् वह ईश्वरीय अनुभूति ही रस है। इस रस को प्राप्त करके आत्मा आनन्दी हो जाता है।

वैदिकोत्तर काल में भिन्न भिन्न काव्यशास्त्रियों ने रस की परिभाषा भिन्न भिन्न प्रकार से प्रस्तुत की है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि के प्रसिद्ध रस सूत्र -

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"[2] को रस की परिभाषा के रूप में सर्वत्र उद्धृत किया जाता है। 'विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी (अथवा संचारी) के संयोग से रस निष्पत्ति (अर्थात् उनसे सम्बद्ध स्थायीभाव की आनन्द-मयी अनुभूति) होती है।

विभाव

विभाव का अर्थ है - कारण। सहृदय के हृदय में वासना अथवा संस्कार रूप में मूलतः स्थित स्थायीभावों को उद्बोधित करने वाले 'कारण' विभाव कहलाते हैं। 'विभावयन्ति इति विभावाः' अर्थात् ये स्थायीभावों का विभावन करते हैं (आस्वाद के योग्य बनाते हैं)। अतएव विभाव रस-निष्पत्ति का

---

1. तैत्तिरीय उपनिषद्

2. भरतमुनिकृत, नाट्यशास्त्र, अध्याय 7, एवं इस सूत्र की व्याख्या काव्यप्रकाश 4/27-28 एवं साहित्यदर्पण 3/1 आदि ग्रन्थों में भी उपलब्ध है।

आधारभूत अंग है । इसे दो रूपों में विभक्त किया गया है -

1. आलम्बन विभाव ।
2. उद्दीपन विभाव ।

आलम्बन विभाव

अर्थात् अविच्छिन्न वस्तु जो स्थायीभावों का आधार बनती है । भावों का उद्गम यद्यपि आश्रय में होता है, पर उनका सम्बन्ध किसी न किसी बाह्य वस्तु से अवश्य होता है, जिसके कारण भावों का उद्गम होता है । अतएव भावों का उद्गम जिस मुख्य भाव अथवा वस्तु के कारण हो उसे काव्य में आलम्बन कहा जाता है । यथा -

आलोचित पुराण में बलि की यज्ञशाला में प्रविष्ट हुए भगवान वामन द्वारा बलि से तीन पग भूमि की याचना कर त्रैलोक्य को आक्रान्त करने के लिए विराट् विश्वमय रूप को ग्रहण किया जाना, जिसे देखकर बलि के हृदय में भगवान के प्रति विस्मय भाव जागृत होना आदि । यहाँ भगवान वामन आलम्बन हैं क्योंकि उन्हीं के प्रति दैत्यराज बलि में विस्मय भाव जागृत हुआ है और स्वयं राजा बलि आश्रय हैं । भगवान वामन रूप आलम्बन और राजा बलि रूप आश्रय, सहृदयजन के स्थायीभाव को रसावस्था तक पहुँचाने के कारण हैं, अतः यहाँ आलम्बन विभाव है ।

उद्दीपन विभाव

स्थायीभाव को जागृत रखने में सहायक भूत कारण उद्दीपन कहलाते हैं । आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में - जो रस को उद्दीप्त करते हैं अर्थात् रत्यादि स्थाईभावों को उद्दीप्त करके आस्वादन के योग्य बनाते हैं और इस प्रकार उन्हें रसावस्था तक पहुँचाते हैं, वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं जैसे - वीर रस के

स्थायीभाव उत्साह के लिए सामने खड़ा हुआ शत्रु आलम्बन विभाव है । परन्तु शत्रु के साथ सेना-युद्ध के बाजे, शत्रु की दर्पोक्तियाँ, ध्वनि, शस्त्र-संचालन आदि उद्दीपन विभाव हैं ।

आलोचित पुराण में वर्णित भगवान वामन के विराट् विश्वमय रूप को देखकर राजा बलि में विस्मय स्थायीभाव जागृत होने में भगवान वामन का विश्वमय रूप तो आलम्बन विभाव है परन्तु उस विराट् विश्वमय स्वरूप के अन्तर्गत विद्यमान भूमि, आकाश, सत्यलोक, तपोलोक, मरुद्गण, कामदेव, प्रजापति, समस्त भुवन एवं रुद्रगण आदि[1] उद्दीपन विभाव हैं ।

अनुभाव

भावजागृति के पश्चात् होने वाले अंग-विकारों को अनुभाव कहते हैं । अर्थात् रति, शोक, हास आदि स्थायीभावों को प्रकाशित या व्यक्त करने वाली आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं । ये चेष्टाएँ भाव-जागृति के बाद आश्रय में होती है इसीलिए इन्हें 'अनुभाव' अर्थात् जो भावों का अनुगमन करें, कहा जाता है ।

सती विरह में व्याकुल शिव द्वारा रुदन करना, मिलन के भावावेश में अश्रु-स्वेद रोमांच, अनुराग सहित देखना एवं कामदेव द्वारा संतापित किये जाने पर, क्रोध जागृत होने पर शस्त्र संचालन कठोर-वाणी, नेत्रों का लाल होना, आदि चेष्टाएँ अनुभाव कही जायेंगी ।

---

1. वामनपुराण, 65/19-28.

2. अनुभावो विकारस्तु भाव संसूचनात्मकः - 'दशरूपक'

आलोचित पुराण में भगवान वामन के विराट् विश्वमय रूप का दर्शन कर दैत्यराज बलि द्वारा विस्मयता के कारण भगवान के रूप को आँखें फाड़कर देखना, मुख पर घबराहट के चिन्ह उत्पन्न होना आदि अनुभाव ही हैं ।

संचारी अथवा व्यभिचारी भाव

जो भाव थोड़ी देर के लिए स्थाई भाव को पुष्ट करने के निमित्त सहायक रूप से आते हैं और तुरन्त लुप्त हो जाते हैं, वे संचारी अथवा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं । यथा – आलोचित पुराण में वर्णित भगवान वामन के विराट् विश्वमय रूप को देखकर राजा बलि में विस्मय अथवा आश्चर्य स्थायी भाव के साथ जड़ता, दैन्य, आवेग, तर्क, हर्ष, शंका, चिन्ता, चपलता आदि भावों का उत्पन्न होना और कुछ समय पश्चात् लुप्त हो जाना संचारीभाव ही हैं ।

स्थायी भाव

मानव मन की सूक्ष्म वृत्तियों से सम्बन्धित जो भाव होते हैं उन्हें स्थायी भाव कहते हैं अर्थात् सहृदय के अन्तःकरण में जो मनोविकार वासना एवं संस्कार रूप में सदा विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें अन्य कोई भी विरोधी अथवा अविरोधी भाव दबा नहीं सकता, उन्हें स्थायीभाव कहते हैं । यथा – आलोचित पुराण में कुरुक्षेत्र-निर्माण-वर्णन प्रसंग में संवरण एवं तपती वृत्तान्त[1] के अन्तर्गत देवकन्या तपती के सौन्दर्य को देखकर ऋक्ष-तनय-संवरण के मन में उत्पन्न रति स्थायीभाव आदि ।

---

1. वामनपुराण, 22/38-34.

आलोचित पुराण में प्रतिष्ठित रसों का स्वरूप

अन्यान्य पौराणिक काव्यों की भाँति आलोचित पुराण भी वीर, श्रृंगारादि रसों की अनुपम छटा से अलौकिक विलक्षणता को प्राप्त होकर सहृदयजन को सतत वीर, श्रृंगारादि रसों का आस्वादन कराता रहा है ।

यद्यपि आलोचित पुराण में रचनाकार ने भगवान वामन, दैत्यराज, बलि, भगवान शिव, देवी-पार्वती आदि का जो वर्णन प्रस्तुत किया है वह यथावत् उनकी व्यक्तिगत अवस्था नहीं है वरन् कुछ तो अपने सामयिक समाज से अनुभूत है और कुछ अपनी उर्वर-कल्पना द्वारा भी कल्पित है, क्योंकि पुराणों के आदर्श को बनाये रखना पुराणकारों का मुख्य ध्येय रहा है । यही कारण है कि आलोचित पुराण में भगवान वामन बलि, शिव-पार्वती, त्रिविक्रम-धुन्धु आदि आख्यानों में भगवान वामन, शिव आदि वर्णित अवस्थाओं के वस्तुतः आश्रय न होकर कल्पित आश्रय हुआ करते हैं ।

आलोचित पुराण के रसास्वादन में लौकिक उत्साह, रति आदि भावों की भाँति, भगवान वामन, देवी पार्वती आदि विभावों का उपयोग नहीं होता है बल्कि इनमें उत्पन्न रस लौकिक रस से विलक्षण हुआ करते हैं । सहृदयजन के अन्तःकरण को आत्मानन्द की अनुभूति कराने के कारण ही आस्वादन को 'रस' कहा जाता है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में रस की व्याख्या पर विशेष बल देते हुए वीर रस को प्रधान रस एवं श्रृंगारादि अन्य स्वीकृत रसों की गौणता को स्वीकार करते हुए आलोचित पुराण की महनीयता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है ।

आलोचित पुराण में वीर रस की प्रधानता

वस्तुतः वीर भावना का सम्बन्ध मानव की सत्स्वाभ वृत्तियों से होता है जो कभी मरती नहीं है । यही कारण है कि तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति भी वीर रस प्रधान ही रही है । उच्च संस्कृति और मनो वृत्ति के इस काल में वीरतापरक भावों का उद्गार कवि के हृदय में निरन्तर होता रहा है, जिससे समय-समय पर रचनाकारों द्वारा वीर रस प्रधान रचनायें होती रही हैं ।

वीर रसात्मक पौराणिक काव्य में जिन आश्रयदाताओं और उनके पूर्वजों की कीर्ति का गान किया गया है उसमें भी प्रायः वीर रस की ही प्रधानता रही है । यथा, आलोचित पुराण में दैत्यराज बलि के पितामह प्रह्लाद आदि का चरित । प्रायः कविगण वीरों के यशवर्णन में ही अपनी सारी काव्यशक्ति को लगा देते हैं । वामन पुराणकार ने आलोचित पुराण में इतनी चातुकारिता से बलि-वामन चरित के अन्तर्गत बलि की दान-वीरता को दर्शाया है कि सम्पूर्ण वामन पुराण की सफलता उसी पर आश्रित हुई सी प्रतीत होती है । यही कारण है कि आलोचित पुराण में जितने भी आख्यान अथवा उपाख्यान वर्णित है सभी को बलि-वामन-कथा से सम्बद्ध स्वीकारा गया है । रचनाकार द्वारा आलोचित पुराण में बलि-वामन चरित को भिन्न भिन्न तीन स्थलों पर चित्रित कर बलि-वामन की वीरता का वर्णन करना आलोचित पुराण के वीर रस की प्रधानता को सिद्ध करना ही है ।

इस प्रकार वीर-रस में अत्यन्त सफल रचना करके महर्षि व्यास ने अपनी स्वच्छन्दवादी मनोवृत्ति का परिचय दिया है । अन्य आश्रित कवियों की भाँति इनके काव्य में कोरी चाटुकारिता का ही दर्शन नहीं होता वरन् इसमें

जातीय गौरव एवं राष्ट्रीय-भावना का भी उद्रेक हुआ है। आलोचित पुराण में भगवान वामन का चित्रण जातीय-गौरव एवं देव-संस्कृति के रक्षक के रूप में किया गया है।

वामन पुराण की वीर रस का अत्यन्त व्यापक क्षेत्र बनाकर रचनाकार ने उसके विविध पक्षों की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है। संत्रास और भय का मानसिक ऊहापोह, क्षोभ, व्याकुलता एवं दीनता आदि से युक्त शत्रु-पक्ष को चित्रित करने में रचनाकार ने अनेक उद्भावनाओं का प्रयोग किया है। यथा, अधर्म के विनाश हेतु भगवान विष्णु का वामन रूप में अवतीर्ण होने पर शत्रु-पक्ष में व्याप्त आकुलता आलोचित पुराण में निम्न प्रकार से द्रष्टव्य है -

> दैत्यानामपि सर्वेषां गर्भस्थे मधुसूदने ।
> बभूव तेजसो हानिर्यथोक्तं परमेष्ठिना ॥[1]

और तो और शत्रु के यहाँ पृथ्वी, पर्वत, समुद्र आदि प्रकृति भी भगवान वामन के आगमन का समाचार सुनकर भयग्रस्त हो उठी। यथा -

> गर्भस्थिते ततः कृष्णे चचाल सकला क्षितिः ।
> चकम्पिरे महाशैला जग्मुः क्षोभं महाब्धयः ॥
> यतो यतोऽदितिर्याति ददाति पदमुत्तमम् ।
> ततस्ततः क्षितिः खेदान्ननाम द्विजपुंगवाः ॥[2]

---

1. वामनपुराण, सरो०मा० 7/16.

2. वही, 7/14-15.

अर्थात् 'भगवान् विष्णु के अदिति गर्भस्थ होने पर समस्त पृथ्वी चंचल हो उठी, पर्वत प्रकम्पित होने लगे एवं महासमुद्र क्षुब्ध हो गये । इस प्रकार अदिति जहाँ जहाँ जाती थीं वहाँ वहाँ की पृथ्वी खेद के कारण नम्र हो जाती थी ।'

वीर रस की परिभाषा

> वीरः प्रतापविनयाऽध्यवसायसत्त्व –
> मोहाविषादनयविस्मय विक्रमाद्यैः ।
> उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्
> त्रेधा किलात्रमतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ।।[1]

अर्थात् प्रताप, विनय, उद्योग या प्रयास, सत्त्व (बल) मोह, अविषाद, नय, विस्मय तथा पराक्रम आदि से होने वाले उत्साह (स्थायी भाव) से वीर रस उत्पन्न होता है । यह वीर रस दया, युद्ध और दान (रूपी अनुभावों) के कारण तीन प्रकार का होता है । इसमें मति, गर्व, धृति तथा प्रहर्ष आदि (व्यभिचारी भाव) होते हैं ।

अभिप्राय यह है कि सहृदय के हृदय में वासना व संस्कार रूप में स्थित 'उत्साह' स्थायीभाव जब विभाव, अनुभाव एवं संचारीभावों के द्वारा रसावस्था को पहुँच कर आस्वाद योग्य बनता है, तब उसे वीर रस कहा जाता है । यथा – आलोचित पुराण में वर्णित निम्न श्लोक –

> नास्तीत्युक्तं पुरो यस्ये तमभ्यागतमीश्वरम् ।
> प्राणत्यागं करिष्येऽहं न तु नास्ति वदे क्वचित् ।।

---

1. धनंजयकृत, दशरूपकम् , डा० रमाशंकर त्रिपाठी, चतुर्थ प्रकाश, श्लोक – 72.

नास्तीति यन्मया नोक्तमन्येषामपि याचताम् ।
वक्ष्यामि कथमायाते तदद्य चामरेऽच्युते ॥
श्लाघ्य एव हि वीराणां दानाच्चापत्समागमः ।
न बाधाकारि यद्दानं तदंग बलवत् स्मृतम् ॥
मद्राज्ये नासुखी कश्चिन्न दरिद्रो न चातुरः ।
न दुःखितो न चोद्विग्नो न शमादिविवर्जितः ॥
हृष्टस्तुष्टः सुगन्धी च तृप्तः सर्वसुखान्वितः ।
जनः सर्वो महाभाग किमुताहं सदा सुखी ॥
एतद्विशिष्टमत्राहं दानबीजफलं लभे ।
विदितं मुनिशार्दूल मयैतत् त्वन्मुखाच्छ्रुतम् ॥
मत्प्रसादपरो नूनं यज्ञेनाराधितो हरिः ।
मम दानमवाप्यासौ पुष्णाति यदि देवताः ॥
एतद्बीजवरे दानबीजं पतति चेद् गुरो ।
जनार्दने महापात्रे किं न प्राप्तं ततो मया ॥
विशिष्टं मम तद्दानं परितुष्टाश्च देवताः ।
उपभोगाच्छतगुणं दानं सुखकरं स्मृतम् ॥[1]
आदि

अर्थात् हे गुरु, क्या मैं उन अभ्यागत ईश्वर से "नहीं है" ऐसा कहूँ? नहीं कदापि नहीं। मैं भले ही अपने प्राण त्याग दूँ किन्तु किसी मनुष्य से "नहीं है" यह नहीं कह सकता ।

---

1. वामनपुराण, सरो०मा०, 10/21-29.

दूसरों के भी माँगने पर जब मैंने 'नहीं है' ऐसा नहीं कहा तो आज अच्युत देव के आने पर कैसे कहूँगा ?

वीर पुरुष के लिए दान से आपत्ति का समागम होना श्लाघ्य ही होता है । किन्तु हे गुरुदेव, जो दान बाधाकारी नहीं होता वह निस्सन्देह श्रेष्ठतर माना गया है ।

मेरे राज्य में कोई भी असुखी, दरिद्र, आतुर (रोगी) दुःखित, उद्विग्न एवं शमादि गुणों से हीन नहीं है ।

(अपितु) हे महाभाग, सभी लोग हृष्ट, पुष्ट, सुगन्धी, तृप्त एवं सुखों से युक्त हैं । अधिक क्या ? मैं तो (स्वयं भी) सदा सुखी हूँ ।

(इसलिए) हे मुनिशार्दूल ! आपके मुख से (ये बातें) सुनकर मुझे यह ज्ञात हो गया है कि मैं यहाँ पर विशिष्ट दानरूपी बीज का फल प्राप्त कर रहा हूँ ।

ये (भगवान वामन) मुझसे दान लेकर यदि देवताओं को तुष्ट-पुष्ट करते हैं तो यज्ञ से आराधित हरि मुझ पर निश्चय ही प्रसन्न हैं ।

यदि श्रीधर, महान् पात्र, पूज्य जनार्दन में मेरे दान का बीज पड़ गया तो फिर मुझे क्या प्राप्त नहीं हुआ ? (अर्थात् मुझे सब कुछ प्राप्त हो गया) अतः मेरा यह दान विशिष्ट प्रकार का है और देवता मेरे ऊपर प्रसन्न हैं । (क्योंकि) उपभोग की अपेक्षा दान को सौ गुना सुखकर माना गया है इत्यादि ।

उपरोक्त उदाहरण में भगवान वामन आलम्बन हैं, भगवान वामन के सामीप्य होने से देव शत्रुओं का निस्तेज होना तथा अग्नित्रय का भोग ग्रहण न करना आदि उद्दीपन विभाव है । दैत्यराज बलि का दान देने के लिए तत्पर

होना अनुभाव है तथा रोमांच, औत्सुक्य आदि संचारी भाव है । इस प्रकार यहाँ विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से स्थायीभाव 'उत्साह' वीर रस में अभिव्यक्त हुआ है ।

आलोचित पुराण में वर्णित वीर रस के सन्दर्भ में दया, युद्ध एवं दानवीर का विवेचन

दानवीर

आलोचित पुराण में रचनाकार ने वीर रस के सन्दर्भ में युद्धवीर की अपेक्षा दानवीर का चित्रण ही प्रधान रूप से किया है जो कि भगवान वामन के तीन पग भूमि की याचना पर राजा बलि के सर्वस्वदान से स्पष्ट लक्षित है ।

इसी प्रकार बलि-शुक्र संवाद में शुक्राचार्य द्वारा बलि से भगवान को दान न देने की सलाह दिये जाने पर भी बलि द्वारा भगवान को निश्चित रूप से दान दिये जाने के संकल्प को विभिन्न तर्कों द्वारा प्रस्तुत करना उसकी दानवीरता की सफलता को सिद्ध करती है । यथा -

> श्लाघ्य एव हि वीराणां दानाच्चापत्समागमः ।
> न बाधाकारि यद्दानं तदंग बलवत् स्मृतम् ।।[1]

अर्थात् वीर पुरुषों के लिए दान से आपत्ति का समागम होना श्लाघ्य ही होता है किन्तु जो दान बाधाकारी नहीं होता वह निस्सन्देह श्रेष्ठतर माना गया है तथा,

---

1. वामनपुराण, स०मा०, 10/23.

यद्बीजवरे दानबीजं पतति चेद् गुरौ ।
जनार्दने महापात्रे किं न प्राप्तं ततो मया ।।
विशिष्टं मम तद्दानं परितुष्टाश्च देवताः ।
उपभोगाच्छतगुणं दानं सुखकरं स्मृतम् ।।[1]

अर्थात् यदि बीजवर, महान् पात्र, पूज्य जनार्दन में मेरे दान का बीज पड़ गया तो फिर मुझे क्या नहीं मिला, अर्थात् मुझे सबकुछ प्राप्त हो गया । मेरा यह दान विशिष्ट प्रकार का है और देवता भी मुझ पर प्रसन्न हैं क्योंकि उपभोग की अपेक्षा दान को सौ गुना सुखकर माना गया है ।

इसके अतिरिक्त भगवान वामन के यज्ञ-मण्डप में प्रस्थान करते ही असुर-गणों का निस्तेज हो जाने पर भी संक्षोभग्रस्त राजा बलि का अपनी दानशीलता पर अडिग रहना प्रस्तुत पुराण के दान-वीर-रस की परिपाकता को सिद्ध करता है ।

<u>दया वीर</u>

वीर रस का यह भेद आलोचित पुराण में वर्णित पितामह प्रह्लाद का बलि के प्रति दया-विषयक उत्साह से स्पष्ट है । यथा -

त्वत्तस्तान्प्रबोधिष्यन्ति कश्यमेव च ।
सर्वेषामेव दुष्प्राप्यं ये भविष्यन्ति दानवाः ।।
सुरास्तमपि ते सर्वे न स्यास्यन्ति समागताः ।।
हत्वा सुरगणान् सर्वान् यज्ञभागानुभोजिनः ।
हव्यादांश्च सुरान् सर्वान् कव्यादांश्च पितृनपि ।।
करिष्ये त्रिलोकेशाः पारमेष्ठ्येन कर्मणा ।
यथायातेन मार्गेण निवर्तध्वं सुरोत्तमाः ।।[2]

---

1. वामनपुराण, सरोमा०, 10/28-29.   2. वही, 6/7-9.

अर्थात् तदनन्तर भगवान विष्णु ने उन (पराजित) देवताओं तथा कश्यप से कहा – आप सभी के जितने भी शत्रु होंगे वे क्षणमात्र भी मेरे सम्मुख नहीं ठहरेंगे अर्थात् (क्षणभर में विनाश को प्राप्त हो जायेंगे)।

हे देवश्रेष्ठों पारमेष्ठ्य कर्म द्वारा मैं सभी असुरों को मारकर देवताओं को यज्ञभागानुभोजी एवं हव्यभोजी तथा पितृगणों को कव्यभोजी बनाऊँगा । हे श्रेष्ठ देवों ! आप लोग जिस मार्ग से आये हैं, उसी से लौट जायें (आपका कार्य (सहायता) हम अवश्य करेंगे) ।

<u>युद्धवीर</u>

वीर रस का यह भेद आलोचित पुराण में वर्णित देवी एवं महिषासुर में युद्ध प्रसंग के अन्तर्गत देवी कात्यायनी का महिषासुर आदि दैत्यों के साथ युद्ध विषयक उत्साह से पूर्णतः स्पष्ट है, यथा –

शरवर्षेण तेनाथ विलोक्याद्रिं समावृतम् ।
क्रुद्धा भगवती वेगादाचकर्ष धनुर्वरम् ।।
तदनुद्रान्वि सैन्ये दुर्गाया नामितं बलात् ।
सुवर्णपृष्ठं विषमा विद्युदम्बुदेष्विव ।।
बाणैः सुररिपूनन्यान् खड्गेनान्यान् शुभव्रत ।
गदया मुसलेनान्यांश्चर्मणाऽन्यानपातयत् ।।
एकोऽप्यसौ बहून् केसरसटो निषूदयति दानवान् ।।[1] आदि

तदनन्तर पर्वत को बाण वर्षा से आवृत्त हुआ देखकर क्रुद्ध भगवती (कात्यायनी) ने वेगपूर्वक श्रेष्ठ धनुष को खींचा ।

---

1. वामनपुराण, 21-6-9.

दानव सेना के मध्य दुर्गा द्वारा बलपूर्वक झुकाया गया वह सुवर्णपृष्ठ वाला धनुष मेघों में विद्युत के तुल्य चमका ।

।तदनन्तर। हे सुव्रत । उन्होंने कुछ राक्षसों को बाणों के द्वारा कुछ को खड्ग के द्वारा, कुछ को गदा के द्वारा, कुछ को मुसल के द्वारा एवं कुछ को ढाल के द्वारा मार डाला ।

इस प्रकार देवी के काल तुल्य सिंह ने अपनी केसरसटा को हिलाते हुए अकेले ही अनेक दानवों का वध किया ।

वामन पुराण में इसी प्रकार के अन्य अनेक युद्ध विषयक उत्साह के वर्णन यत्र तत्र बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं ।

वीर रस से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वामनपुराणकार ने विभिन्न आख्यानात्मक प्रसंगों एवं उद्धरणों द्वारा वीर रस को परिपुष्ट करने का सफल प्रयास किया है ।

आलोचित पुराण में श्रृंगारादि अन्य रसों की स्वीकृति

वीर रस की प्रधानता के साथ ही साथ श्रृंगारादि अन्य रसों की सुन्दर झांकियाँ आलोचित पुराण के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देती है ।

श्रृंगार रस

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ।।
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा श्रृंगारो मधुरांगविचेष्टितैः ।।[1]

मनोहर देश, काल, कला, वेष तथा भोगादि के सेवन से परस्पर प्रेमासक्त युवक-युवती का जो प्रमोद होता है वही रति-भाव कहा जाता है और वही जब अंगों की मधुर चेष्टाओं द्वारा हृष्ट होता है, तब श्रृंगार रस कहलाता है, अर्थात् सहृदय के हृदय में वासना एवं संस्कार रूप से स्थित 'रति' स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा रसावस्था को पहुँचकर आस्वाद योग्य बनता है तब उसे श्रृंगार रस कहते हैं यथा आलोचित पुराण में वर्णित कुरुक्षेत्र-निर्माण वर्णन प्रसंग में संवरण एवं तपती वृत्तान्त के अन्तर्गत दोनों की परस्पर आसक्ति ।

तासां मध्ये ददर्शाथ कन्यां संवरणोऽधिकाम् ।।
दर्शनादेव स नृपः कामबाणेनपीडितः ।
जातः सा च तमीक्ष्यैव कामबाणातुराऽभवत् ।।
उभौ तौ पीडितौ मोहं जग्मतुः कामबाणतः ।
राजा चलासनो भूम्यां निपपात तुरंगमात् ।।[2]

---

1. धनंजयविरचितदशरूपकम्, डा० रमाशंकर त्रिपाठी, 4/47-48, पृ० 334.
2. वामनपुराण, 22/33-35.

"अर्थात् (सरस क्रीड़ा कर रही) अप्सराओं के मध्य एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या (तपती) को देखते ही वह राजा (संवरण) कामबाणों से पीड़ित हो गया और वह कन्या (तपती) भी राजा को देखते ही कामबाण से आतुर हो गई। काम बाणों से पीड़ित वे दोनों (संवरण एवं तपती) मूर्छित हो गये। राजा का आसन विचलित हो गया और वह घोड़े से पृथ्वी पर गिर पड़ा।"

प्रस्तुत श्लोक में संवरण एवं तपती (नायक-नायिका) दोनों ही परस्पर प्रेमासक्त हो एक दूसरे की अभिलाषा रखते हैं अतः यहाँ दोनों का यौवन पारस्परिक रति भाव के निमित्त प्रयुक्त हुआ है। अतः दोनों ही यहाँ एक दूसरे के रति-विषयक आश्रय हैं। यदि संवरण तपती विषयक रति का आश्रय है तो तपती आलम्बन विभाव है। तपती का सौन्दर्य उद्दीपन विभाव है। कामबाण से पीड़ित होना कामबाण से पीड़ित होकर मूर्छित हो जाना तथा घोड़े से गिर पड़ना अनुभाव तथा आतुरता, हर्ष आदि संचारी भाव हैं।

इस प्रकार संवरण के हृदय का रति-भाव स्थायी है। तपती आलम्बन विभाव, कामबाण अनुभाव एवं मूर्छा आदि संचारी भाव के संयोग से यहाँ (प्रस्तुत श्लोक में) श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति हुई है।

स्त्री पुरुष अथवा नायक-नायिका के परस्पर मिलने और बिछुड़ने के कारण उनके मानसिक विकारों में परिवर्तन उपस्थित होने लगता है। इस दृष्टि से श्रृंगार रस के दो भेद बतलाये गये हैं -

1. संयोग अथवा संभोग श्रृंगार
2. वियोग अथवा विप्रलम्भ श्रृंगार

सम्भोग श्रृंगार

> अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।
> दर्शनस्पर्शादीनि स संभोगो मुदान्वितः ।।[1]

अर्थात् वह आनन्दपूर्ण अवस्था सम्भोग अथवा संयोग श्रृंगार है, जिसमें दो विजातीय (नायक-नायिका) अनुकूल होकर परस्पर दर्शन, स्पर्श आदि का उपभोग करते हैं । यथा आलोचित पुराण में –

> वन क्रीडा विचित्राः सुकुसुमतरवो वारिणो बिन्दुपातै-
> र्गन्धाढ्यैर्गन्धचूर्णैः प्रविरलभवनौ गुण्डितौ गुण्डिकायाम् ।
> मुक्तादामैः प्रकामं हरिगिरितनया क्रीडनार्थं तदाऽघ्नत्
> पश्चात्सिन्दूरपुंजैरविरतविततैश्चक्रतुः क्ष्मां सुरक्ताम् ।।[2]

अर्थात् सुन्दर पुष्पों वाले वृक्षों से अलंकृत भूमि के घेरे में क्रीड़ा करते हुए शंकर और पार्वती ने एक दूसरे पर सुगन्धित जलबिन्दुओं और गन्धचूर्णों की अविरल वर्षा की । तदनन्तर उन दोनों ने क्रीडनार्थ एक दूसरे को मुक्तादाम से मारने के उपरान्त सिन्दूरपुंज की अविरत वर्षा से पृथ्वी को लाल कर दिया ।

इस प्रकार सम्भोग श्रृंगार में नायिकाओं में प्रिय (नायक) के प्रति क्रीड़ा आदि दस चेष्टायें पायी जाती हैं जो कि दाक्षिण्य मृदुता एवं प्रेम के अनुरूप हुआ करती हैं ।

---

1. नाट्यशास्त्रम्, डा० रमाशंकर त्रिपाठी, चतुर्थोल्लास, श्लोक संख्या 69, पृ0355.
2. वामनपुराणम्, 27/37.

विप्रलम्भ शृंगार

शृंगार में विरह के द्वारा सौन्दर्य को बतलाते हुए भरतमुनि ने यह सूचित किया है कि बिना विरह के शृंगार रस का प्रयोग न काव्य और न नाटक में ही हृदयग्राही हो सकता है । इसलिए सम्भोग शृंगार के अन्तर्गत मीठे स्वाद की निरन्तर रस एकता के परिहारार्थ गोत्रस्खलन आदि से उत्पन्न ईर्ष्या या अन्य कारणों से उत्पन्न ।विप्रलम्भ के कारणभूत। कलह के द्वारा विषम दशा की सृष्टि कविगण द्वारा की जाती है । इससे काव्यअथवा पुराण का चमत्कार बना रहता है ।[1]

आयोग एवं विप्रयोग भेद से विप्रलम्भ शृंगार दो प्रकार का है -

1. <u>आयोग विप्रलम्भ शृंगार</u>

> तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः ।
> पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसंगमः ॥[2]

अर्थात् आयोग विप्रलम्भ वहाँ होता है जहाँ नवयौवन से युक्त, परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका का, एक चाह रहने पर भी पराधीनतावश अथवा दैववश परस्पर दूर रहने से मिलन नहीं हो पाता ।

आलोचित पुराण में वर्णित दैववश होने वाला आयोग जैसे पार्वती और शिव का विरह-वियोग|पार्वती के विरह में व्यथित शिव दक्ष कन्या को स्वप्न में देखकर इस प्रकार वार्तालाप किया करता -

---

1. भरतमुनिकृत-नाट्यशास्त्र, प्राध्यापक श्री बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री, पृ0 309.
2. धनंजयकृत दशरूपकम् , डा0 रमाशंकर त्रिपाठी, चतुर्थ उल्लास, श्लोकांक 50, 51.

निष्ठुरे तिष्ठ किं भद्रे त्यजसे मामनिन्दिते ।
मुग्धे त्वया विरहितो दग्धोऽस्मि मदनाग्निना ॥[1]
आदि ।

अर्थात् हे निर्दये ! रुको हे भद्रे ! मुझे क्यों छोड़ रही हो ? हे अनिन्दिते ! हे मुग्धे ! तुम्हारे विरह में मैं कामाग्नि के द्वारा दग्ध हो रहा हूँ ।

<u>विप्रयोग विप्रलम्भ शृंगार</u>

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ॥
मानप्रवासभेदेन, मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः ।

अर्थात् अत्यन्त प्रेम के कारण जिनका परस्पर का विश्वास दृढ़ हो चुका है ऐसे नायक एवं नायिका का अलग हो जाना ही विप्रयोग कहलाता है । यह विप्रयोग भी दो प्रकार का होता है -

(1) मानविप्रयोग (2) प्रवासविप्रयोग

मानविप्रयोग पुनः दो प्रकार का होता है -

(1) प्रणय मानविप्रयोग तथा (2) ईर्ष्यामानविप्रयोग

नायक-नायिका में से किसी एक अथवा दोनों के कोपयुक्त होने पर प्रणय-मान हुआ करता है ।[2]

---

1. वामनपुराण, 36.
2. दशरूपकम् , डा० रमाशंकर त्रिपाठी, पृ० 345, चतुर्थोल्लास, श्लोक सं० 58.

यथा - आलोचित पुराण में वर्णित देवाधिदेव शंकर द्वारा गार्हस्थ्य स्वी धर्म का पालन करते हुए कभी विनोदार्थ गिरिजा (पार्वती) को 'काली' कहने पर रोषाविष्ट पार्वती द्वारा भगवान शंकर को कहा गया यह कथन -

पार्वती मन्युनाविष्टा शंकरं वाक्यमब्रवीत् ।
संरोहतीषुणा विद्धं वनं परशुना हतम् ॥
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम् ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
तैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
न तान् विमुञ्चेत हि पण्डितो जन-
स्तमद्य धर्मं वितथं त्वया कृतम् ॥[1]

रोषाविष्ट (कुपित) पार्वती ने भगवान शंकर से कहा - बाण से विद्ध एवं परशु से काटा हुआ वन पुनः हरा-भरा हो जाता है किन्तु वाणी से किया गया दोषपूर्ण एवं बीभत्स घाव नहीं भरता । मुख से निकले वाग्बाणों से आहत जन अहोरात्र शोक करते रहते हैं अतः पण्डितजनों को उक्त (कुवाच्यों) का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिस धर्म को आज आपने व्यर्थ कर दिया ।

ईर्ष्यामान

ईर्ष्यामान विप्रयोग वहाँ होता है जहाँ नायक (प्रियतम) को किसी दूसरी नायिका में आसक्त सुनकर, अनुमान कर अथवा देखकर स्त्रियों में क्रोध होता है ।[2]

---

1. वामनपुराण 28/7-8.
2. दशरूपकम् - डा० रमाशंकर त्रिपाठी, चतुर्थोल्लास, 59-60, पृ० 346.

इस प्रकार स्पष्ट है कि विप्रलम्भ शृंगार में व्याप्त विछोह आदि में प्रणय का भाव ही छिपा रहता है। कामदेव के भस्म होने पर रति का विलाप और संवरण[1] का शोकोद्गार आदि प्रेम-परिप्लावित ही है।

विप्रलम्भ शृंगार तथा करुण-रस में भेद

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः।
व्याश्रयत्वान्न शृंगारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः॥[2]

अर्थात् एक व्यक्ति (नायक अथवा नायिका) के मर जाने पर जहाँ दूसरा व्यक्ति विलाप करता है वहाँ करुण (शोक) रस ही होता है। विप्रलम्भ शृंगार नहीं होता; क्योंकि वहाँ शृंगार का आलम्बन ही विनष्ट हो चुका रहता है। किन्तु (मृत नायक या नायिका) यदि पुनर्जीवित हो उठते हैं तो वहाँ करुण नहीं होता अपितु शृंगार रस (विप्रलम्भ शृंगार) ही होता है।

यथा - आलोचित पुराण में वर्णित दक्ष-दुहिता सती के प्राण त्याग करने पर त्रिलोचन शिव का सती को स्मरण कर कभी गाना, कभी रोना और कभी स्वप्नकाल में दक्षकन्या को देखकर विलाप करते हुए इस प्रकार कहना -

विबुद्धि तिष्ठ किं मूढे त्यजसे मामनिन्दिते।
मुग्धे त्वया विरहितो दग्धोऽस्मि मदनाग्निना॥

---

1. वामन पुराण, 22/33-39.

2. धनंजयकृत, दशरूपकम्, डा० रमाशंकर त्रिपाठी, 4/67, पृ० 354.

सति सत्यं प्रकुपिता मा कोपं कुरु सुन्दरि ।
पादप्रणामावनतमभिभाषितुमर्हसि ॥
शृणोषि पश्यसे नित्यं स्पृश्यसे वन्द्यसे प्रिये ।
आलिंग्यसे च सततं किमर्थं नाभिभाषसे ॥
विलपन्तं जनं दृष्ट्वा कृपा कस्य न जायते ।
विशेषतः पतिं बाले ननु त्वमतिनिर्घृणा ॥
त्वयोक्तानि वचांस्येव पूर्वं मम कृशोदरि ।
विना त्वया न जीवेयं तदसत्यं त्वया कृतम् ॥
एह्येहि कामसंतप्तं परिष्वज सुलोचने ।
नान्यथा नश्यते तापः सत्येनापि शपे प्रिये ॥[1]

अर्थात् "हे निर्दये ! रुको, हे मुग्धे, मुझे क्यों छोड़ रही हो ? हे अनिन्दिते, हे सुभ्रु, तुम्हारे विरह में मैं कामाग्नि के द्वारा दग्ध हो रहा हूँ ।

हे सति, क्या तुम वस्तुतः क्रुद्ध हो ? हे सुन्दरि, क्रोध मत करो । मैं तुम्हारे चरणों में अवनत होकर प्रणाम करता हूँ । मेरे साथ तुम्हें सम्भाषण करना चाहिए ।

हे प्रिये, मैं निरन्तर तुम्हारी बात सुनता हूँ, तुम्हें देखता हूँ, तुम्हारा स्पर्श करता हूँ, तुम्हारी वन्दना करता हूँ तथा तुम्हें आलिंगित करता हूँ । तुम बात क्यों नहीं कर रही हो ?

हे बाले, विलाप करने वाले व्यक्ति को देखकर किसे दया नहीं उत्पन्न होती ? विशेषतः अपने पति को विलाप करते हुए देखकर किसे दया नहीं आती ? निश्चय ही तुम अति निर्दयी हो ।

---

1. वामनपुराण, 6/36-41.

हे कृशोदरी, तुमने पहले मुझसे कहा था कि तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रहूँगी । उसे तुमने असत्य कर दिया ।

हे सुलोचने, आओ, आओ । कामसन्तप्त मुझे आलिंगित करो । हे प्रिये, मैं सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ कि अन्य किसी प्रकार भी मेरा ताप नहीं शान्त होगा ।"

इस प्रकार विलाप करते हुए शिव का स्वप्न के अन्त में तत्क्षण उठकर अरण्य में मुक्त कण्ठ से रोने लगना करुण ही है शृंगार नहीं । क्योंकि यहाँ रति भाव का आलम्बन (सती) ही समाप्त हो जाता है । अतः रति का उद्भव ही सम्भव नहीं है । किन्तु कुछ समय पश्चात्, मृत-सती का हिमवान् के घर माता मैना के, गर्भ से काली रूप में जन्म लेकर शूलपाणि वृषध्वज रुद्र (शिव) को पुनः प्राप्त करने के लिए तपोवन में जाकर घोर तप करना आदि वृत्तान्त[1] को सुनकर भगवान शिव के पुनः दुःखित होने में शृंगार (विप्रलम्भ) है । क्योंकि सती के पुनर्जन्म को सुनने के बाद शिव के मन में सती के पुनर्मिलन की आशा अंकुरित हो उठती है, जिससे रति भाव का उद्भव होता है । अतः ऐसे स्थलों पर विप्रलम्भ शृंगार ही होता है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि करुण और विप्रलम्भ के व्यभिचारीभावों में कोई अन्तर न हो तो फिर इन दोनों का भेद कैसे किया जाये - ऐसे प्रश्न के उत्तर में भरतमुनि का कथन है - कि शाप और क्लेश से ग्रस्त इष्टजन के विभव-नाश, वध या बन्धनादि से उत्पन्न निरपेक्ष भाव 'करुण' कहलाता है ।[2]

---

1. वामन पुराण, 25/1-38.
2. नाट्यशास्त्रम्, प्राध्यापक श्री बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री, पृ0 38.
   (करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः ।)

यथा – आलोचित पुराण में वर्णित 'सरोमाहात्म्य' के अन्तर्गत, दैत्यों के तेज का विनाश होता देखकर असुरराज बलि द्वारा प्रह्लाद द्वारा मन को ध्यानपथगामी बनाकर जनार्दन देव के स्वरूप का चिन्तन कर, बलि से भगवान विष्णु का अदिति के गर्भ से वामन रूप में उत्पन्न होना, एवं ऐश्वर्य आदि को बताये जाने और उन्हीं के द्वारा दैत्यों के तेज एवं बल का अपहरण किये जाने की बात सुनकर बलि द्वारा भगवान वासुदेव को आक्षेप किये जाने पर क्रुद्ध प्रह्लाद का बलि को ऐश्वर्यच्युत होने का शाप देना[1], तदनन्तर कुछ समय पश्चात् भगवान वामन का शापयुक्त बलि की यज्ञशाला में प्रवेश कर तीन पग भूमि की याचना कर अपने विराट्मय रूप द्वारा बलि का सर्वस्व छीन लेना और अन्त में बलि को वरुण पाशों से आबद्ध कर, रसातल (सुतल लोक) भेजना, तदनन्तर सुतल लोक में भगवान विष्णु के चक्र का प्रवेश करना और असुरों को निस्तेज कर निकल जाना, सुदर्शन के निकल जाने पर मति विकल बलि द्वारा पितामह प्रह्लाद का स्मरण करना ।[2] तदनन्तर पितामह का सुतल लोक में प्रवेश[3] कर अपने पौत्र की क्लेशयुक्त अवस्था को देखकर शोक प्रकट करना तथा पौत्र बलि से हितकर श्रेष्ठ वचन कहना[4] आदि प्रसंग में करुण रस का उद्रेक ही है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों के द्वारा शाप की अवस्था प्राप्त करने पर उसके प्रतिकार का कोई मार्ग नहीं रहता । अतः उनके लिए यह केवल शोकोदय का कारण ही बनता है ।[5]

---

1. वामनपुराण, सरो० महा० 8/45-49.
2. वामनपुराण, 67/20.
3. वही, 67/21.
4. वही, 67/26.
5. वही, 25/39-44.

इसके विपरीत उमा की तपश्चर्या में करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ की अवस्था को रखने के लिए ही पुराणकार ने शिव के कठोर एवं भयंकर वचन को सुनकर अन्तर्दुःख से जलती हुई, ज्ञान-समन्वित पार्वती द्वारा देवाधिदेव की आराधना-हेतु महारण्य में घोर तप करने और सखियों के द्वारा निर्मित मिट्टी के त्रिशूलधारी शंकर की नित्य पूजा करने का उल्लेख किया है।

इसी प्रकार विक्रमोर्वशीय में भी करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ की अवस्था रखने के लिए चक्रवर्ती कालिदास ने उर्वशी के शापवश स्वर्ग चले जाने पर भी पुरूरवा के शोक को मिटाने के लिए उर्वशी के शाप प्राप्ति का पुरूरवा को पता न लगने पाये। क्योंकि यदि पुरूरवा को पता चल जाये तो शोक स्थायी हो जायेगा और करुण-रस की स्थिति हो जायेगी। क्योंकि पुरूरवा को उर्वशी के शाप का पता तक नहीं है अतः यहाँ विप्रलम्भ शृंगार को ही स्वीकार किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विप्रलम्भ और करुण का भेद स्पष्ट करने के लिए ही करुण को निरपेक्ष भाव कहा गया है। निरपेक्ष भाव का तात्पर्य है - कि रति में जिस प्रकार बन्धुजन की अर्थात् आलम्बन विभाव की अपेक्षा होती है वैसी यहाँ (शोक) में नहीं रहती। विप्रलम्भ में हमेशा प्रियजन से मिलने की आशा बनी ही रहती है चाहे नायक अथवा नायिका को कितने ही कष्ट क्यों न सहने पड़ें, जबकि करुण में प्रियजन की मृत्यु अथवा विभवनाश अथवा बन्धन के कारण ऐसी आशा नहीं होती। महाकवि कालिदास ने भी मेघदूत में कहा है कि -

'आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानाम्'।[1]

---

1. कालिदासकृत-मेघदूतम्, 10.

अर्थात् यह आशाबन्ध विप्रलम्भ में अटूट बना रहता है । जैसे पार्वती में शिव-प्राप्ति की आशा ।

इस प्रकार करुण एवं विप्रलम्भ की स्वरूप कथन के पश्चात् भरतमुनि ने स्पष्ट कहा है कि -

'औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः '[1]

अर्थात् औत्सुक्य एवं चिन्ता से उत्पन्न होने वाला सापेक्ष भाव विप्रलम्भ का कारण होता है ।

आलोचित पुराण में वर्णित उमा की तपश्चर्या[2] जो औत्सुक्य प्रधान चिन्तादि व्यभिचारी भाव है उनसे उत्पन्न सापेक्षभाव (रति) विप्रलम्भ ही है क्योंकि यहाँ विषय (आलम्बन विभाव - शिव) की उपस्थिति विद्यमान है ।

किन्तु दक्ष-यज्ञ में सती के देह-त्याग के पश्चात् भगवान शंकर का पत्नी के विरह में व्याकुल होने[3] में आलम्बन विभाव (सती) का अन्त (मृत्यु) हो गया होता है अतः शिव (आश्रय) में चिन्ता औत्सुक्यादि में व्यभिचारी भाव सम्भव नहीं है अतः यहाँ करुण रस ही सम्भव है विप्रलम्भ नहीं ।

---

1. नाट्यशास्त्र, प्राध्यापक बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री, पृ0 312.
2. वामनपुराण, अध्याय 24.
3. वही, 6/26-42.

रौद्र रस

> क्रोधो मत्सरवैरि विकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
> क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभ्रुकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः ।
> शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै-
> रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः ॥[1]

अर्थात् मत्सर तथा वैरी के द्वारा किये गये अपकार आदि (विभावों) से उत्पन्न होने वाला जो क्रोध है उसका परिपोष ही रौद्र-रस कहलाता है। इसके पश्चात् (मानसिक अनुभाव) क्षोभ उत्पन्न होता है, जो अपने होंठ को काटना, काँपना, भौंह चढ़ाना, पसीना आना तथा मुख का लाल होना एवं शस्त्र उठाना, डींग हाँकना, कन्धे पर और (पैर से) पृथ्वी पर चोट करना, प्रतिज्ञा करना आदि (आंगिक, वाचिक अनुभावों तथा सात्त्विक भावों) से युक्त होता है। अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता तथा वेग आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

शत्रु के द्वारा कृत अपकारादि (विभावों) से होने वाला रौद्र रस यथा-आलोचित पुराण में शत्रु महिषासुर के वचनों से क्रुद्ध हुई देवी कात्यायनी का दनु-पुत्र दुन्दुभि से इस प्रकार कहा जाना - (उदाहरण)

> कुलेऽस्मदीये शृणु दैत्य शुल्कं
> कृतं हि यत्पूर्वतरैः प्रसह्य ।
> यो जेष्यतेऽस्मत्कुलजां रणाग्रे
> तस्याः स भर्ताऽपि भविष्यतीति ॥[2]

---

1. दशरूपकम्, डा0 रमाशंकर त्रिपाठी, चतुर्थ प्रकाश, श्लोक सं0 74.
2. वामनपुराण, 21/34.

अर्थात् हे दैत्य ! पूर्वजों ने हठपूर्वक हमारे कुल में जो शुल्क निर्धारित किया है उसे सुनो । हमारे कुल में उत्पन्न कन्या को जो युद्ध में जीतेगा वही उसका पति होगा (अर्थात् युद्ध में मुझसे सर्वथा पराजित यह दुष्ट दैत्यराज भी हमारा पति नहीं हो सकता।

उपरोक्त उदाहरण में देवी कात्यायनी आश्रय है, महिषासुर आदि शत्रु आलम्बन, उनके कटु वचन उद्दीपन विभाव, देवी द्वारा कथित प्रतिज्ञा आदि अनुभाव एवं गर्व, उग्रता आदि संचारीभाव की योजना से रौद्र रस की अभिव्यक्ति हुई है ।

2. मात्सर्य विभाव से होने वाला रौद्र यथा आलोचित पुराण में वशिष्ठा-पवाह तीर्थ की उत्पत्ति वर्णन प्रसंग में द्विजश्रेष्ठ वशिष्ठ की तपस्या से हीन विश्वामित्र का महानदी सरस्वती से वशिष्ठ के प्रति रौद्र कथन –

सरस्वतीं समाहूय इदं वचनमब्रवीत् ।
वशिष्ठं मुनिशार्दूलं स्वेन वेगेन आनय ।।
इहाहं तं द्विजश्रेष्ठं हनिष्यामि न संशय ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं व्यथिता सा महानदी ।।
तथा तां व्यथितां दृष्ट्वा वेपमानां महानदीम् ।
विश्वामित्रोऽब्रवीत् क्रुद्धो वशिष्ठं शीघ्रमानय ।।[1]

उन्होंने (विश्वामित्र) ने सरस्वती को बुलाकर यह वचन कहा कि – तुम मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ को अपने वेग से लाओ । मैं उन द्विजश्रेष्ठ को निस्सन्देह

---

1. वामनपुराण, सरो०माहा०, 19/6-8.

मारूँगा । यह सुनकर वह महानदी व्यथित हो गई ।

इस प्रकार (विश्वामित्र के वचनों से) व्यथित एवं प्रकम्पित होती हुई उस महानदी को देखकर क्रुद्ध विश्वामित्र ने (पुनः) कहा - वशिष्ठ को शीघ्र लाओ ।

प्रस्तुत उदाहरण में मात्सर्य आदि विभावों से, प्रस्वेद, मुख का लाल होना, उच्च स्वर में बोलना आदि अनुभावों से एवं दीनता, अमर्ष, मद आदि व्यभिचारी भावों से उत्पन्न हुए क्रोध का परिपोष ही रौद्र रस है ।

रौद्र-रस को आलोचित पुराण में वर्णित-प्रह्लाद[1], देवी दुर्गा[2], देवाधिदेव शंकर[3], शुक्राचार्य[4] आदि के आचरणों (प्रसंगों) में भी देखा जा सकता है।

<u>हास्य रस</u>

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा ।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ।।[5]

'अपने अथवा दूसरे के विकृत आकार, वचन तथा वेश आदि (विभावों) से जो हास (स्थायी भाव) उत्पन्न होता है उसका परिपोष हास्य रस कहलाता है ।

---

1. वामनपुराण,सरो0मा0, 8/33-44, 51/25-37.
2. वही, 21/6-49
3. वामनपुराण, 6/95-96
4. वही, 40/12-14.
5. दशरूपकम् , पूर्वोद्धृत, चतुर्थ प्रकाश, श्लोक सं0 75, पृ0 36.

आलोचित पुराण में कामदेव की अनंग आकृति रूप विभाव से उत्पन्न हास्य रस यथा -

ततोऽनंगं विकुंठदृष्ट्वा ब्रह्मन् नारायणो मुनिः ।
प्रहस्यैव वचः प्राह कन्दर्प इह आस्यताम् ।।

यह हास्य त्रिप्रकृति कहा गया है ।अर्थात् यह तीन प्रकार के आश्रयों में रहने वाला होता है। ।

हास्य रस दो प्रकार का होता है -

1. आत्मस्थ तथा 2. परस्थ

आत्मस्थ हास्य - वहाँ होता है जब अपने विकृत वेष आदि को देखकर मनुष्य स्वयं हँसता है यथा, आलोचित पुराण में भगवान विष्णु का वामन ब्रह्मचारी के वेश में बलि की यज्ञशाला में प्रस्थान करते ही बलि द्वारा पूजित होने पर भगवान का स्वयं अपने ही छद्मवेष पर हँसना ।[1]

ततोऽब्रवीत सुरश्रेष्ठो दैत्यराजानमव्ययः ।
विहस्य सुचिरं कालं भरद्वाजमवेक्ष्य च ।।

प्रस्तुत उदाहरण में स्वयं भगवान वामन आलम्बन है, उनका छद्मवेष उद्दीपन है, अपने ही छद्मवेश को देखकर हँसना अनुभाव है तथा हर्ष, औत्सुक्य आदि व्यभिचारीभावों के संयोग से हास्य रस की निष्पत्ति हुई है ।

---

1. वामनपुराण, 65/6.

परस्थ हास्य - जब मनुष्य अपने विकृत वेश वचन आदि से दूसरों को हँसाता है तो वहाँ परस्थ हास्य होता है जैसे -

मालिनी द्वारा देवी पार्वती को स्नान कराते समय महादेव शिव के वचनों का स्मरण कर मालिनी का हँसना ।

मालिनी को हँसते देख देवी द्वारा हँसी का कारण पूछे जाने पर मालिनी का इस प्रकार कहा जाना कि -

> साऽथोवाच हसाम्येव भवत्यास्तनयः किल ।।
> भविष्यतीति देवेन प्रोक्तो नन्दी गणाधिपः ।
> तच्छ्रुत्वा मम हासो यं संजातोऽद्य कृशोदरि ।।
> यस्माद् देवैः पुत्रकामः शंकरो विनिवारितः ।
> एतच्छ्रुत्वा ययौ देवी सस्नौ तत्र विधानतः ।।[1]

अर्थात् मैं इसलिए हँस रही हूँ कि आपको अवश्य पुत्र होगा, ऐसा महादेव ने गणपति नन्दी से कहा था । अतः हे कृशोदरि ! आज उसे सुनकर (स्मरण कर) मुझे हँसी आ गयी क्योंकि देवताओं ने शंकर को पुत्र की कामना करने से रोक दिया है ।

उपरोक्त उदाहरण में मालिनी आश्रय है, महादेव आलम्बन विभाव, महादेव द्वारा गणपति नन्दी से कहा गया कथन उद्दीपन विभाव, वचनों को स्मरण कर हँसी आलम्बन विभाव और उससे उत्पन्न ग्लानि आदि व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर 'हास्य-रस' की अभिव्यक्ति हुई है ।

---

1. वामनपुराण, 28/61-63.

अद्भुत रस

> "अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः ।।
> कर्मास्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदाः ।
> हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः ।।[1]

अद्भुत पदार्थों (को देखने तथा सुनने) से उत्पन्न विस्मय (स्थायीभाव) ही जिसका स्वरूप है, वह अद्भुत रस है । वाह-वाह करना (आँखों में) आँसू का आना, काँपना, पसीना आना तथा गद्गद होना आदि इसके अनुभाव (कार्य) हैं तथा हर्ष आवेग एवं धृति आदि इसके व्यभिचारी भाव कहे गये हैं ।

अर्थात् लोक-सीमा का अतिक्रमण करने वाले पदार्थों के वर्णन आदि से साधुवाद (वाह-वाह) आदि अनुभावों से परिपुष्ट, आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भावों से भावित विस्मय नामक स्थायीभाव ही अद्भुत रस कहलाता है । यथा - आलोचित पुराण में वर्णित भगवान वामन का अद्भुत विराट् विश्वमय स्वरूप[2] आदि -

> वामनो तु वर्धितो सौये दिव्यं रूपं चकार ह ।
> त्रैलोक्यक्रमणार्थाय बहुरूपं जगन्मयम् ।।
> पद्भ्यां भूमिस्तथा जङ्घे नभस्त्रैलोक्यवन्दितः ।
> सत्यं तपो जानुयुग्मे ऊरुभ्यां मेरुमन्दरौ ।।
> विश्वेदेवा कटिभागे मरुतो वस्तिशीर्षगाः ।
> लिङ्गे स्थितो मन्मथश्च वृषणाभ्यां प्रजापतिः ।।

---

1. पूर्वोद्धृत, दशरूपकम् , चतुर्थ प्रकाश, 78-79.
2. वामनपुराण, सरो०महा०, 10/48-64, 52/82-87, 65/18-29.

कुक्षिभ्यामर्णवाः सप्त जठरे भुवनानि च ।
नदिषु त्रिषु नक्षत्र यज्ञास्तु जठरे स्थिताः ॥
इष्टापूर्तादयः सर्वाः क्रियास्तत्र तु संस्थिताः ।
पृष्ठस्था वसवो देवाः स्कन्धौ रुद्रैरधिष्ठितौ ॥
बाहवश्च दिशः सर्वा वसवोऽष्टौ करे स्मृताः ।
हृदये संस्थितो ब्रह्मा कुलिशो हृदयास्थिषु ॥
श्रीसमुद्रा उरोमध्ये चन्द्रमा मनसि स्थितः ।
ग्रीवादितिर्देवमाता विद्यास्तद्वलयास्थिताः ॥
मुखे तु साग्नयो विप्राः संस्कारा दशनच्छदाः ।
धर्मकामार्थमोक्षीयाः शास्त्राः शौचसमन्विताः ॥
लक्ष्म्या सहललाटस्थाः श्रवणाभ्यामथाश्विनौ ।
श्वाससंस्थो मातरिश्वा च मरुतः सर्वसंधिषु ॥
सर्वसूक्तानि दशना जिह्वा देवी सरस्वती ।
चन्द्रादित्यौ च नयने पक्ष्मस्थाः कृत्तिकादयः ॥
शिखायां देवदेवस्य ध्रुवो राजा न्यषीदत् ।
तारका रोमकूपेभ्यो रोमाणि च महर्षयः ॥
गुणैः सर्वमयोभूत्वा भगवान् भूतभावनः ।
क्रमेणैकेन जगतीं जहार सचराचरम् ॥[1]

अर्थात् (बलि द्वारा) हाथ पर जल गिराते ही भगवान् विष्णु (वामन) ने तीनों लोकों को नापने हेतु बृहद् दिव्यविश्वमय रूप धारण कर लिया ।

---

1. वामनपुराण 65/18-29.

उनके पैर में भूमि, जंघाओं में त्रैलोक्य-पूजित आकाश, दोनों बाहुओं में सत्यलोक और तपोलोक, दोनों जानुओं में मेरु और मन्दर पर्वत, कटि प्रदेश में विश्वदेव, वस्तिप्रदेश के शीर्षस्थान पर मरुद्गण, लिंग में कामदेव, वृषणों में प्रजापति, कुक्षियों में सप्त समुद्र, जठर में समस्त भुवन, त्रिवली में नदियाँ, एवं उनके जठर में यज्ञ स्थित है ।

जठर में ही इष्टापूर्त आदि समस्त क्रियायें अवस्थित थीं । पीठ में वसुगण और देवगण तथा कन्धों में रुद्रगण अधिष्ठित थे ।

सभी दिशायें उनके बाहुस्वरूप थीं । उनके हाथ में आठ वसुगण, हृदय में ब्रह्मा एवं हृदय की अस्थियों में कुलिश स्थित था ।

उर के मध्य श्री तथा समुद्र, मन में चन्द्रमा, ग्रीवा में देवमाता अदिति तथा वलयों में सारी विद्यायें अवस्थित थीं ।

मुख में अग्नि के सहित ब्राह्मण, ओष्ठ में सभी धार्मिक संस्कार, ललाट में लक्ष्मीसहित तथा पवित्रता के साथ धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष सम्बन्धी शास्त्र, कर्णों में अश्विनीकुमार, श्वास में वायु एवं सभी सन्धियों में मरुद्गण स्थित थे ।

उनके दाँतों में समस्त सूक्त, जिह्वा में सरस्वती देवी, दोनों नेत्रों में चन्द्र और सूर्य एवं बरौनियों में कृत्तिका आदि नक्षत्र विद्यमान थे ।

देवदेव की शिखा में राजा ध्रुव, रोमकूपों में तारा और रोमों में महर्षि लोग अवस्थित थे ।

इस प्रकार भूतभावन भगवान वामन (विष्णु) ने गुणों के द्वारा सर्वमय होकर एक पद में ही चराचर सहित पृथ्वी का हरण कर लिया ।

इस प्रकार भगवान वामन के अद्‌भुत विराट् रूप को देखकर राजा बलि के साथ समस्त दैत्यगण हतप्रभ हो गये ।

उपरोक्त उदाहरण में लोक सीमा का अतिक्रमण करने वाला पदार्थ अथवा भगवान वामन अद्‌भुत रस के आलम्बन विभाव है, भगवान का अद्‌भुत विराट् विस्मय रूप उद्दीपन विभाव है, इन विभावों एवं राजा बलि का गद्‌गद् होना तथा दैत्यगणों का हतप्रभ होना आदि अनुभावों एवं भगवान् के विराट् विस्मय स्वरूप को देखकर बलि में उत्पन्न हर्ष, आवेग, धृति आदि व्यभिचारीभावों के संयोग से उत्पन्न विस्मय स्थायी भाव से अद्‌भुत रस की परिपुष्टि हुई है ।

आलोचित पुराण में इसी प्रकार अन्य अनेक उपाख्यानों में वर्णित अद्‌भुत दृश्य[1], द्रष्टा एवं श्रोता में अद्‌भुत रस को उत्पन्न करने में सहायक हैं ।

भयानक रस

विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानकः ।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैवर्ण्यलक्षणः ॥
दैन्यसम्भ्रमसम्मोहत्रासादिस्तत्सहोदरः ॥[2]

डरावने शब्द अथवा सत्त्व (जीव, पराक्रम एवं राक्षस) आदि (विभावों) से उत्पन्न भय नामक स्थायी भाव (परिपुष्ट होकर) भयानक रस होता है ।

---

1. वामनपुराण, 53/37-38.
2. धनञ्जय, दशरूपकम् , चतुर्थ प्रकाश/80.

समूचे शरीर में कंपकंपी, पसीना-आना, मुख सूख जाना, रंग फीका हो जाना आदि इसके लक्षण (अर्थात् अनुभाव) हैं। दीनता, भाग-दौड़, किंकर्तव्यविमूढ हो जाना, त्रास आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।

अर्थात् डरावने शब्द को सुनने अथवा डरावने प्राणी को देखने से उत्पन्न भय (नामक) स्थायी भाव से भयानक रस की परिपुष्टि होती है। यथा -

आलोचित पुराण में वर्णित देवी एवं महिषासुर कथोपाख्यान के अन्तर्गत देवी के कालतुल्य सिंह द्वारा विदीर्ण किये जाते हुए दानवों में उत्पन्न भय[1]-

> कुलिशाभिहता दैत्याः शक्त्या निर्भिन्नवक्षसः ।
> लांगलैर्दारितग्रीवा विनिकृत्ताः परश्वधैः ॥
> दण्डनिर्भिन्नशिरसश्चक्रविच्छिन्नबन्धनाः ।
> चेलुः पेतुश्च मम्लुश्च तत्यजुश्चापरे रणम् ॥
> ते वध्यमाना रौद्र्या दुर्गया दैत्यदानवाः ।
> कालरात्रिं मन्यमाना दुद्रुवुर्भयपीडिताः ॥[2]

अर्थात् (देवी दुर्गा के) कुलिश से आहत, शक्ति से विदीर्ण वक्षःस्थल वाले, हल से फाड़ी गयी गर्दन वाले, परशवध से काटे गये, दण्ड से फोड़े गये सिर वाले तथा चक्र से विच्छिन्न बन्धनों वाले दैत्य विचलित हो गये, गिर गये, मूर्छित हो गये और कोई-कोई युद्ध छोड़कर भाग खड़े हुए।

इस प्रकार भयंकर दुर्गा द्वारा मारे जा रहे भयपीड़ित दैत्य एवं दानव

---

1. वामनपुराण, 21/9-12.
2. वही, 21/10-12.

उन्हें कालरात्रि मानकर भाग खड़े हुए ।

प्रस्तुत उदाहरण में दैत्यगण आश्रय है । कालरात्रि स्वरूपिणि दुर्गा आलम्बन विभाव है, देवी दुर्गा द्वारा दैत्यों को शूलिका से आहत करना, शक्ति से विदीर्ण करना, दण्ड से सिर फोड़ना एवं चक्र से विच्छिन्न करना आदि उद्दीपन विभाव है । देवी द्वारा परिपीड़ित दैत्यों का विचलित होना, गिरना, मूर्छित होना, युद्ध छोड़कर भागना आदि इसके अनुभाव हैं तथा दीनता, त्रास आदि संचारी भाव हैं । इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से दैत्यों में उत्पन्न स्थायी भाव 'भय' भयानक रस में अभिव्यक्त हुआ है ।

<u>करुण रस</u>

इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनुतम् ।
निश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥
स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥[1]

इष्ट के विनाश तथा अनिष्ट की उपलब्धि से उत्पन्न शोक ही करुण रस का स्थायी भाव है । अर्थात् ।विभावादि से परिपुष्ट हुआ शोक ही करुण रस है। । उसके पश्चात् होने वाले निःश्वास, उच्छ्वास, रुदित, स्तम्भ तथा प्रलाप आदि इसके अनुभाव है । निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, तथा चिन्ता आदि इसके व्यभि-चारी भाव है ।

---

1. पूर्वोद्धृत, दशरूपकम् , चतुर्थ प्रकाश/81-82.

कथन का तात्पर्य यह है कि इष्ट अर्थात् भाई-बन्धु आदि के विनाश से तथा अनिष्ट अर्थात् बन्धन आदि के प्राप्ति से होने वाले शोक की पुष्कलता से करुण रस उत्पन्न होता है। [अर्थात् शोक के परिपोष से करुण रस की उत्पत्ति होती है।

यथा - आलोचित पुराण में वर्णित सती के प्राणत्याग करने पर भगवान शिव का शोक[1] -

यदा दक्षसुता ब्रह्मन् सती याता यमक्षयम् ।
विनाश्य दक्षयज्ञं स विचचार त्रिलोचनः ॥
ततो वृषध्वजं दृष्ट्वा कन्दर्पः कुसुमायुधः ।
अपत्नीकं तदाऽस्त्रेण ह्युन्मादेनाभ्यताडयत् ॥
ततो हरः शरेणाथ उन्मादेनाशु ताडितः ।
विचचार ततोन्मत्तः काननानि सरांसि च ॥
स्मरन् सतीं महादेवस्तथोन्मादेन ताडितः ।
न शर्म लेभे देवर्षे बाणविद्ध इव द्विपः ॥[2]

xxxxx xxxxx xxxxx xxx

क्षणं गायति देवर्षे क्षणं रोदिति शंकरः ।
क्षणं ध्यायति तन्वंगीं दक्षकन्यां मनोरमाम् ॥
ध्यात्वा क्षणं प्रस्वपिति क्षणं स्वप्नायते हरः ।
स्वप्ने तथेदं गदति तां दृष्ट्वा दक्षकन्यकाम् ॥
निर्घृणे तिष्ठ किं मूढे त्यजसे मामनिन्दिते ।
मुग्धे त्वया विरहितो दग्धोऽस्मि मदनाग्निना ॥

---

1. वामनपुराण, 6/26-42 2. वामनपुराण, 6/26-29.

सति सत्यं प्रकुपिता मा कोपं कुरु सुन्दरि ।
पादप्रणामावनतमभिभाषितुमर्हसि ।।
स्तूयसे दृश्यसे नित्यं स्पृश्यसे वन्द्यसे प्रिये ।
आलिंग्यसे च सततं किमर्थं नाभिभाषसे ।।
विलपन्तं जनं दृष्ट्वा कृपा कस्य न जायते ।
विशेषतः पतिं बाले ननु त्वमभिनिष्ठुरा ।।
त्वयोक्तानि वचांस्येवं पूर्वं मम कृशोदरि ।
विना त्वया न जीवेयं तदसत्यं त्वया कृतम् ।।
एह्येहि कामसंतप्तं परिष्वज सुलोचने ।
नान्यथा नश्यते तापः सत्येनापि शपे प्रिये ।।
इत्थं विलप्य स्वप्नान्ते प्रतिबुद्धस्तु सत्वरात् ।
उत्कूजति तथा रण्ये मुक्तकण्ठं पुनः पुनः ।।[1]

अर्थात् दक्षदुहिता सती के प्राणत्याग करने के बाद त्रिलोचन देव दक्षयज्ञ का विध्वंस कर विचरण करने लगे ।

तदनन्तर वृषभध्वज को अपत्नीक देखकर कुसुमायुध कन्दर्प ने उन्हें उन्माद नामक अस्त्र से आहत किया ।

तदुपरान्त उन्माद शर से ताड़ित शंकर उन्मत्त होकर वनों और सरोवर में विचरण करने लगे ।

बाणविद्ध गज के सदृश उन्माद शर से उस प्रकार ताड़ित महादेव द्वारा

---

1. वामनपुराण, 6/34-42

सती का स्मरण करते हुए शान्ति को प्राप्त न कर सकेंगी ।

xxxxx xxxxx xxxxx xxxxx xxxxx xxxxx

सती वियोग में शान्ति प्राप्त न कर सकने के कारण शंकर कभी गाते, कभी रोते और कभी कृशांगी मनोरमा दक्षकन्या का ध्यान करते थे ।

ध्यान करके कभी सोते और कभी स्वप्न देखने लगते थे, स्वप्न काल में दक्ष कन्या सती को देखकर इस प्रकार कहते -

हे दिव्ये ! रुको, हे मूढे, मुझे क्यों छोड़ रही हो ? हे आनन्दिते, हे मुग्धे, तुम्हारे विरह में मैं कामाग्नि के द्वारा दग्ध हो रहा हूँ ।

हे सति क्या तुम वस्तुतः क्रुद्ध हो । हे सुन्दरी, क्रोध मत करो, मैं तुम्हारे चरणों में अवनत होकर प्रणाम करता हूँ । मेरे साथ तुम्हें बातें करनी चाहिये ।

हे प्रिये ! मैं सतत तुम्हारी बात सुनता हूँ, तुम्हें देखता है, तुम्हारा स्पर्श करता हूँ, तुम्हारी वन्दना करता हूँ तथा तुम्हें आलिंगित करता हूँ । तुम मुझसे बातें क्यों नहीं कर रही हो ?

हे बाले, विलाप करने वाले व्यक्ति को देखकर किसे दया नहीं आती ? विशेषतः अपने पति को विलाप करता हुआ देखकर, निश्चय ही तुम अतिनिर्दयी हो ?

हे कृशोदरि ! तुमने पहले मुझसे कहा था कि तुम्हारे बिना मैं जीवित नहीं रहूँगी । उसे तुमने असत्य कर दिया ।

हे सुलोचने, आओ । कामसन्तप्त मुझे आलिंगित करो । हे प्रिये, मैं

सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ कि अन्य किसी भी प्रकार से मेरा ताप शान्त नहीं होगा ।

इस प्रकार विलाप करते हुए भगवान शिव स्वप्न के अन्त में तत्क्षण उठकर अरण्य में मुक्त कण्ठ से विलाप करने लगे ।

उपरोक्त उदाहरण में मृत्यु को प्राप्त हुई दक्षकन्या सती आलम्बन है । कामदेव देव द्वारा उन्माद नामक अस्त्र से शिव को आहत किया जाना उद्दीपन विभाव है । कामदेव द्वारा उन्माद शर से ताड़ित शिव का उन्मत्त होकर वनों में विचरण करना, सती का स्मरण करना, विलाप करना, ध्यान करना, गाना और कभी मुक्त कण्ठ से रुदन करना आदि अनुभाव है । विषाद, श्रम, उन्माद, आवेग, निर्वेद, आदि व्यभिचारी भाव है ।

इस प्रकार इन विभावादि से पुष्ट शोक स्थायी भाव यहाँ करुण रस में अभिव्यक्त हुआ है ।

1. इष्ट व्यक्ति के बन्धन से उत्पन्न शोक

आलोचित पुराण में वर्णित भगवान वामन द्वारा बलि को वरुण पाशों से आबद्ध किये जाने पर, पुत्र बाण[1] एवं पितामह प्रह्लाद का शोक ।

2. इष्ट वस्तु अथवा व्यक्ति के विनाश से (चले जाने से) उत्पन्न शोक

आलोचित पुराण में वर्णित बलि द्वारा पूजित भगवान विष्णु के सुदर्शन चक्र का असुरों को निस्तेज कर पाताल से चले जाने पर उत्पन्न विकल हुए राजा बलि का शोक ।[2]

---

1. वामनपुराण, 65/37-45, 2. वामनपुराण, 67/20-25.

बीभत्स रस

> बीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
> रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः ।
> वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
> नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशंकादयः ॥[1]

बीभत्स रस जुगुप्सा नामक स्थायी भाव से (उत्पन्न) होता है । इसके तीन भेद हैं - (1) उद्वेगी बीभत्स (2) क्षोभण बीभत्स तथा (3) घृणाशुद्ध बीभत्स ।

उद्वेगी बीभत्स - कीड़े, दुर्गन्ध तथा वमन आदि विभावों से उत्पन्न होता है ।

क्षोभण बीभत्स - रुधिर अँतड़ियाँ, हड्डी, मज्जा तथा माँस आदि विभावों से होता है। तथा

घृणाशुद्ध बीभत्स - जघन एवं स्तन आदि (स्त्री अवयव) के प्रति वैराग्य से उत्पन्न होता है । नाक सिकोड़ना, मुख फेरना आदि इसके अनुभाव हैं । आवेग, व्याधि, शंका आदि इसमें (व्यभिचारीभाव) हुआ करते हैं ।

अर्थात् अप्रिय घिनौने पदार्थ के दर्शन तथा अप्रिय गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द तथा दोषों से पूर्ण अनेक प्रकार की आतात्मक वस्तुओं के अनुभव करने पर बीभत्सरस उत्पन्न होता है ।[2]

---

1. पूर्वोद्धृत, दशरूपकम् , चतुर्थ प्रकाश/73 (श्लोक)
2. वामनपुराण, 10/41-42.

यथा -

ततस्तु रौद्रे सुरदैत्यनाशने
महाहवे भीरुभयंकरेऽथ ।
रक्षांसि यक्षाश्च सुसंप्रहृष्टाः
पिशाचयूथास्त्वभिरेमिरे च ।।

पिबन्त्यसृग्गाढतरं भटाना-
मालिंग्य मांसानि च भक्षयन्ति ।
वसां विलुम्पन्ति च विस्फुरन्ति
गर्जन्त्यथान्योन्यमथो वदांति ।।[1]

अर्थात् (देवासुर संग्राम में) भीरुजनों के लिए भयकारी देवों एवं दैत्यों के संहारक अत्यन्त भयंकर युद्ध होने पर राक्षस एवं यक्ष लोग अति आनन्दित हुए तथा पिशाचों का समूह भी प्रसन्न हुआ । वे वीरों के गाढ़े रुधिर का पान करते थे तथा आलिंगन कर मांस का भक्षण करते थे । वहीं चर्बी को नोंचते और उछलते थे एवं एक दूसरे के प्रति गर्जन करते थे ।

उपरोक्त उदाहरण में युद्ध का दृश्य आलम्बन विभाव है । यहाँ, राक्षसों एवं पिशाचों के क्रियाकलाप उद्दीपन विभाव है । उनका आनन्दित होना, रुधिर का पान करना, आलिंगन करना, मांस भक्षण करना, उछलना आदि अनुभाव है तथा आवेग, भय, व्याधि, आदि संचारी भाव हैं । इस प्रकार विभावादि को से पुष्ट घृणा अथवा जुगुप्सा स्थायी भाव से यहाँ वीभत्स रस की पुष्टि हुई है ।

---

1. नाट्यशास्त्र, प्राध्यापक श्री बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री, 6/74, पृ0 344.

वात्सल्य रस

पितृ भक्ति के समान ही पुत्र के प्रति माता-पिता की अनुरक्ति अथवा स्नेह की अवस्था वात्सल्य रसयुक्त होती है ।

विश्वनाथ कविराज ने इस रस का स्थायीभाव वत्सल माना है । इसमें पुत्रादि आलम्बन, उसकी चेष्टायें - विद्या, बुद्धि, शौर्यादि उद्दीपन विभाव होते हैं, आलिंगन, स्पर्श, पुलकादि अनुभाव तथा अनिष्ट-शंका, हर्ष, गर्व आदि इसके संचारी भाव बताये गये हैं ।[1]

यथा, आलोचित पुराण में देवमाता-अदिति के गर्भ से वामन रूप, में अवतरित भगवान विष्णु को पुत्र रूप में प्राप्त कर अदिति का पुत्र-विषयक-रति एवं दैत्यराज बलि द्वारा पराजित देवताओं (इन्द्र सहित अन्य देवगण) के दुःख से दुःखी हुई देवमाता अदिति का पुत्र-विषयक-करुण वात्सल्य । पुत्रों के प्रति अति वात्सल्य के कारण ही देवमाता अदिति ने सहस्त्र वर्षों तक कठोर तप करके[2] भगवान विष्णु को देवहितार्थ गर्भ में धारण किया । यथा, आलोचित पुराण में विवृत्त है कि -

"दैत्यैर्निराकृतान् दृष्ट्वा तनयानृषिसत्तमाः ।
वृथापुत्राऽहमिति सा निर्वेदात् पुण्यादरिम् ।
तुष्टाव वाग्भिरग्याभि परमार्थावबोधिनी ।।

---

1. साहित्यदर्पण, 3/251-254.
2. "सा चचार तपो घोरं वर्षाणामयुतं तदा ।।"
वामनपुराण, सरो०मा० 6/13.

शरण्यं शरणं विष्णुं प्रणता भक्तवत्सलम् ।
देवदैत्यमयं चादिमध्यमान्तस्वरूपिणम् ।।[1]

xxxxx xxxxx xxxxx xx

हृतं राज्यं न दुःखाय मम पुत्रस्य केशव ।
प्रपन्नदायविभ्रंशो बाधां मे कुरुते हृदि ।।[2]

"अर्थात् [अदिति भगवान केशव से कहती हैं कि पुत्र का राज्यापहरण मेरे दुःख का कारण नहीं है अपितु शरणागत के दाय [हिस्से] का छिन जाना मेरे हृदय को पीड़ित कर रहा है ।"

प्रस्तुत उदाहरण से स्पष्ट है कि निःस्वार्थ प्रेम और बलिहारी जाने की जो स्पष्ट अभिव्यक्ति 'वत्सल' स्थायी भाव में है वह अन्य किसी और नाम में नहीं है, अतः वत्सल को ही वात्सल्य रस का स्थायी मानना उपयुक्त है ।

आलोचित पुराण में वर्णित विभिन्न रसों के विवेचन से स्पष्ट है कि श्रृंगार, रौद्र, करुण, वात्सल्यादि रसों के विद्यमान रहते हुए भी आलोचित पुराण में वीर रस की प्रधानता को स्वीकार किया गया है । आलोचित पुराण के सामान्य स्वरूप इस वीर रस पर ही सम्पूर्ण वामन पुराण की सफलता निर्भर है ।

---

1. वामनपुराण, सरो०मा० 6/15-16.
2. वही, 7/9.

छन्द योजना

आलोचित पुराण के रसात्मक-सौन्दर्य विवेचन के पश्चात् रचना की छन्दोबद्धता पर भी प्रकाश डालना एक महत्वपूर्ण विषय है । जैसा कि स्पष्ट है-

'छन्दः पादौ तु वेदस्य'[1] छन्द वेद का चरण है ।

अर्थात् जिस प्रकार चरणविहीन व्यक्ति चल-फिर नहीं सकता ठीक उसी प्रकार छन्द के बिना कोई भी काव्य-ग्रन्थ, चाहे वह वेद हो, पुराण हो, रामायण हो अथवा अन्य कोई, गतिशील नहीं हो पाता । वेद का षडांगों में इसकी गणना स्पष्टता लक्षित है ।

छन्द शब्द का तात्पर्य

इस विषय में विद्वानों ने भिन्न भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं -

'छादयन्ति ह वा एनं पापात् कर्मणः'[2] अर्थात् पापकर्म से जो मन्त्रों को निवारित करते हैं, वे छन्द कहलाते हैं ।

'छन्दांसि छादनात्'[3] - अर्थात् भावों का आच्छादन करने के कारण 'छन्द' को छन्द कहा गया है ।

---

1. द्रष्टव्य, पाणिनीय शिक्षा,
2. निरुक्त शास्त्र
3. निरुक्त, दैवतकाण्ड, अध्याय 7, तृतीय पाद ।

'छन्दयति आह्लादयति इति छन्द' - अर्थात् जो पाठकों के हृदय को आह्लादित करें ।

भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार छन्द-विषयक-काव्यबन्ध दो प्रकार के होते हैं -

1. <u>नियताक्षर बन्ध</u>

'नियतानि निश्चितानि अक्षराणि यस्मिन् स बन्धः' अर्थात् ऐसी रचना जिसमें अक्षर नियमित एवं सुनिश्चित हो,

2. <u>अनियताक्षर बन्ध</u>

ठीक नियताक्षर के विपरीत ।

आलोचित पुराण में बलि-वामन प्रसंग को नियताक्षर बन्ध के रूप में इस प्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है -

बलिं हतवान् वामनः
वामनः बलिं हतवान्
हतवान् बलिं वामनः
हतवान् वामनः बलिम्

इस प्रकार स्पष्ट है कि पद्य रचना में इतनी स्वतंत्रता नहीं होती, जितनी कि गद्य-रचना में होती है ।

आलोचित पुराण में विवृत्त छन्दों के कतिपय उदाहरण इस प्रकार है -

यथाऽश्वमेधः प्रवरः क्रतूनां
पुत्रो यथा स्पर्शवतां वरिष्ठः ।
तपोधनानामपि कुम्भयोनिः
श्रुतिर्वरा यद्वदिहागमेषु ॥[1]

॥उपेन्द्रवज्रा छन्द॥

मूलेषु कन्दः प्रवरो यथोक्तो
व्याधिप्रवीणेष्वदाचरेन्द्र ।
श्वेतेषु दुग्धं प्रवरं यथैव
कार्पासिकं प्रावरणेषु यद्वत् ॥[2]

॥इन्द्रवज्रा छन्द॥

पतत्त्रिधारा गगनात् परिच्युता
बका बलाकाश्च तरन्ति तोयदान् ।

---

1. वामनपुराण 12/47.
2. वही, 12/52.

कदम्बसर्ज्जार्जुन केतकीद्रुमाः

पुष्पाणि मुञ्चन्ति सुमारुताहता ।।[1]

॥वंशस्थ छन्द॥

इस प्रकार के अन्य अनेक छन्दों से अलंकृत सम्पूर्ण वामन पुराण रचनाकार की एक अनुपम कृति है ।

आलोचित पुराण में चित्रित छन्दों का विवेचन

आलोचित पुराण में वर्णों की दृष्टि से अनुष्टुप् , ~~इन्द्रवज्रा~~, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ, उपजाति, अतिरुचिरा, वसन्ततिलका, मालिनी, शिखरिणी, स्त्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित आदि अनेक छन्दों को समाविष्ट किया गया है । वामनपुराण में उपरोक्त विभिन्न छन्दों के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं -

1. अनुष्टुप् छन्द

॥प्रत्येक चरण में आठ अक्षर॥

'पंचमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयो ।
षष्ठं गुरु विजानीयादेतत्पद्यस्य लक्षणम् '।।[2]

---

1. वामनपुराण, 1/18.
2. छन्दोमंजरी, 4/6.

अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में पंचम अक्षर लघु हो, सप्तम अक्षर केवल दूसरे और चौथे चरण में लघु हो, तथा षष्ठ अक्षर प्रत्येक चरण में गुरु हो उसे पद्य अथवा अनुष्टुप् कहा जाता है, यथा -

किमर्थं दैवताश्रेष्ठः शूलपाणिस्त्रिलोचनः ।
कपाली भगवाञ्जातः कर्मणा केन शंकरः ।।[1]

xxxxx xxxxx xxxxx xxx

राजसः पंचवदनो वेदवेदांगपारगः ।
स्त्रष्टा चराचरस्यास्य जगतोऽद्भुतदर्शनः ।।[2]

आदि ।

2. इन्द्रवज्रा छन्द

(प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर)

'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'।।[3]

अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण, तथा दो गुरु वर्ण क्रमशः हो, उसे इन्द्रवज्रा कहते हैं -

---

1. वामनपुराण, 2/18.
2. वही, 2/23.
3. छन्दोमंजरी, 2/1,
   वृत्तरत्नाकर, 3/28.

यथा -

संध्यासु वर्ज्यं सुरतं दिवा च,
सर्वासु योनीषु पराङ्गनासु ।
आगारशून्येषु महीतलेषु,
रजस्वलास्वेव जलेषु वीर ।।[1]

xxxxx xxxxx xxx

देशानुशिष्टं कुल धर्ममग्र्यं
स्वगोत्रधर्मं न हि संत्यजेत ।
तेनार्थसिद्धिं समुपाचरेत्
नासत्प्रलापं न च सत्यहीनम् ।।[2]

3. उपेन्द्रवज्रा छन्द

(प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर)

'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ'।।[3]

अर्थात् जिस छन्द में क्रमशः जगण, तगण, जगण और उसके बाद अन्त में दो गुरु वर्ण हो उसे उपेन्द्रवज्रा कहते हैं ।

---

1. वामनपुराण 14/40.
2. वही, 14/38.
3. वृत्तरत्नाकर, 3/29.

यथा -

1. यथा सतीनां हिमवत्सुता हि
यथा मुनीनां कपिला वरिष्ठा ।
यथा वृक्षाणामपि नीलकर्णी
यथैव सर्वेष्वपि दुःसहेषु ।।[1]

xxxxx xxxxx xxxx

2. न मेऽस्ति माता न पिता तथैव
न ज्ञातयो वाऽपि च बान्धवाश्च ।
निराश्रयोऽहं गिरिकुंजवासी
सुतां प्रतीच्छामि तवाद्रिराज ।।[2]

<u>उपजाति</u>

(प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर)

'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' ।।[3]

अर्थात् जिस छन्द के दो चरण इन्द्रवज्रा एवं अन्य दो चरण उपेन्द्रवज्रा के लक्षण से युक्त हों, उन्हें उपजाति छन्द कहते हैं ।

---

1. वृत्तरत्नाकर, 3/30, छन्दोमंजरी, 2/3.
2. वामनपुराण, 12/48.
3. वृत्तरत्नाकर, 3/46.

यथा -

मुनयः पुराणेषु यथैव मात्स्यः
स्वायंभुवो कितस्त्वपि संहितासु । इन्द्रवज्रा

मनुः स्मृतीनां प्रवरो यथैव
तिथीषु दर्शो विषुवेषु दानम् ।।[1] उपेन्द्रवज्रा

<u>वंशस्थ छन्द</u>

।प्रत्येक चरण में 12 अक्षर।

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ[2]

अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, तगण, जगण तथा रगण आयें उसे वंशस्थ कहते हैं ।

यथा -

1. पतन्ति धारा गगनात् परिच्युता
   बका बलाकाश्च तरन्ति तोयदान् ।
   कदम्बसर्जार्जुनकेतकीद्रुमाः
   पुष्पाणि मुंचन्ति सुमारुताहताः ।।[3]

---

1. वामनपुराण, 12/48.
2. वृत्तरत्नाकर, 3/46.
3. वामनपुराण, 1/18.

2. तस्मुकारस्मुकयोर्यदन्तरं
यदन्तरं रामहूदाच्चतुर्मुखम् ।
एतत्कुरुक्षेत्र समन्तपंचकं
पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ।।[1]

<u>अतिरुचिरा छन्द</u>

(प्रत्येक चरण में 13 अक्षर)

'चतुर्ग्रहैरतिरुचिरा जभस्जगाः'[2]

अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, भगण, सगण, जगण तथा एक गुरु वर्ण हों, साथ साथ चार तथा ग्रहसंख्या (=9) पर यति हो उसे अतिरुचिरा छन्द कहते हैं ।

उदाहरणार्थ – वामनपुराण में वर्णित चण्डिका की देह से मातृकाओं की उत्पत्ति प्रसंग के अन्तर्गत देवों द्वारा देवी की स्तुति के निम्न पद –

नमोऽस्तु ते भगवति पापनाशिनि
नमोऽस्तु ते सुररिपुदर्पशातनि ।
नमोऽस्तु ते हरिहरराज्यदायिनी
नमोऽस्तु ते मखभुककार्यकारिणि ।।[3]

xxxxx xxxxx xxxxx

---

1. वामनपुराण,सरो०मा० 1/14. 3. वामनपुराण 30/56.
2. वृत्तरत्नाकर, 3/71.

नमोऽस्तु ते त्रिदशारिपुङ्गवारि
नमोऽस्तु ते शक्रमहाप्रपूजिते ।
नमोऽस्तु ते महिषविनाशकारिणि
नमोऽस्तु ते हरिहरभास्करस्तुते ।।[1]

वसन्ततिलका छन्द

।प्रत्येक चरण में 14 अक्षर।

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ।।[2]

अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण, भगण, जगण, जगण तथा अन्त में दो गुरु वर्ण आये उसे वसन्ततिलका छन्द कहते हैं ।

यथा-

ये संश्रिता हरिमनन्तमनादिमध्यं
नारायणं सुरगुरुं शुभदं वरेण्यम् ।
शुद्धं खगेन्द्रगमनं कमलालयेशं
ते धर्मराजकरणं न विशन्ति धीराः ।।[3]

एवं आलोच्यपुराण के 67 अध्याय के 70-72 आदि श्लोक ।

---

1. वामनपुराण, 30/57.
2. वृत्तरत्नाकर, 3/79.
3. वामनपुराण, 67/29.

मालिनी छन्द

(प्रत्येक चरण में 15 अक्षर)

"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः"[1]

अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, नगण, मगण तथा यगण आयें तथा साथ ही साथ योगि अर्थात् नाग (=8) तथा लोक (=7) संख्या वाले अक्षरों पर यति हो उसे मालिनी छन्द कहते हैं -

यथा -

भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां
सुतदुहितकलत्रत्राणभारार्दितानाम् ।
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां
भवति शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम् ।।[2]

शिखरिणी छन्द

(प्रत्येक चरण में 17 अक्षर)

"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी"।।[3]

जिस पद के प्रत्येक चरण में क्रम से यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु और गुरु हों, उसे 'शिखरिणी छन्द' कहते हैं । इसमें छः और ग्यारह वर्णों पर

---

1. वृत्तरत्नाकर, 3/87, द्रष्टव्य, छन्दोमंजरी
2. वामनपुराण, 67/28.   3.

यति होती है ।

यथा –

वरं प्राणात्त्याज्या न च पिशुनवादेष्वभिरतिः
वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतम् ।
वरं क्लीबैर्भाव्यं न च परकलत्राभिगमनं
वरं भिक्षार्थित्वं न च परधनास्वादनसुखम् ।।[1]

<u>शार्दूलविक्रीडित छन्द</u>

(प्रत्येक चरण में 19 अक्षर)

"सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्" ।।[2]

अर्थात् जिस पद्य के प्रति चरण में क्रम से मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और एक गुरु हों, उसे 'शार्दूलविक्रीडित' कहते हैं । इसमें 12 और 7 वर्णों पर यति होती है ।

उदाहरणार्थ –

तं दृष्ट्वा शतशीर्षमुद्यतगदं शैलेन्द्रशृङ्गाकृतिं
विष्णुः शार्ङ्गमपास्य तस्य रभसो जग्राह चक्रं करे ।
सोऽप्येनं प्रसमीक्ष्य दैत्यविटपप्रच्छेदनं मानिनं
ग्रीवाचाय विहस्य तं च रुधिरं मेघस्वनो दानवः ।।[3]

---

1. वामनपुराण, 35/29.
2.
3. वामनपुराण 47/42.

<u>स्रग्धरा छन्द</u>

(प्रत्येक चरण में 21 अक्षर)

"म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्"।।[1]

अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण तथा तीन यगणों से युक्त और तीन बार 7 संख्यक अक्षर पर यति हो स्रग्धरा छन्द कहा जाता है ।

उदाहरणार्थ –

1. आयाते वासुदेवे वद मम भगवन् धर्मकामार्थतत्त्वं
   किं कार्यं किं च देयं मणिकनकमयो भूषणाश्वादिकं वा ।
   किं वा वाच्यं मुरारेर्निजहितमथवा तद्धितं वा प्रभुर्वे,
   तत्सर्वं त्वं प्रियं भो मम वदशुभदं तत्करिष्येन चान्यत् ।।[2]

2. ये दिव्या ये च भौमा जलगगनचराः स्थावरा जंगमाश्च
   सेन्द्राः सार्काः सचन्द्रा यमवरुणयुता ह्यग्नयः सर्वपालाः ।
   ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता द्विजस्वगतहिता मूर्तिमन्तो ह्यमूर्ताः
   ते सर्वे मत्प्रसूता बहु विधिगुणाः पूरणार्थं पृथिव्याः ।।[3]

---

1. वृत्तरत्नाकर, 3/10, द्रष्टव्य छन्दोमंजरी
2. वामनपुराण, 69/4.
3. वही, 63/58.

अलंकार-योजना

विश्व-वाङ्‌मय को रमणीयता प्रदान करने वाले उपमादि अलंकारों का अधिकाधिक प्रयोग, जहाँ एक और ऋग्वेद के मंत्रों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों को अलंकृत किये हुए हैं वहीं दूसरी ओर सम्पूर्ण काव्यों एवं महाकाव्यों को अपने सौन्दर्यमय प्रभाव से वशीभूत कर चमत्कृत हुए हैं।

अलंकारवादियों ने अलंकार को शोभाकारक धर्म स्वीकार करते हुए बताया है कि -

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।।"[1]

अर्थात् जिस प्रकार स्त्री का मुख सुन्दर होते हुए भी आभूषणों के बिना सुशोभित नहीं होता, ठीक उसी प्रकार शोभा-सम्पन्न होते हुए भी अलंकार-विहीन काव्य व्यर्थ है।

आचार्य वामन ने अलंकार शब्द के दो अर्थों - सौन्दर्य एवं अलंकार रूप में प्रयुक्त करते हुए बताया है कि - 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'[2] अर्थात् काव्यों का ग्रहण अलंकारों के द्वारा ही होता है तथा 'सौन्दर्यमलंकारः'[3] अर्थात् सौन्दर्य ही अलंकार है।

---

1. भारतीय काव्यशास्त्र, डा० कृष्णदेव शर्मा, पृ० 15.
2. आचार्य वामनकृत, काव्यालंकारसूत्र, 1/1/1.
3. वही, 1/1/2.

इन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या वामनाचार्य ने इस प्रकार की है -

अलङ्क्रियतेऽनेन, अलंकृतिरलंकार ।
करणव्युत्पत्त्या पुनरलंकारशब्दो यम् उपमादिषु वर्तते ।।

अर्थात् करण-व्युत्पत्ति से अलंकार शब्द उपमादि के लिए भी प्रयुक्त होता है अतः अलंकार शब्द को अलंकार्य-वस्तु अथवा अलंकारक उपमादि दोनों अर्थों में ग्रहण किया गया है ।

अलंकारों की विविध व्याख्या के आधार पर आलोचित पुराण उपमादि विभिन्न अलंकारों से अलंकृत होकर एवं विद्वत्जनों द्वारा सरलता एवं सुगमता से ग्राह्य होकर अपनी आलौकिक छटा से जन-सामान्य को सदैव से आकर्षित करता रहा है । उपमादि अलंकार वामनपुराण में यत्र-तत्र-सर्वत्र इस प्रकार बिखरे हुए हैं, मानों विशाल समुद्र में उठने वाली एक के बाद एक आवर्तों की अनुपम छटा। कभी-कभी तो विविध अलंकारों के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है मानों आलोचित पुराण की सम्पूर्ण शोभा और सफलता वर्णित अलंकारों पर ही आधारित है और कभी एक ही अलंकार, चाहे वह उपमा हो, रूपक हो, उत्प्रेक्षा हो अथवा अतिशयोक्ति, सभी का वर्णन आलोचित पुराण में एक ही क्रम में इस प्रकार हुआ है, मानों सागर जल में दूर तक बढ़ती हुई ही तरंग । यथा, आलोचित पुराण में उर्वशी-निर्माण प्रसंग के अंतर्गत उर्वशी का रूप-सौन्दर्य -

सदैव वदनं चारु स्वक्षिभ्रूकुटिलालकम् ।
सुनासावंशाधरोष्ठमालोकनपरायणम् ।।
तावेवाहार्यविरलौ पीवरौ मग्नचूचुकौ ।
राजेतेऽस्याः कुचौ पीनौ सज्जनाविव संहतौ ।।

तदेव तनु चार्वङ्ग्या वलित्रयविभूषितम् ।
उदरं राजते श्लक्ष्णं रोमावलिविभूषितम् ।।
रोमावली च जघनाद् यान्ती स्तनतटं त्वियम् ।
राजते भृंगमालेव पुलिनात् कमलाकरम् ।।
जघनं त्वतिविस्तीर्णं भात्यस्या रशनावृतम् ।
क्षीरोदमथने नद्धं भुजंगेनेव मन्दरम् ।।
कदलीस्तम्भसदृशैरूर्ध्वमूलैरथोरुभिः ।
विभाति सा सुचार्वङ्गी पद्मकिंजल्कसन्निभा ।।
जानुनी गूढगुल्फे च शुभे जंघे त्वरोमशे ।
विभातोऽस्यास्तथा पादावलक्तकसमत्विषौ ।।[1]

"अर्थात् [भगवान नारायण के उरु से उत्पन्न सर्वांग सुन्दरी उर्वशी को देखकर कन्दर्प सोचने लगा कि यह रति तो नहीं है क्योंकि] रति के समान ही सुन्दर भौंह एवं कुटिल अलकों से युक्त, सुन्दर नासिका का वंश एवं अधरोष्ठ वाला तथा देखने में अत्यन्त आकर्षक यह [उर्वशी का] मुख है । इसके वे ही मनोहर तथा अत्यन्त मग्नचूचुक वाले पीन कुच सज्जन पुरुषों के सदृश परस्पर संहत हैं ।

इस सुन्दरांगी का वही कृश, त्रिवली विभूषित, कोमल तथा रोमावली युक्त उदर शोभित हो रही है । जंघा से स्तनतट की ओर जाती हुई इसकी यह रोमावलि पुलिन से कमलाकर की ओर जाती हुई भ्रमरमाला के सदृश सुशोभित हो रही है । करधनी से आवृत्त अतिविस्तीर्ण इसका नितम्ब प्रदेश इस प्रकार

---

1. वामनपुराण, 7/6-12.

सुशोभित हो रहा है मानों क्षीरसागर के मन्थन काल में भुजंगवेष्टित मन्दर पर्वत हो ।

कमल के केसर के समान गौरवर्ण वाली यह सुन्दरी कदली स्तम्भ सदृश ऊर्ध्वमूल उरुओं के द्वारा शोभित हो रही है तथा इसके दोनों घुटने, गूढगुल्फ, रोमहीन सुन्दर जंघायें तथा आलक्तक के समान कान्ति वाले दोनों पाद अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं ।"

उपमालंकार से अलंकृत उपरोक्त उदाहरण श्रोताओं एवं पाठकों के चित्त को इस प्रकार बरबस आकृष्ट कर लेता है । स्पष्ट है कि आलोचित पुराण में वर्णित उपमादि अलंकार अपने साहित्यिक सौन्दर्य तथा गम्भीर दार्शनिक चिंतन के निमित्त संस्कृत-साहित्य में अनुपम है ।

आलोचित पुराण में वर्णित विविध अलंकार

आलोचित पुराण में विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से कुछ विशिष्ट अलंकारों का सौन्दर्ययुक्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है जो क्रमशः इस प्रकार है-

शब्दालंकार

1. अनुप्रास

'वर्णसाम्यमनुप्रासः' ।।[1]

'अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्' ।[2]

अर्थात् स्वर की विषमता होने पर भी शब्द अथवा पद अथवा पदांश के साम्य को अनुप्रास कहते हैं ।

यथा -

सरित्सु तीर्थेषु तथाश्रमेषु
पुण्येषु देवायतनेषु शर्वः ।
समायुतौ योगयुतोऽपि वापा-
न्नावाप मोक्षं जलदध्वजोऽसौ ।।[1]

अन्विति

उपर्युक्त श्लोक के प्रथम एवं द्वितीय चरण में 'षु' व्यंजन की एवं तृतीय चरण में युतौ शब्द की बहुशः आवृत्ति के कारण इसमें अनुप्रास अलंकार है । आचार्यों द्वारा अनुप्रास के 5 भेद बताये गये हैं -

1. छेकानुप्रास, 2. वृत्यानुप्रास, 3. श्रुत्यानुप्रास, 4. अन्त्यानुप्रास एवं 5. लाटानुप्रास ।

2. यमक

1. 'अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुति । यमकम् ।।[2]

2. सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ।।[3]

---

1. वामनपुराण, 3/11.
2. काव्यप्रकाश,
3. साहित्यदर्पण,

अर्थात् भिन्न-भिन्न अर्थों वाले सार्थक स्वर-व्यंजन-समुदाय की उसी क्रम में आवृत्ति होने पर यमक अलंकार होता है ।

उदाहरण -

ततस्तु दैत्यो महिषासुरेण
सम्प्रेषितो दानवयूथपालः ।
मयस्य पुत्रो रिपुसैन्यमर्दी
स दुन्दुभिर्दुन्दुभिनिःस्वनस्तु ।।[1]

अर्थात् तदुपरान्त महिषासुर ने दुन्दुभि (नगाड़ा) तुल्य शब्द करने वाले रिपुसैन्यमर्दी तथा दानवों के सेनापति मयपुत्रदुन्दुभि को (देवी के पास) भेजा ।

अन्विति

प्रस्तुत श्लोक के चतुर्थ चरण में यमक अलंकार है और यह उदाहरण पदावृत्ति यमक का है । क्योंकि इस श्लोक के चतुर्थ चरण में दुन्दुभि पद की आवृत्ति हुई है । प्रथम 'दुन्दुभि' पद का अर्थ है - मयपुत्र दुन्दुभि, और दूसरे दुन्दुभि पद का अर्थ है - नगाड़ा ।

3. वक्रोक्ति अलंकार

यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ।।[2]

---

1. वामनपुराण, 20/21.
2. मम्मटाचार्यकृत, काव्यप्रकाश, डा० श्रीनिवास शास्त्री, दशमोल्लास, 103/78.

जहाँ (वक्ता के द्वारा) किसी अभिप्राय से कहा गया वाक्य श्रोता द्वारा श्लेष या काकुरूप ध्वनि (विकार के हेतु से अन्य अर्थ में कल्पित कर लिया जाता है तो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है ।

आलोचित पुराण में 'रक्तबीजवधोपाख्यान' के अन्तर्गत देवीमृडानी (दुर्गा) द्वारा दैत्यशत्रु (रक्तबीज) को कहा गया निम्न श्लोक वक्रोक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण स्वीकारा गया है -

तं स्तम्भितं वीक्ष्य सुरारिमग्रे
प्रोवाच देवी वचनं विहस्य ।
अनेन वीर्येण सुरास्त्वया जिता
अनेन मां प्रार्थयसे बलेन ।।[1]

अर्थात् उस स्तम्भित दैत्यशत्रु (रक्तबीज) को सामने देखकर देवी ने हँसते हुए यह वचन कहा कि - क्या इसी पराक्रम से तुमने देवताओं को जीता है ? तथा क्या इसी बल से मुझ को (पत्नीरूप में) पाने के लिए प्रार्थना करते हो ?

अन्विति

उपरोक्त उदाहरण काकु नामक ध्वनि विकार से होने वाली वक्रोक्ति का उदाहरण माना गया है ।

---

1. वामनपुराण, 30/35.

अर्थालंकार

1. उपमा

1. "साधर्म्यमुपमा भेदे" ।।[1]

2. "साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमाद्वयोः" ।।[2]

एक ही वाक्य में, दो पदार्थों के वैधर्म्य-रहित तथा वाच्य सादृश्य को उपमा कहते हैं । अर्थात् जहाँ दो विभिन्न वस्तुओं में रूप-गुण, आकृति आदि को लेकर समता प्रदर्शित की जाये, वहाँ उपमा अलंकार होता है ।

उदाहरण -

ततस्त्रिभुवने ब्रह्मन् निशाचरपुरोऽभवत् ।
दिवा चन्द्रस्य सदृशः क्षणदायां सूर्यवत् ।।
न ज्ञायते गतिव्योम्नि भास्करस्य ततोऽम्बरे ।
शशांकमिति तेजस्त्वादमन्यन्त पुरोत्तमम् ।।[3]

अर्थात् हे ब्रह्मन् ! तदनन्तर त्रिभुवन में निशाचरों की नगरी दिन में चन्द्र के समान और रात में सूर्य के समान हो गई एवं आकाश में सूर्य की गति दिखलाई न पड़ने से वह श्रेष्ठ नगर तेज के कारण आकाश में चन्द्रमा के सदृश प्रतीत होता था ।

---

1. काव्यप्रकाश,
2. साहित्यदर्पण,
3. वामनपुराण, 16/8-9.

अन्विति

उपरोक्त श्लोक में निशाचरों की नगरी को सूर्य और चन्द्रमा के सदृश बतलाकर उपमालंकार को व्यक्त किया गया है ।

उपमा के चार प्रमुख अंग हैं -

1. उपमेय - जिस वस्तु का साम्य प्रस्तुत किया जाय ।
2. उपमान - जिस वस्तु से साम्य की जाये ।
3. साधारण धर्म - उपमेय एवं उपमान दोनों में संगत ।रूप, गुण आदि। धर्म ।
   जैसे - 'कमलमिव मनोज्ञं मुखम्' ।
4. वाचक - वाचक शब्द उसे कहते हैं जो उपमेय और उपमान की समानता को सूचित कराता है । अर्थात् जो औपम्य को प्रकट करता है । जैसे -
   'कमलमिव मनोज्ञं मुखम्' में 'इव' शब्द ।

जहाँ उपमा में उपमेय-उपमान-साधारणधर्म तथा वाचक-शब्द एक साथ प्रयुक्त होते हैं वहाँ पूर्णोपमा अलंकार होता है ।

उदाहरण -

तात निस्तेजसो दैत्या निर्दग्धा इव वह्निना ।
किमेते सहसैवाद्य ब्रह्मदण्डहता इव ।।[1]

---

1. वामनपुराण 23/8/2.

अर्थात् हे तात ! अग्नि दग्ध के सदृश दैत्यगण निस्तेज हो गये हैं । ये आज सहसा ब्रह्मदण्ड से हत के सदृश क्यों हो गये हैं ।

अन्विति

प्रस्तुत श्लोक पूर्णोपमा अलंकार का उदाहरण माना जा सकता है क्योंकि इसमें उपमा के चारों अंगों का वर्णन निहित है । उपरोक्त श्लोक में दैत्यगण-उपमेय, निर्दग्धा, वह्निना, उपमान, निस्तेजसो-साधारण धर्म एवं 'इव' वाचक पद है ।

2. रूपक

"रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे" ।[1]
"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः" ।।[2]

निरपह्नव अर्थात् निषेध रहित विषय (उपमेय) में रूपित आरोप को ही रूपक अलंकार कहते हैं । अथवा जहाँ उपमेय में उपमान का आरोप किया जाये वहाँ रूपक अलंकार होता है ।

उदाहरण -

ततस्तु संकुले तस्मिन् युद्धे दैवासुरे मुने ।
प्रावर्तत नदी घोरा शमयन्ती रणाद्रजः ।।

---

1. साहित्यदर्पण,

2. काव्यप्रकाश,

शोणितोदा रथावर्ता योधसंघप्रवाहिनी ।
गजकुम्भमहाकूर्मा शरमीना दुरत्यया ।।[1]

अर्थात् हे मुने ! तदनन्तर देवों और असुरों के उस घोर संग्राम में युद्ध से उत्पन्न धूलि का शमन करती हुई शोणित रूपी जल एवं रथ रूपी आवर्त्त से युक्त तथा योद्धाओं के समूह को बहाने वाली एवं गजकुम्भ रूपी महान कूर्म तथा शर रूपी मीन से युक्त अगम्य नदी प्रवर्तित हुई ।

अन्विति

प्रस्तुत श्लोक में देवों एवं असुरों के घोर संग्राम को अगम्य नदी रूप में वर्णित करके शोणित में जल का रथ में आवर्त्त (भवरों) का, गजकुम्भ में महान कूर्म का तथा शर में मीन का आरोप किया गया है । इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में जल, आवर्त, कूर्म, एवं मीन ये सभी अंग आरोप्य शब्दों से बोधित हैं ।

3. उत्प्रेक्षा

"भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना" ।।[2]

"सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्" ।।[3]

किसी प्रकृत अर्थात् प्रस्तुत वस्तु (उपमेय) की अप्रस्तुत वस्तु (उपमान) के रूप में सम्भावना करने को ही उत्प्रेक्षा कहा गया है ।

---

1. वामनपुराण, 9/35-36.
2. साहित्यदर्पण,
3. काव्यप्रकाश,

उदाहरण -

स्तनौ सुवृत्तावथ मग्नचूचुकौ
स्थितौ विजित्यैव गजस्यकुम्भौ ।
त्वां सर्वजेतारमिति प्रतर्क्य
कुधौ स्मरेणैव कृतौ सुदुर्गौ ॥

पीनाः सशस्त्राः परिघोपमाश्च
भुजास्तथाऽष्टादश भान्ति तस्याः ।
पराक्रमं वै भवतो विदित्वा
कामेन यन्त्रा इव ते कृतास्तु ॥

मध्यं च तस्यास्त्रिवलीतरंगं
विभाति दैत्येन्द्र सुरोमराजि ।
भयातुरारोहणकातरस्य
कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥

सा रोमराजी सुतरां हि तस्या
विराजते पीतकुचावलग्ना ।
आरोहणे त्वद्भयकातरस्य
स्वेदप्रवाहो सुर मन्मथस्य ॥[1]

अर्थात् उस (देवी कात्यायनी) के मग्नचूचुक वाले सुवृत्ताकार स्तन इस प्रकार स्थित है मानों उन्होंने हाथी के दोनों कुम्भ स्थलों को जीत लिया हो। ऐसा प्रतीत होता है मानों आपको (महिषासुर) सर्वविजयी समझकर कामदेव ने

---

1. वामनपुराण, 20/5-8.

ही कुवल्यी दो सुन्दर दुर्गों की रचना की है ।

एवं उनकी मोटी परिधि सदृश सहस्त्र अट्ठारह भुजाएँ इस प्रकार सुशोभित हो रही हैं मानों आपका पराक्रम जानकर कामदेव ने यन्त्र के सदृश उनका निर्माण किया है ।

हे दैत्येन्द्र । त्रिवली से तरंगित तथा सुन्दर रोमावली वाला उनका (देवी का) मध्य भाग इस प्रकार सुशोभित है मानों वह भयार्त तथा आरोहण के लिए अधीर कामदेव का सोपान हो ।

हे असुर । पीनकुचावलग्न उनकी वह रोमराजि इस प्रकार सुशोभित हो रही है मानों आरोहण करने में आपके (महिषासुर के) भय से कातर कामदेव का स्वेद-प्रवाह हो ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोचित पुराण में वर्णित उपरोक्त सभी श्लोक उत्प्रेक्षा से अलंकृत हैं और देवी कात्यायनी के अन्य अंगों का वर्णन भी आलोचित पुराण में क्रमशः इसी प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकार से ही सुशोभित है ।

अन्विति

प्रस्तुत उदाहरण में वस्तूत्प्रेक्षा की झलक स्पष्ट लक्षित है क्योंकि यहाँ देवी के अंगों के सौन्दर्य को, वस्तु (कामदेव की प्रतिक्रिया) रूप में उत्प्रेक्षित कर लिया गया है ।

4. अतिशयोक्ति

1. "सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते" ।।[1]

---

1. साहित्यदर्पण,

2. "विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयस्तस्योक्तिरतिशयोक्तिः "[1]

अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है। अर्थात् जहाँ प्रस्तुत वस्तु का बढ़ा-चढ़ाकर लोक-मर्यादा के विरुद्ध वर्णन किया जाये, वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है -

उदाहरण -

> यत्र क्रीडा विचित्रा सुकुसुमतरवो वारिणो बिन्दुपातै-
> र्गन्धाढ्यैर्गन्धचूर्णैः प्रविरलमथनौ गुण्डितौ गुण्डिकायाम् ।
> मुक्तादामैः प्रकामं हरिगिरितनया क्रीडनार्थं तदाऽन्यत्
> पश्चात्सिन्दूरपुञ्जैरविरतविततैश्चक्रतुः क्ष्मां सुरक्ताम् ।।[2]

अर्थात् सुन्दर पुष्पों वाले वृक्षों से अलंकृत भूमि के घेरे में क्रीड़ा करते हुए शंकर और पार्वती ने एक दूसरे पर सुगन्धित जलबिन्दुओं और गन्धचूर्णों की अविरल वर्षा की। तदनन्तर उन दोनों ने क्रीडनार्थ एक दूसरे को मुक्ता-दाम से मारने के उपरान्त सिन्दूरपुंज की अविरत वर्षा से पृथ्वी को लाल कर दिया।

<u>अन्विति</u>

प्रस्तुत उदाहरण में भगवान शिव एवं पार्वती के परस्पर क्रीड़ा का अध्यवसान उपमानभूत अविरल वर्षा में प्रस्तुत किया गया है। अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है।

---

1. रसगंगाधर,
2. वामनपुराण, 27/37.

5. <u>सन्देह</u>

"सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः" ।।[1]

प्रकृति ।उपमेय। में अन्य ।उपमान। के चमत्कारोत्पादक संशय को सन्देह अलंकार कहते हैं । अर्थात् जहाँ किसी वस्तु के सम्बन्ध में अनेक वस्तुओं का सन्देह हो और सादृश्य के कारण अनिश्चय बना रहे वहाँ संदेह अलंकार होता है ।

उदाहरण -

> व्रजत्सु योषित्सु चतुष्पथेषु
> पदान्यलक्तारुणितानि दृष्ट्वा ।
> ययौ शशी विस्मयमेव यस्यां
> किंस्वित् प्रयाता स्थलपद्मिनीयम् ।।[2]

अर्थात् चतुष्पथों पर भ्रमण करने वाली स्त्रियों के अलक्त से अरुणित पदों को देखकर चन्द्रमा को यह विस्मय ।संदेह। हो गया कि क्या स्थल-कमलिनी इस मार्ग से गई है ।

<u>अन्विति</u>

सन्देह के तीन प्रमुख भेद हैं - शुद्धसन्देह, निश्चय सन्देह तथा निश्चयान्त सन्देह । संशय में ही वर्णन की समाप्ति हो जाने पर शुद्ध सन्देह होता है अतः प्रस्तुत उदाहरण को शुद्ध सन्देह कहना ही उचित है क्योंकि चन्द्रमा के स्त्रियों के आलक्त से अरुणित पदों में स्थल-कमलिनी का सन्देह श्लोक के अन्तिम चरण में भी बना हुआ है ।

---

1. साहित्यदर्पण, 2. वामनपुराण 3/32.

6. भ्रान्तिमान

"साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः" ।।[1]

"भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने" ।।[2]

साम्य अथवा सादृश्य के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान को भ्रान्तिमान कहते हैं, बशर्ते वह ज्ञान कवि की प्रतिभा से समुद्भूत हो । अर्थात् जहाँ एक पदार्थ या स्थिति को भ्रमवश दूसरा पदार्थ या स्थिति मान लिया जाये वहाँ भ्रान्तिमान अलंकार होता है ।

भ्रान्तिमान अलंकार के संदर्भ में दो तथ्य विशेष उल्लेखनीय हैं -

1. चमत्कारशून्य भ्रान्ति को अलंकार नहीं कहते । जैसे - सीप में चाँदी का भ्रम ।

2. यदि भ्रान्ति सादृश्यमूलक नहीं है तो उसे अलंकार नहीं कहा जा सकता ।

उदाहरण -

कमलाकरेषु कमला मित्रमित्यवगम्य हि ।
रात्रौ विकसिता ब्रह्मन् विभूतिं दातुमीप्सवः ।।
कौशिका रात्रिसमयं बुद्ध्वा निरगमन् किल ।
तान् वायसास्तदा भ्रान्त्या दिवा निघ्नन्ति कौशिकान् ।।

---

1. साहित्यदर्पण,

2. काव्यप्रकाश,

स्नातकास्त्वापगास्वेव स्नानजप्यपरायणाः ।
आकण्ठमग्नास्तिष्ठन्ति रात्रौ ज्ञात्वाऽथवासरम् ।।[1]

अर्थात् (आकाश में चन्द्रमा से प्रतीत होते हुए सुकेशी के श्रेष्ठ नगर में दिन को) रात्रि समझकर सरोवर के कमलों ने विकसित होना छोड़ दिया तथा रात्रि में (सुकेशी के पुर को) सूर्य समझकर विभूति प्रदान करने की इच्छा से विकसित होने लगे ।

उल्लू (दिन को) रात्रि का समय जानकर बाहर निकल आये और कौए दिन जानकर उल्लुओं को मारने लगे ।

एवं स्नातक लोग रात्रि को दिन समझकर आकण्ठ मग्न होकर स्नान एवं जप करते हुए जल में खड़े रहे ।

<u>अन्विति</u>

उपर्युक्त उदाहरण में सुकेशि की नगरी निश्चय ही दिन में चन्द्रमा एवं रात्रि में सूर्य की किरणों से प्रदीप्त नहीं है अपितु सुकेशि की नगरी में दिन के चन्द्रमादि का निश्चयात्मक ज्ञान कर लिया गया है । अतः यह ज्ञान सादृश्य-मूलक होने के साथ ही साथ चमत्कारक भी है ।

---

1. वामनपुराण, 16/10-12.

7. उदात्त अलंकार

'उदात्तं वस्तुनः सम्पत्'[1] ।

अर्थात् अतिशय ऐश्वर्य एवं वैभव के चमत्कारपूर्ण वर्णन को उदात्त अलंकार कहा जाता है । यह अलंकार दैत्यराज बलि के निम्नलिखित प्रभुत्व वर्णन में देखा जा सकता है ।

यथा -

'जये तथा बलवतोर्मयशम्बरयोस्तथा ।
शुद्धासु दिक्षु सर्वासु प्रवृत्ते धर्मकर्मणि ।।
संप्रवृत्ते दैत्यपथे अयनस्थे दिवाकरे ।
प्रह्लादशम्बरमयैरनुह्लादेन चैव हि ।।
दिक्षु सर्वासु गुप्तासु गगने दैत्यपालिते ।
देवेषु मखशोभां च स्वर्गस्थां दर्शयत्सु च।।
प्रकृतिस्थे ततो लोके वर्तमाने च सत्पथे ।
अभावे सर्वपापानां धर्मभावे सदोत्थिते।।[2]

अर्थात् (देवासुर संग्राम में देवताओं को पराजित कर दैत्यराज बलि द्वारा त्रैलोक्य को अपने अधीन कर लिये जाने पर) बलशाली मय और शम्बर की विजय हो गई । सर्वत्र धर्म कार्य फैल गया और दिशाएँ शुद्ध हो गईं । सूर्य भी दैत्यपथ वाले (दक्षिण) अयन में स्थित हो गये । प्रह्लाद, शम्बर, मय

---

1. मम्मटाचार्यविरचित, काव्यप्रकाशः, डा0 श्रीनिवास शास्त्री, दशम उल्लास, श्लोक संख्या 176.

2. वामनपुराण, सरो0मा0, 2/7-10.

तथा अनुव्रताद दैत्य सब दिशाओं की रक्षा करने लगे । आकाश भी दैत्य-पालित हो गया, देवगण स्वर्गस्थ यज्ञ की शोभा देखने लगे । ।इस प्रकार। सारा संसार प्रकृतिस्थ हो गया तथा सन्मार्ग पर आरूढ़ हो गया । सभी पापों के नष्ट होने पर धर्म-भाव स्थिर हो गया ।

8. निदर्शना अलंकार

'अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः '[1]

अर्थात् जब वस्तुओं ।वाक्यार्थों। का परस्पर सम्बन्ध आपाततः असम्भव सिद्ध होता हुआ भी उपमा में परिणित हो जाये तो वहाँ निदर्शना अलंकार होता है ।

इसका एक रमणीय उदाहरण वामन पुराण के निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है -

क्व च न्यस्तसमस्तेच्छा क्व च नारीमयोभ्रमः ।
क्व क्रोधमीदृशं घोरं येनात्मानं न जानथ ।।[2]

अर्थात् कहाँ समस्त कामनाओं का त्याग, कहाँ नारीमय यह भ्रम एवं कहाँ इस प्रकार का क्रोध जिससे तुम लोग अपनी आत्मा को नहीं पहचान पाते ।

अनुन्विति

उपरोक्त उदाहरण में 'क्व च न्यस्तसमस्तेच्छा ' इत्यादि में वाक्यार्थ - निदर्शना है ।

---

1. काव्यप्रकाश, डा० श्रीनिवास शास्त्री, दशमोल्लास, श्लोक संख्या 149/97.
2. वामनपुराण, सरो०मा०, 22/85.

9. अर्थान्तरन्यास अलंकार

'सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।।'[1]

अर्थात् जहाँ सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से, कार्य का कारण से अथवा कारण का कार्य से समर्थन किया जाये, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ।

वामनपुराण में भगवान शिव-पार्वती विवाह प्रसंग में वर्णित निम्नलिखित श्लोक इसके उदाहरण माने जा सकते हैं,

यथा,

ततोऽप्यरुन्धतीं शर्वः प्राह गच्छस्व सुन्दरि ।
पुरन्ध्रयो हि पुरन्ध्रीणां गतिं धर्मस्य वै विदुः ।।[2]

तदनन्तर भगवान शंकर ने अरुन्धती से कहा – हे सुन्दरी, तुम भी जाओ। ।क्योंकि। स्त्रियों के धर्म की गति को स्त्रियाँ ही जानती हैं ।

आयाते त्रिपुरान्तके सहचरैः सार्धं च सप्तर्षिभि-
र्व्यग्रोऽभूद्गिरिराजवेश्मनि जनः कान्त्याः समालंकृतौ ।
व्याकुल्यं समुपगताश्च गिरयः पूजादिना देवताः
प्रायोव्याकुलिता भवन्ति सुहृदः कन्याविवाहोत्सुकाः ।।[3]

---

1. काव्यप्रकाश, पूर्वाद्धृत, दशमोल्लास, श्लोक संख्या 165.
2. वामनपुराण, 26/13.
3. वही, 27/34.

अर्थात् सहचरों और सप्तर्षियों के साथ त्रिपुरान्तक शिव के आने पर हिमवान् के घर के लोग कालों को बजाने में आये हुए पर्वत देवताओं की पूजा और सत्कार में व्यस्त हो गये । कन्या के विवाह में उत्सुक सुहृद लोग प्रायः व्याकुल हो ही जाते हैं ।

अन्विति

उपरोक्त दोनों उदाहरण में सामान्य से विशेष का समर्थन किया गया है ।

10. पर्यायोक्ति अलंकार

"पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः" ।[1]

जहाँ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध के बिना ही ।वाच्यार्थका प्रतिपादन होता है, वहाँ पर्यायोक्ति अलंकार होता है । ।अथवा जब प्रकारान्तर से व्यंग्य तथ्य की ही अभिधा कर दिया जाये तो वहाँ पर्यायोक्ति अलंकार होता है। ।

आलोचित पुराण में इसका रमणीय उदाहरण निम्नलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है -

प्रणम्य शंकरं देवाः प्रणमन्तु सुतां तव ।
कृत्वा पादं शत्रूणां मूर्ध्नि भस्मपरिप्लुतम् ।।[2]

---

1. काव्यप्रकाश, पूर्वोद्धृत, दशमोल्लास, श्लोक संख्या 175.
2. वामनपुराण, 26/40.

[सप्तर्षि हिमालय से कहते हैं कि] समस्त देवता शंकर को प्रणाम कर तुम्हारी पुत्री को प्रणाम करें। अपने शत्रुओं के सिर पर अपना भस्म युक्त पैर रखो।

अन्विति

प्रस्तुत उदाहरण में व्यंग्य तथ्य है - 'पार्वती शंकर की पत्नी बने'। क्योंकि बिना पत्नी बने शंकर के साथ उन्हें प्रणाम करने की कोई सार्थकता नहीं है।

इस प्रकार अन्य अनेक अलंकारों का चमत्कारपूर्ण वर्णन आलोचित पुराण के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देते हैं।

अन्यान्य वैशिष्ट्य

यद्यपि पुराणों में अनेक स्थानों पर काव्यात्मक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं, फिर भी मूलतः उन्हें काव्य के रूप में परिगणित नहीं किया जा सकता। क्योंकि पुराणकारों का उद्देश्य अपनी काव्य-प्रतिभा को प्रतिष्ठित करना नहीं था वरन् भारतीय संस्कृति के विकास-क्रम को सहज एवं सुबोध रूप में उपस्थित करना ही उनका प्रथम और अन्तिम उद्देश्य रहा है। इसलिए पुराणों में काव्य की सभी वर्णन शैली, यथा - रस, छन्द, अलंकार आदि को अनिवार्यतः के साथ ही साथ अपनी एक निजी अभिव्यक्ति-प्रणाली भी रही है, जिसका प्रभाव सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में दिखलाई पड़ता है।

पुराणों की अभिव्यक्ति-प्रणाली के स्वरूप-निरूपण में यह भी ध्यातव्य है कि पुराण स्वयं महाकाव्य नहीं है बल्कि वे महाकाव्य की सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

वामनपुराण के सम्यक् अध्ययन से उसमें कुछ अन्य शैलियों का दिग्दर्शन भी होता है जो मात्र वामन पुराण के लिए ही नहीं वरन् समस्त पुराणों के लिए अपेक्षित है । यथा -

1. श्रोता वक्ता शैली,
2. संवाद रूप में उपदेश-वर्णन की शैली
3. अवान्तरकथा-शैली

1. <u>श्रोता-वक्ता-शैली</u>

प्रायः पुराणों का प्रारम्भ श्रोता-वक्ता-शैली से होता है और उनकी रचना सूत-शौनक-संवाद के रूप में हुई है । इसका मुख्य कारण यह है कि श्रोता-वक्ता-शैली के द्वारा गूढ़ और कठिन समझे जाने वाले विषयों को सुगमता और सरलता के साथ सामान्य पाठकों तक सम्प्रेषित करने में अधिक सहजता होती है जैसा कि आलोचित ‡वामन‡ पुराण के श्रोता देवर्षि नारद और वक्ता महर्षि पुलस्त्य जी के वर्णन से स्पष्ट है ।

इन्हीं महर्षि पुलस्त्य एवं नारद के परस्पर संवाद से कथा का आभास दिया गया है[1] और उसके बाद कथा से सम्बद्ध मुख्य पात्र देवी सती, शिव आदि के संलाप से कथा आरम्भ होती है ।[2] जैसे देवर्षि नारद द्वारा पुलस्त्य जी से वामन से सम्बद्ध पुराण की कथा पूछे जाने पर वक्ताओं में श्रेष्ठ पुलस्त्यजी, नारद जी से वामनपुराण की कथा को आदि से प्रारम्भ करके अन्त तक पूर्ण रूप से वर्णन

---

1. वामनपुराण, 1/2-10.
2. वही, 1/11-29.

करते हैं लेकिन महर्षि पुलस्त्य के द्वारा कही जाने वाली कथा का प्रारम्भ कथा वर्णन के अन्तर्गत देवी सती और शिव के संलाप से होता है यथा -

> पुरा हैमवती देवी मन्दरस्थं महेश्वरम् ।
> उवाच वचनं दृष्ट्वा ग्रीष्मकालमुपस्थितम् ।।
> ग्रीष्मः प्रवृत्तो देवेश न च ते विद्यते गृहम् ।
> यत्र वातातपौ ग्रीष्मे स्थितयोर्नौ गमिष्यतः ।।
> एवमुक्तो भवान्या तु शंकरो वाक्यमब्रवीत् ।
> निराश्रयो हं सुदति सदारण्यचरः शुभे ।।[1]

प्रत्येक उपाख्यान के अन्त में महर्षि पुलस्त्य नारदजी से प्रस्तुत आख्यान अथवा उपाख्यान का निष्कर्ष बतलाते हुए एवं अन्य नये उपाख्यानों का कृम से वर्णन करते हुए अन्तिम उपाख्यान वर्णन के अन्त में नारदजी से वामनपुराण का पाठ एवं श्रवण करने के महत्व को विवेचित करते हैं ।[2]

2. सम्वाद रूप में उपदेश-वर्णन शैली

पुराणों की एक शैली यह भी रही है कि इसमें सम्वाद के द्वारा उपदेश-कथन की योजना की जाती थी, जिससे कहीं-कहीं अनपेक्षित और अप्रासंगिक उपदेशात्मक वर्णन की अधिकता के कारण कथा-प्रवाह भी अवरुद्ध हो जाता था । भारतीय साहित्य में यह प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है क्योंकि कथा-प्रवाह की चिन्ता किए बिना ज्ञान उपदेश की बातों का वर्णन पुराणों में प्रायः होता रहा है किन्तु फिर भी पुराणों में अवान्तर कथा-प्रसंगों

---

1. वामनपुराण, 1/11-13.
2. वही, 69/1-16.

से कथा-प्रवाह भले ही पद-पद पर स्खलित हो जाये लेकिन उसमें नीरसता का आभास कहीं भी देखने को नहीं मिलता ।

यथा - आलोचित पुराण में प्रह्लाद द्वारा भगवान विष्णु का अदिति के गर्भ में प्रविष्ट होने की बात सुनकर बलि का विष्णु के लिए दुर्वचन कहना, तदनन्तर प्रह्लाद का बलि को शाप देने एवं बलि द्वारा अनुनय करने पर प्रह्लाद बलि को इस प्रकार उपदेश देते हैं[1]-

* "तस्माद् राज्यं प्रति विभो न ज्वरं कर्तुमर्हसि ।
अवश्यं भाविनो ह्यर्था न विनश्यन्ति कर्हिचित् ।।
पुत्रमित्रकलत्रार्थे राज्यभोगधनाय च ।
आगमे निर्गमे प्राज्ञो न विषादं समाचरेत् ।।
यथा-यथा समायान्ति पूर्वकर्मविधानतः ।
सुखदुःखानि दैत्येन्द्र नरस्तानि सहेत् तथा ।।

तन्मना दानवश्रेष्ठ तद्भक्तश्च भवाधुना ।
स एव भवतः श्रेयो विधास्यति जनार्दनः ।।"

अर्थात् "हे दैत्यराज बलि ! राज्य के लिए तुम दुःख मत करो क्योंकि अवश्यम्भावी विषय कदापि विनष्ट नहीं होते । बुद्धिमान व्यक्ति को पुत्र,

1. वामनपुराण, 51/43-55.

मित्र, पत्नी, राज्यभोग और धन के आने तथा जाने पर दुःखी नहीं होना चाहिए ।

हे दैत्येन्द्र ! पूर्वकर्मों के विधान से जैसे जैसे सुख और दुःख आते हैं, मनुष्य को उसी प्रकार उनका सहन करना चाहिए तथा संयमी व्यक्ति को आपत्तियों के आगमन से दुःखी नहीं होना चाहिए और न ही विपुल सम्पत्ति को देखकर धैर्यच्युत होना चाहिए । इत्यादि

इसी प्रकार 67वें अध्याय में पाताललोक से सुदर्शन चक्र के निकल जाने पर अधीर हुए बलि को सान्त्वना प्रदान करने के लिए पितामह प्रह्लाद द्वारा दिया गया श्रेयस्कर उपदेश[1] –

"भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां
सुतदुहितृकलत्रत्राणभारार्दितानाम् ।
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां
भवति शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम् ।।

ये संश्रिता हरिमनन्तमनादिमध्यं
नारायणं सुरगुरुं शुभदं वरेण्यम् ।
शुद्धं खगेन्द्रगमनं कमलालयेशं
ते धर्मराजकरणं न विशन्ति धीराः ।।"

अर्थात् संसाररूपी समुद्र में निमग्न, द्वन्द्वरूपी वायु से आहत पुत्र, कन्या, पत्नी आदि की रक्षा के भार से दुःखी, भयंकर विषयरूपी जल में मग्न हो रहे

---

1. वामनपुराण, 67/27-76.

नौकारहित मनुष्यों के लिए विष्णुरूप नौका ही एक मात्र शरण होती है तथा आदि, मध्य एवं अन्तरहित, शुभदाता, वरेण्य, गरुड़वाहन, लक्ष्मीपति, शुद्ध सुरगुरु, नारायण हरि का आश्रय ग्रहण करने वाले धीर मनुष्य यमराज के शासन में नहीं पड़ते ।" इत्यादि

3. आवान्तर कथा शैली

पुराणों की एक विशेषता आवान्तर-कथा-शैली भी रही है, जिसके अन्तर्गत मूल-कथा के साथ अनेक प्रासंगिक अथवा आवान्तर कथायें भी साथ-साथ ही चलती रहती हैं । कथा के भीतर कथा कहने की इस प्रवृत्ति के कारण ही इस शैली की जटिलता काव्यों में प्रायः खटकती रहती है किन्तु पुराणों में इस शैली का प्रयोग स्वच्छन्द रूप से हुआ है । इन आवान्तर कथाओं के प्रयोग से मूल कथा कभी-कभी बिल्कुल स्थिर सी जान पड़ती है किन्तु पुराणों की मूल-कथा के साथ जिन आवान्तर कथाओं का वर्णन किया गया है उनमें प्रत्येक कथा दूसरी कथा के आवरण में छिपाकर कही गयी है । यथा, आलोचित ‡वामन‡ पुराण में मूल कथा के साथ-साथ जिन आवान्तर कथाओं को वर्णित किया गया है, उनके पात्रों को एक प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है । जैसे देवमाता अदिति, महर्षि कश्यप, विप्रश्रेष्ठ ‡वशिष्ठ एवं देवर्षि नारद आदि । स्थूलतः ये सभी मानवीय पात्र होते हुए भी अपना एक प्रतीकात्मक अर्थ ‡महत्व‡ रखते हैं और उसी प्रकार उनसे सम्बन्धित घटनायें भी मानव मन को पोषित करती हैं ।

आलोचित पुराण में अनुस्यूत विभिन्न प्रासंगिक अथवा आवान्तर घटनाओं यथा, दक्षयज्ञविध्वंस, नरनारायणाभ्यां प्रह्लादस्य युद्धम्, कात्यायनी चरिते महिषादिवधोपाख्यान, मंकणोपाख्यान, स्कन्दोत्पत्ति, अन्धकाराजय,

धुन्धुवधोपाख्यान, कोशकारसुतोपाख्यान आदि से वामनपुराण की मूल कथा-बलि-वामन चरित में गति और प्रवाह का संचार होता है । यदि इन उपकथाओं में किसी एक को भी मूल कथा से विलग कर दिया जाये तो सम्पूर्ण मूल-कथा ही बिखर जायेगी । यही कारण है कि वामन पुराण की मूल कथा के साथ जिन आवान्तर कथाओं का वर्णन हुआ है उनमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता अथवा जटिलता नहीं आई है । पुराण की यह शैली मात्र वामनपुराण में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण पुराण-वाङ्मय में अपेक्षित है ।

------:0:------

सप्तम् अध्याय

भुवन कोश -वर्णन

वामनपुराण में वर्णित खगोल एवं भूगोल

प्राचीन भारतीय धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा अन्यान्य सांस्कृतिक विषयों के प्रतिपादन के अतिरिक्त पुराणकारों ने विश्व-सृष्टि एवं भूगोल सम्बन्धी विषयों का भी विशद वर्णन किया है। पुराणों में 'लोक' शब्द का प्रयोग 'पृथ्वी' का बोधक माना जा सकता है। त्रिलोक, चतुर्लोक, सप्तलोक आदि का प्रयोग पुराणों में प्रायः देखने को मिलता है, जो इस आशय की ओर संकेत करते हैं कि भूगोल सम्बन्धी अनन्त ज्ञानराशि इनमें संगृहीत है। विष्णु एवं कूर्म पुराणों में ब्रह्माण्ड में स्थित सात लोकों की क्रमिक-स्थिति, जीवन-गति तथा उनकी उपलब्धियों का वैज्ञानिक विवेचन उपलब्ध होता है।[1] कूर्म पुराण में इन लोकों की पारस्परिक दूरी की परिगणना इस प्रकार विवृत है - सूर्य से भूलोक की दूरी सम्पूर्ण भूलोक की परिधि के बराबर मानी गई है, तृतीय स्वर्लोक को आकाश में ध्रुव नक्षत्र के सन्निकट अवस्थित बताया गया है।[2] चतुर्थ-लोक, को महर्लोक की संज्ञा से अभिहित कर ध्रुव नक्षत्र-क्षेत्र से एक करोड़ योजन ऊपर परिकल्पित किया गया है। पंचम लोक अर्थात् 'जन-लोक' को महर्लोक से दो करोड़ योजन और ऊपर स्थित बताया गया है। इसी प्रकार षष्ठम् एवं सप्तम अर्थात् तपः एवं सत्य लोकों को जनलोक से क्रमशः तीन और छः करोड़ योजन की दूरी पर अवस्थित माना गया है।[3]

पुराण में ब्रह्मा के एक दिन की गणना करते समय यह वर्णन भी मिलता है कि एक वर्ष की अवधि देवताओं के एक दिन के बराबर तथा बारह हजार दैवी

---

1. विष्णुपुराण, (विल्सन अनुवाद) पृ० 42, कूर्म पुराण, 1/41.
2. कूर्मपुराण, 1/4, पृ० 268.
3. वही, 1/44, पृ० 284.

वर्ष (अर्थात् देवताओं के दिनों का योग-वर्ष) ब्रह्मा के एक दिन के बराबर होता है। ब्रह्मा का एक दिन चतुर्युग के मन्वान्तर के काल के बराबर माना गया है। इस प्रकार के वर्षों को जोड़कर ब्रह्मा की कुल आयु सौ वर्ष मानी गई है।[1] जिस समय ब्रह्मा की आयु पचास वर्ष की होती है, उस समय सृष्टि में महाप्रलय हो जाती है।[2]

पुराणों के अनुसार वर्तमान कल्प, वाराह कल्प है तथा अतीत कल्प पद्म-कल्प की संज्ञा से अभिहित है।

महाकल्प के अस्तित्व मान होने पर केवल जन-लोक, तपो-लोक तथा सत्य-लोक को छोड़कर शेष सभी भूलोक से महर्लोक तक समाप्त हो गये।[3] किन्तु कुछ पुराणों के अनुसार महाकल्प में भूलोक से महर्लोक तक 'समवर्तक अग्नि' व्याप्त हो गई थी जिसके फलस्वरूप महर्लोक वासी सिद्धगण आत्मरक्षार्थ-जनलोक की शरण में गये।[4]

विष्णु, मार्कण्डेय, वायु, ब्रह्माण्ड तथा पद्म-पुराणों के अनुसार वराह रूप में भगवान विष्णु ने महाप्लावन के समय विनष्ट उक्त चतुर्लोकों की पुनर्सृष्टि की जो क्रमशः भूः, भुवः, स्वः तथा महः लोक के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[5]

---

1. ओमप्रकाशमृत, पालिटिकल आइडियाज इन दि पुराणाज, (1977) पंचनद प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0 17.
2. मार्कण्डेयपुराण, बिब्लिओथिया इण्डिका सिरीज, कलकत्ता एवं कूर्मपुराण, 1/5, विष्णुपुराण, 1/3.
3. विष्णुपुराण, 1/3/20-26, कूर्मपुराण, 1/5/22-23, पद्मपु0 1/30/19-31.
4. मार्कण्डेयपुराण, 47/38-41.
5. श्वेताश्वेतर उपनिषद, 6/22/22, द्रष्टव्य, आनन्दस्वरूप गुप्त का लेख, पुराण पत्रिका, 11, पृ0 304-321, तथा पुराण पत्रिका, 2(1960)पृ0 189.

इन सातों लोकों में केवल भूलोक को ही सूर्य एवं चन्द्रमा की रश्मियों से ज्योतिमान कहा गया है ।[1] यह चारों ओर से द्वीपों तथा समुद्रों से संवृत्त है । भूलोक में स्थित सप्तद्वीप को समुद्र की अनन्त जलराशि से परस्पर पृथक् परिकल्पित किया गया है ।[2]

वामनपुराण में भूलोक का विस्तार पचास करोड़ योजन बताया गया है जो जल पर स्थित है ।[3] ब्रह्माण्ड एवं वामन पुराण के अनुसार महाकल्प के बाद ब्रह्मा ने कर्णिका के आकार वाले मेरुपर्वत को निर्मित कर, पृथ्वी पर द्वीपों तथा प्रजाजनों की सृष्टि की ।[4] वामनपुराण में ब्रह्मा द्वारा प्रजा की सृष्टि तथा उनके निवास के लिए द्वीपों के निर्माण का वर्णन भी मिलता है । पृथ्वी के इन सात द्वीपों के मध्य में जम्बू द्वीप को अवस्थित बताया गया है जिसका विस्तार एक लक्ष योजन विवृत है तथा उसके बाहर द्विगुण परिमाण में रौद्र-समुद्र को परिकल्पित किया गया है ।[5]

---

1. कूर्मपुराण, 1/41, पृ0 257.
2. कूर्मपुराण, 1/45, ब्रह्माण्डपुराण, 1/2/41-60, वायुपुराण, 1/47/37-52, मत्स्यपुराण, 120/39-51 तथा वामनपुराण, 11/30.
3. वामनपुराण, 11/31.
4. वही, 11/33, ब्रह्माण्डपुराण, 1/7/6-13, वायुपुराण 34/37, मत्स्यपुराण, 1/2/14.
5. वामनपुराण, 11/34-35.

भौगोलिक विवेचन - चतुर्द्वीपा एवं सप्तद्वीपा वसुमती

पुराणों में[1] पृथ्वी की भौगोलिक बनावट के परिकल्प में सप्तद्वीपों की अवधारणा उल्लेखनीय है । यद्यपि इन द्वीपों के नामों एवं कुमों में कहीं-कहीं अन्तर मिलता है तथापि इन द्वीपों की संख्या तथा भौगोलिक स्थिति में विशेष विभिन्नता नहीं दिखलाई देती ।

कुछ प्रारम्भिक पुराणों में केवल चार द्वीपों से संयुत-पृथ्वी की परिकल्पना की गई है । तथा पृथ्वी को कमल पुष्प की भाँति परिकल्पित करते हुए चतुर्द्वीपों को चतुर्दल रूप में तथा सुमेरु पर्वत को कर्णिका के रूप में वर्णित किया गया है ।[2] मेरु पर्वत के चारों ओर ये चार द्वीप इस प्रकार वर्णित हैं[3] - .

1. कुरु अथवा उत्तर कुरु - उत्तर में
2. जम्बू अथवा भारत - दक्षिण में
3. भद्राश्व - पूर्व में तथा
4. केतुमाल - पश्चिम में

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अत्यन्त युक्तिपूर्ण ढंग से उपरोक्त चारों द्वीपों का समीकरण किया है । भद्राश्व का अर्थ है - कल्याणकारी घोड़ा ।

---

1. वायुपुराण, 34/37; 33/4; 33/24; 33/31; 34/7, कूर्मपुराण, 1/45, पृष्ठ 388-389, ब्रह्माण्डपुराण, 1/2/41-60.
2. मत्स्यपुराण, अध्याय 113; वायुपुराण अध्याय, 35-36, मार्कण्डेयपुराण अध्याय 54.
3. महाभारत 6/6/12-13; वायुपुराण, 34/37-38, विष्णुपुराण, 2/38 एवं हरिवंशपुराण, 2/88, 2/115, 1/120.

संभवतः यह चीन देश को सूचित करता है । आमूदरिया एवं सिरदरिया का विशाल भू-क्षेत्र केतुमाल महाद्वीप प्रतीत होता है जो सुमेरु पर्वत के पश्चिम में स्थित है । उत्तर कुरु-आलताई पर्वत से लेकर उत्तरी समुद्र तक फैला हुआ विशाल भू-क्षेत्र है जिसकी समृद्धि का वर्णन पुराणों में स्वर्ग भूमि का स्मरण कराती है ।[1]

आलोचित पुराण में सप्तद्वीपा वसुमती

पृथ्वी के विस्तार की परिकल्पना आलोचित पुराण में पचास करोड़ योजन की गई है जो नदी में नाव के सदृश स्थित है ।[2] पृथ्वी के क्रमशः सात द्वीप - जम्बू-द्वीप[3], प्लक्ष-द्वीप[4], शाल्मलिद्वीप[5], कुश-द्वीप[6], क्रौंचद्वीप[7], शाक-द्वीप[8] एवं पुष्करद्वीप[9] क्रमशः सात समुद्र-रौद्र समुद्र, इक्षु-रस-सागर, सुरासागर, घृत-सागर, दधि-समुद्र, क्षीर-सागर तथा सुस्वादु जल के सागर से परस्पर पृथक् एवं घिरे हुए हैं ।[10]

---

1. बलदेव उपाध्याय, पुराण-विमर्श, पृ0 381.
2. वामनपुराण, 11/31.
3. वही, 11/34.
4. वही, 11/35.
5. वही, 11/36.
6. वही, 11/37
7. वही, 11/38.
8. वही, 11/39.
9. वामनपुराण, 11/41-42.
10. वही, 11/31-42.

ये सप्त द्वीप क्रमशः अपने बीच के सागर सहित द्विगुण आकार वाले बताये गये हैं । पुराणों में सातों द्वीपों के नाम-क्रम, आकार तथा उनके उपविभागों में कहीं-कहीं भिन्नता भी दिखलाई पड़ती है । अल्बेरुनी ने मत्स्य एवं पद्मपुराणों में सप्तद्वीपों की सूची में क्रमशः जम्बू-द्वीप, शाकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंच द्वीप, शाल्मलि द्वीप, गोमेद ■ द्वीप तथा पुष्करद्वीपों का उल्लेख किया है जो आलोचित पुराण की सप्तद्वीपन सूची से भिन्न है ।[1] उक्त सूची में उल्लिखित जम्बू एवं पुष्कर द्वीपों का नाम लगभग सभी पुराणों की सूची में उपलब्ध है ।

शाक द्वीप

विद्वानों द्वारा यह द्वीप कभी काल्पनिक द्वीप[2], कभी तारकीय स्तर[3] तथा कभी पृथ्वी के भौमिकीय निर्माण काल के कारण पृथ्वी के भूतल के बदलाव के रूप में स्वीकार किया गया है । डा० एस०एन० अली ने जलवायु एवं वनस्पति के द्वारा किसी क्षेत्र-विशेष के ज्ञान का आधार मानकर पौराणिक द्वीपों की स्थिति का विवेचन किया है ।[4] इस आधार पर उन्होंने शाकद्वीप को एशिया

---

1. सुखाऊ, अल्बेरुनीज इण्डिया जिल्द, प्रथम, पृ0 236, जैरेट, आयने अकबरी जिल्द 3, पृ0 32, एवं द्रष्टव्य मत्स्यपुराण अध्याय 122-123.
2. वी0 कन्नेडी, रिसर्चेज टु दि नेचर एण्ड ऐफिनिटि आफ ऐशेण्ड एण्ड हिन्दू माइथोलाजी, पृ0 407, एवं बर्थ, दि रिलिजन्स आफ इण्डिया, पृ0 431-32.
3. वारेन डब्ल्यू0 एफ0 शाक द्वीप इन दि मिथिकल वर्ल्ड व्यू आँफ इण्डिया, जे0ए0 ओ0 एस0, 1920, वाल्यूम, 40, पृ0 356-358.
4. एस0एन0 अली, दि ज्याग्राफी आफ दि पुराणाज, पृ0 39.

महाद्वीप के मानसून वाले भू-भाग, जहाँ शालवृक्ष पाये जाते हैं अर्थात् बर्मा, मलाया, श्याम तथा इण्डोचीन एवं दक्षिण-चीन देशों में समीकृत किया है। इस प्रकार यह द्वीप बंगाल की खाड़ी से लेकर चीन सागर की जलराशि तक स्थित माना जा सकता है।[1] आलोचित पुराण में इसे दधिसागर से दुगुना विस्तार वाला द्वीप बताया गया है।

कुशद्वीप

कुश देश तथा कुशीय लोगों का उल्लेख प्रायः अनेक प्राचीन फारसी लेखों में मिलता है। डा० बलदेव उपाध्याय ने इस देश को अफ्रीका के पूर्वोत्तर भाग में अवस्थित मानते हुए कुशद्वीप से समीकृत किया है।[2] डा० एस०एम० अली ने मत्स्यपुराण में विवृत इस द्वीप के कुश-पौधे के साक्ष्य को प्रस्तुत करते हुए इसे घास वाले भू-क्षेत्र के रूप में स्वीकार किया है।[3] आलोचित पुराण में कुश-द्वीप को सुरासागर से दुगुना परिमाप वाला बताया गया है।[4]

प्लक्षद्वीप

आलोचित पुराण में प्लक्ष-द्वीप को जम्बूद्वीप से चार गुना अधिक परि-माप वाला बताया गया है।[5] इसमें सात पहाड़ियाँ थी जिनका नाम क्रमशः

---

1. वामनपुराण, 11/89.
2. डा० बलदेव उपाध्याय, पुराण-विमर्श, पृ० 327-328.
3. एस०एम० अली, दि ज्याग्राफी आफ दि पुराणाज, पृ० 41.
4. वामनपुराण 11/37.
5. वही, 11/34-35.

गोमेद, चन्द्र, नारद, दुन्दुभी, सोमेक, सुमनस तथा वैभ्राज मिलता है। इन पहाड़ियों से प्रवहमान सात नदियों - अनुतप्त, शिखी, विपाशा, त्रिदेवा, क्रमु, अमृत और सुकृता का भी उल्लेख मिलता है।[1] एस0एम0 अली ने प्लक्ष अर्थात् पारकर वृक्ष युक्त क्षेत्र के आधार पर भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों से युक्त भू-क्षेत्र को प्लक्षद्वीप से समीकृत किया है।[2]

पुष्करद्वीप

आलोचित पुराण में पुष्कर द्वीप को भयंकर तथा पैशाचिक धर्मों से आश्रित कहा गया है।[3] इसे पवित्रता रहित तथा इक्कीस नरकों वाला द्वीप भी कहा गया है। एस0एम0 अली ने प्राप्त पौराणिक विवरणों के आधार पर इसका समीकरण स्केण्डिनेवियन द्वीप, फिनलैण्ड, उत्तरी यूरोपीय देश, रूस तथा साइबेरिया तक विस्तृत भू-क्षेत्रों से किया है।[4]

शाल्मलि द्वीप

आलोचित पुराण में शाल्मलि द्वीप को मधु-रस सागर से द्विगुण परिमाप वाला बताया गया है।[5] एस0एम0 अली के अनुसार इस द्वीप को जलवायु, प्राकृतिक बनावट, तथा वृक्षों की प्राप्ति आदि के आधार पर मेडागास्कर से

---

1. सरकार, दिनेशचन्द्रकृत, कास्मोग्राफी एण्ड ज्योग्राफी इन अर्ली इण्डियन लिटरेचर, पृ0 105, नोट।
2. एस0एम0 अली, वही, पृ0 41.
3. वामनपुराण, 11/46-47,48,49 एवं 50.
4. एस0एम0 अली, दि ज्याग्राफी आफ दि पुराणाज, पृ0 43.
5. वामनपुराण, 11/66.

लेकर उष्णकटिबन्धीय अफ्रीका महाद्वीप के भू-भागों से समीकृत किया जा सकता है ।[1] इस क्षेत्र को पौराणिकों ने हरिन तथा अन्य प्राचीन लेखकों ने शंखद्वीप के नाम से भी सम्बोधित किया है ।

कृौंच द्वीप

आलोचित पुराण में कृौंच द्वीप को कुश-सागर से दुगुना परिमाण वाला बताया गया है ।[2] पुराणों में इस द्वीप की वनस्पति तथा जलवायु आदि से सम्बन्धित विशेषताओं का उल्लेख अनुपलब्ध है किन्तु तैत्तिरीय आरण्यक[3] में कृौंच नामक पर्वत का उल्लेख उपलब्ध होता है जिससे इस द्वीप की स्थिति भारत के सन्निकट किसी भू-भाग में होगी ऐसा अनुमान किया जाता है. । महाभारत[4] में इसे मेरु पर्वत के पश्चिम तथा एक अन्य स्थल[5] पर उत्तर में स्थित माना गया है । रामायण[6] तथा बृहत्संहिता[7] में इसे मेरु पर्वत के उत्तर में अवस्थित बताया गया है ।

---

1. एस0एम0 अली, वही, पृ0 46.
2. वामनपुराण, 11/38.
3. तैत्तिरीय आरण्यक, 1/31/2.
4. महाभारत, 12/14/21-25.
5. वही, 12/14/12.
6. रामायण, 4/48/25.
7. बृहत् संहिता, 14/24.

अतः क्रौंच द्वीप की स्थिति जम्बू-द्वीप के उत्तर-पश्चिम में कृष्ण सागर के तटवर्ती क्षेत्र तक अवस्थित माना जा सकता है ।[1] ऐसा अनुमान किया जाता है कि काला सागर ही संभवतः दधि सागर था जिससे इस द्वीप की सीमायें परिवेष्टित थीं ।

<u>जम्बू द्वीप</u>

आलोचित पुराण के अनुसार जम्बू द्वीप पृथ्वी के मध्य में स्थित है जिसका प्रमाण एक लक्ष योजन बताया गया है । इसके नौ सुविस्तृत विभाग (वर्ष) भी बताये गये हैं ।[3] इस द्वीप के मध्य में इलावृत वर्ष, पूर्व में भद्राश्व वर्ष, दक्षिण-पश्चिम में हरिवर्ष, पूर्व-दक्षिण में किम्नरवर्ष, दक्षिण में भारतवर्ष, दक्षिण पश्चिम में हरिवर्ष, पश्चिम में केतुमाल वर्ष, पश्चिमोत्तर में रम्यकवर्ष तथा उत्तर में कुरु वर्ष स्थित बताया गया है ।[4] भारतवर्ष के अतिरिक्त इला-वृत्त आठ वर्षों (विभागों) में युवावस्था तथा जरामृत्यु का भय नहीं होता । उनमें बिना प्रयत्न के स्वाभाविक तथा सुख-बहुल सिद्धि होती है तथा उनमें कोई विपर्यय (परिवर्तन) तथा उत्तम, मध्यम एवं अधम का भेद नहीं होता ।[5]

वामन पुराणकार ने भारतवर्ष के अतिरिक्त जम्बू द्वीप के अन्य वर्षों (विभागों) की सांस्कृतिक मान्यताओं की ओर भी संकेत किया है जिसकी सामाजिक संरचना में वर्ण-व्यवस्था, कर्मों के आधार पर उत्तम, मध्यम एवं अधम

---

1. एस०एम० अली, दि ज्योग्रफी आफ दि पुराणाज, पृ० 46.
2. वामनपुराण, 11/34.
3. वही, 13/2 (नवभेद सुविस्तीर्णम्)
4. वही, 13/3-5.
5. वही, 13/6-7.

आदि के भेद भाव की मान्यतायें नहीं थी क्योंकि वे समस्त भू-भाग अपनी सामाजिक एवं आर्थिक मान्यताओं में सांसारिक सुखोपभोग को ही सर्वोपरि महत्त्व देते थे। कर्मबन्धन तथा मोक्ष आदि विषयों से सम्बन्धित आध्यात्मिक चेतना संभवतः उनकी सांस्कृतिक मान्यताओं में थी ही नहीं।

भारतवर्ष के नवद्वीप

पौराणिक भूगोल शास्त्र में भारतवर्ष को जम्बू द्वीप का सबसे बड़ा भू-भाग परिकल्पित किया गया है। इसे जम्बूद्वीप के दक्षिण में अवस्थित बताया गया है।[1] पुराणों में इसे 'हैमवत वर्ष'[2] एवं 'अजनाभ'[3] नामों से भी अनेकत्र सम्बोधित किया गया है।

भारतवर्ष में विद्यमान नौद्वीप परस्पर अगम्य तथा समुद्रों से व्यवहित बताये गये हैं।[4] इनके नौद्वीपों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं - इन्द्रद्वीप, कसेरुमान, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान, नागद्वीप, कटाह, सिंहल, वारुण तथा कुमारद्वीप।[5] वामन पुराणोक्त नवद्वीपों की यह सूची मत्स्य एवं मार्कण्डेयपुराण की सूची से किंचित् भिन्न एवं मौलिकतापूर्ण है। वामन पुराण तथा उक्त दोनों पुराणों में प्रथम पाँच द्वीपों के नामों में तो समानता परन्तु छठें, सातवें एवं नवें द्वीप

---

1. वामनपुराण, 18/4.
2. वायुपुराण, 35/52.
3. भागवतपुराण, 5/7/3.
4. वामनपुराण, 18/8.
5. वही, 13/4-10.

के नामों में साम्याभाव है ।

वामनपुराण[1] में छठें एवं सातवें द्वीपों का नाम क्रमशः कटाह एवं सिंहल आख्यात है, जबकि मत्स्य[2] एवं मार्कण्डेय[3] पुराणों में क्रमशः सौम्य एवं गन्धर्व द्वीपों का नाम विवृत्त है । जहाँ तक नवें द्वीप का सम्बन्ध है, वामन पुराण[4] में वर्तमान भारतदेश के लिए 'अयंतु नवमस्तेषां द्वीपः सागर संवृतः '[5] कहकर मात्र संकेत कर दिया गया है । यह नवाँ द्वीप कौन सा था जिसको पुराणकार ने इतनी गंभीरता से मात्र 'अयं' कहकर बोध कराया है । यह आज भी चर्चा का विषय बना हुआ है । वामनपुराण में इस नवें द्वीप का नाम 'कुमार द्वीप' मिलता है जो दक्षिण से उत्तर की ओर फैला हुआ है ।[6]

भारतवर्ष के उपर्युक्त नव द्वीपों के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । जनरल कनिंघम,[7] एस०एन० मजुमदार, वासुदेवशरण अग्रवाल[8] तथा आचार्य बलदेव उपाध्याय[9] आदि विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष को आठ द्वीप

---

1. वामनपुराण, 13/9-10.
2. मत्स्यपुराण, 114/7-8.
3. मार्कण्डेयपुराण, 57/5.
4. वामनपुराण, 13/4-10.
5. अयंतु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः ', मत्स्यपुराण, 114/7-8, तथा मार्कण्डेयपुराण 57/5.
6. वामनपुराण, 18/10.
7. कनिंघम-ऐंशेण्ट ज्याग्राफी, पृ0 6.
8. वासुदेव शरण अग्रवाल, मत्स्यपुराण ए स्टडी, पृ0 192.

गुप्तोत्तरकालीन वृहत्तर भारत के अन्तर्गत आने वाले दक्षिण-पूर्व-एशिया के कुछ द्वीपों के स्पष्ट संकेत हैं जिनमें कुछ द्वीपों के नाम आज भी वही हैं और कुछ के बदल गये हैं । परन्तु एस०एम० अली[1] ने इन द्वीपों की स्थिति भारत के बाहर न मानकर भारत के भीतर ही मानना भौगोलिक दृष्टि से उचित बताया है । अपने मत के समर्थन में अली महोदय ने वायु पुराणोक्त[2] भारतवर्ष के अन्तर्भाग में विद्यमान पर्वतों, नदियों एवं जनपदों की ओर भी संकेत किया है ।[3] अली महोदय के अनुसार भारतवर्ष के नवद्वीप अथवा खण्ड इस प्रकार हैं[4] -

इन्द्रद्वीप - ब्रह्मपुत्र नदी से परिवृत्त क्षेत्र,

कसेरुमत - गोदावरी एवं महानदी से परिवृत्त समुद्रतटीय क्षेत्र,

ताम्रवर्ण - कावेरी का दक्षिणी प्रायद्वीपीय भू-भाग,

गभस्तिमान-गोदावरी एवं नर्मदा नदी के मध्य पहाड़ी क्षेत्र,

नागद्वीप - नर्मदा एवं गोदावरी नदियों के मध्य विन्ध्य एवं सतपुड़ा पहाड़ी क्षेत्र,

कटाह - काठियावाड़ का चतुर्दिक-क्षेत्र,

सिंहल - लंकाद्वीप

---

1. एस०एम० अली, दि ज्याग्राफी आफ दि पुराणाज, पृ० 128.
2. वायुपुराण, 45/86-137.
3. एस०एम० अली, पूर्वोद्धृत, पृ० 128.
4. एस०एम० अली, वही,
   पृष्ठ, 129-130.

चारण – भारतवर्ष के पश्चिमी घाट का समुद्रतटीय क्षेत्र। अपने मत के समर्थन में अली महोदय ने पराशर एवं वराहमिहिर[1] के ज्योतिष ग्रन्थों का साक्ष्य भी प्रस्तुत किया है जिसमें भारतवर्ष का आकार कूर्मवत परिकल्पित किया गया है ।

अली महोदय का यह उक्त मत अल्बेरुनी एवं अबुल-फजल द्वारा वर्णित भारतवर्ष के नव-भेदों के आलोक में संगत प्रतीत होता है किन्तु रामचन्द्र दीक्षितार[2], ने पुराणोक्त भारतवर्ष के नवद्वीप को इस देश का नववृहद् संभाग मानकर इन द्वीपों की जो पहचान कराई हैं वह निम्नोक्त सूची के अनुसार है –

इन्द्रद्वीप – बर्मा
कसेरुमत – पूर्वी बंगाल तथा आसाम
ताम्रपर्ण – लंका
गभस्तिमान– दिल्ली एवं राजस्थान
नाग – डेल्फिक्टा प्रायद्वीप
सौम्य – बंगाल एवं उत्तर प्रदेश
गन्धर्व – गान्धार
वरुण – भारतवर्ष की पश्चिमी सीमाक्षेत्र
कुमारद्वीप – दक्षिण भारत

एक अन्य विद्वान् का कथन है कि आचार्य दीक्षितार के इस तर्कसंगत मत से प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के विभाग(वर्ष) न तो सागरसंवृत है और

---

1. द्रष्टव्य, कर्ण द्वारा प्रतिपादित, 'बृहत् संहिता' पृ0 32.
2. दीक्षितार, आर0सी0, सम स्पेक्ट्स आफ दि वायुपुराण, पृ0 170–184.

न ही परस्पर गम्य है ।[1]

वायुपुराण[2] में आख्यात 'अयं तु नवमस्तेषां द्वीप-सागरसंवृत्त' के आधार पर डा० मस्तराम सिंह[3] यह स्पष्ट करते हैं कि 'अयं' अथवा 'कुमार द्वीप' का संकेत सम्पूर्ण भारत के लिए ही किया गया है । अतः पुराणोक्त भारतवर्ष के नवद्वीपों का तात्पर्य भारत तथा शेष आठ दक्षिण-पूर्वी एशियाई द्वीपों से ही मानना पौराणिक विवरण के अनुकूल प्रतीत होता है ।

पर्वतों का पौराणिक वर्गीकरण

पुराणों में द्वीपों के समान पृथ्वी पर स्थित पर्वतों का भी, उनकी प्राकृतिक बनावट, विस्तार, भौगोलिक स्थिति एवं विशालता के आधार पर अनेक प्रकार से नामकरण किया गया है । ये नामकरण पर्वतों की कुछ कोटियों के द्योतक भी प्रतीत होते हैं । जैसा कि पुराणों में विभिन्न वर्षों अथवा विशाल देशों की सीमा पर विद्यमान बड़े शैल-शृंगों को वर्ष-पर्वत कहा गया है । इसी प्रकार मर्यादा-पर्वत, एवं कुल-पर्वतों का उल्लेख किया जा सकता है जिसकी भौगोलिक स्थिति से विभिन्न देशों एवं प्रदेशों की भौगोलिक सीमाओं का आकलन किया जाता है ।

---

1. एम०आर० सिंह, ज्याग्राफिकल, डाटा आफ दि अर्ली पुराणाज, पृ० 9.

2. वायुपुराण, 1/45/80-82.

3. एम०आर० सिंह पूर्वोद्धृत, पृ० 9.

वर्ष पर्वत

महाभारत में यह उल्लेख मिलता है कि जम्बूद्वीप पृथ्वी पर कमल के समान स्थित है । इस द्वीप की कर्णिका मेरु पर्वत विवृत है तथा भद्राश्व, भारत, केतुमाल एवं उत्तर कुरु वर्षों (देशों) की चार विकसित पंखुड़ियों के समान परिकल्पित किया गया है ।[1]

पुराणों में सुमेरु पर्वत को पृथ्वी पर विद्यमान कर्णिकाकार एवं वर्ष पर्वतों का केन्द्र माना गया है ।[2] वामनपुराण में मेरु पर्वत को कर्णिका के सदृश परिकल्पित करते हुए इसके ऊँचे ऊँचे शैल-शिखरों के निर्माण का श्रेय ब्रह्मा को प्रदान किया गया है ।

हिमालय-पर्वत

पुराणों में हिमालय पर्वत के लिये हिमवंत, हैमवत तथा हिमवत् नाम भी मिलता है । कालिदास ने इसे 'नगाधिराज' कहा है ।[4] इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद एवं अथर्ववेद[5] में उपलब्ध होता है ।

---

1. महाभारत, 6/3-5 (नीलकंठ टीका)
2. 'स तु मेरुः परिवृत्तो भुवनैर्भूतभावनैः ।
   यस्ये चतुरो देशा नानापार्श्वेषु संस्थिताः ।।
   वायुपुराण, 34/46, कर्णिका संस्थान
3. वामनपुराण 11/32.
4. कालिदासकृत कुमारसम्भवम् , प्रथम श्लोक
5. ऋग्वेद, 10/121/4, तथा
   अथर्ववेद, 12/1/2.

आलोचित पुराण में हिमवंत पर्वत तथा उसके प्रसिद्ध शैल-शिखरों एवं स्थानों का स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगत है । वामन पुराण में इसका महेन्द्र ऐसा नाम भी उपलब्ध है ।[1]

कुल-पर्वत

भारतवर्ष में सात पर्वतों की एक परस्पर संहत श्रृंखला विद्यमान है जिसे पुराणों में सात कुल (मुख्य) पर्वत के नाम से सम्बोधित किया गया है । इन पर्वतों के नाम हैं - महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष, विन्ध्य एवं पारियात्र ।[2] आप्टे महोदय ने कुल शब्द का अर्थ कुल (वंश) देश तथा जन (जन-जाति) से माना है ।[3]

महेन्द्र-पर्वत

प्रथम कुल पर्वत महेन्द्र को कलिंगों का सर्वोत्कृष्ट पर्वत माना जा सकता है । आलोचित पुराण में महेन्द्र पर्वत को सात कुल-पर्वतों में प्रथम कहा गया है ।

भागवत पुराण में इसे गंगासागर एवं सप्त गोदावरी क्षेत्र के मध्य अवस्थित बताया गया है ।[5] पार्जिटर महोदय के अनुसार महेन्द्र गिरि की

---

1. वामनपुराण, 13/14.
2. वही.
3. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ0 154-155.
4. वामनपुराण, 13/14.
5. भागवतपुराण, 10/79.

सीमा महानदी, गोदावरी तथा वेनगंगा नदियों के तटवर्ती क्षेत्रों से गोदावरी नदी के उत्तर पूर्वी घाट की पर्वत-श्रेणियों के मध्यवर्ती क्षेत्र तक ही सीमित मानना समीचीन प्रतीत होता है ।[1]

आलोचित पुराण में महेन्द्र पर्वत को दक्षिण भारत में स्थित बताया गया है ।[2] इसी पुराण में इस पवित्र पर्वत को अर्द्धनारीश्वर विष्णु एवं सोमपीथी गोपाल का निवास क्षेत्र भी बताया गया है ।[3]

<u>मलय-पर्वत</u>

आलोचित [वामन] पुराण में मलय-पर्वत की गणना भारतवर्ष के सात कुल-पर्वतों में की गई है ।[4] इसे दक्षिण भारत का एक प्रमुख पर्वत बताया गया है ।[5] मलय पर्वत को इन्द्र का निवासस्थान[6] एवं इन्द्र[7] का कार्यक्षेत्र भी बताया गया है ।[8] इस पर्वत को सिद्धों द्वारा सेवित कन्दराओं तथा लता-वितानों से आच्छन्न मत्त-प्राणियों से परिपूर्ण, सर्पों से अवेष्टित सुशीतल चन्दन से युक्त तथा माधवी-कुसुम के आमोद से पूर्ण-अक्षियों से अर्चित क्षेत्र कहा गया

---

1. एफ0ई0 पार्जिटर, दि मार्कण्डेय पुराण, पृ0 305, पाद-टिप्पणी
2. वामनपुराण, 57/10.
3. वही, 63/10-11.
4. वही, 13/14.
5. वही, 26/48, 45/1.
6. वही, 44/78.
7. वही, 44/80.
8. वही, 44/80.

है ।[1] इस पर्वत को प्रभा-सम्पन्न, एवं सुगन्धिपूर्ण बतलाते हुए विष्णु को यहाँ पर सौगन्धिवन में अवस्थित बतलाया गया है ।[2] इस पर्वत पर निवास करने वालों को मलयवासी कहा गया है ।

पार्जिटर महोदय ने मलय-पर्वत की स्थिति पश्चिमी घाट के पर्वतों की दक्षिणी सीमा, जिसमें नीलगिरि की पहाड़ियों से लेकर केप-कैमोरिंट तक की पर्वत-श्रेणियों के क्षेत्र सम्मिलित थे, के अन्तर्गत स्वीकार किया है ।[4]

सह्य पर्वत

आलोचित पुराण में सह्य पर्वत को सात कुल-पर्वतों में परिगणित किया गया है ।[5] इसे दक्षिणापथ का प्रमुख पर्वत बतलाते हुए इसके अन्तर्गत वर्तमान पश्चिमी घाट की पर्वत श्रृंखला के उत्तरी भाग को सम्मिलित किया गया है ।[6] आलोचित (वामन) पुराण में उक्त पर्वत के पाद से निःसृत नदियाँ यथा कृष्णवेणा, नलिनी, वैया, वारिसेना, तथा कलस्वना आदि महानदी के रूप में आख्यात है ।[7]

---

1. वामनपुराण, 45/4-5.
2. वही, 43/12.
3. वही, 64/47.
4. द्रष्टव्य, एफ0ई0 पार्जिटर, दि मार्कण्डेयपुराण, इंग्लिश ट्रान्सलेशन, पृ0 285, पाद-टिप्पणी
5. वामनपुराण, 13/14.
6. स्कन्दपुराण, 1/2/39/117.
7. वामनपुराण, 13/31.

शुक्तिमान पर्वत

आलोचित पुराण में वर्णित सात कुल-पर्वतों में शुक्तिमान पर्वत की भी गणना की गई है ।[1] पार्जिटर ने इसकी पहचान गारो, खासी एवं टिपेरापर्वत श्रृंखलाओं से निर्दिष्ट किया है ।[2] कुछ विद्वानों ने इसका समीकरण सुलेमान पर्वतमाला से किया है ।

ऋक्ष-पर्वत

वामनपुराण में ऋक्ष-पर्वत की गणना सात-कुल-पर्वतों में पांचवें क्रमसंख्या पर है ।[3] पार्जिटर ने इस पर्वत-श्रृंखला की पहचान सतपुड़ा पर्वतश्रेणी से लेकर मध्य बरार तथा छोटा-नागपुर की पहाड़ियों से होती हुई पश्चिमी बंगाल तक विस्तृत पर्वतमाला से की है ।[4]

विन्ध्य-पर्वत

आलोचित पुराण में आख्यात सात-कुल पर्वतों में विन्ध्य-पर्वत का भी उल्लेख है ।[5] जैन आदि पुराणों में इसे विन्ध्याचल नाम से संबोधित किया गया है जिसके पश्चिमी सीमा को पारकर राजा-भरत ने लाट तथा सोरठ देशों पर आक्रमण किया था । पुराणों में अगस्त्य ऋषि के शाप से विन्ध्य पर्वत के निम्नीकरण की कथा भी मिलती है जिसके फलस्वरूप सुविस्तृत होने पर भी यह

---

1. वामनपुराण, 13/4.
2. एफ0ई0 पार्जिटर, दि मार्कण्डेयपुराण, पृ0 285-306.
3. वामनपुराण, 13/14.
4. एफ0ई0 पार्जिटर, पूर्वोद्धृत, पृ0 284, पाद टिप्पणी
5. वामनपुराण, 13/14.

पर्वत उत्तुंग नहीं हो सका था ।[1]

वर्तमान भूगोलवेत्ता विन्ध्य-पर्वत-श्रृंखलाओं का विस्तार गुजरात से पश्चिम तथा बिहार के पूर्वी भाग तक सौ मील तक की सुविस्तृत क्षेत्र को मानते हैं । जिसे भरनेर तथा कैमूर आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है ।[2]

<u>पारियात्र-पर्वत</u>

आलोचित पुराण में आख्यात सात-कुल पर्वतों की सूची में पारियात्र-पर्वत का उल्लेख स्पष्ट रूप से दृष्टगत है ।[3] इसकी पहचान विन्ध्य-पर्वत के पश्चिमी छोर की श्रृंखलाओं से की जाती है जो मध्य-प्रदेश में भोपाल-चम्बल से पश्चिम से अरावली पर्वत श्रेणियों के विस्तृत क्षेत्र तक फैली है । •आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इस पर्वत की पहचान अरावली पहाड़ी से की है ।[4]

---

1. वामनपुराण 19/22-37.
2. विमलचरण लाहा, हिस्टॉरिकल ज्योग्राफी ऑफ ऐंशन्ट इण्डिया, पृ0 107.
3. वामनपुराण, 13/14.
4. आचार्य बलदेव उपाध्याय,
   पुराण विमर्श, पृ0 142.

आलोचित पुराण में वर्णित नदियाँ

आलोचित पुराण में भुवनकोश तथा तीर्थों के वर्णन-प्रसंग में भारत की विभिन्न नदियों का उल्लेख हुआ है । भुवनकोश वर्णन के संदर्भ में सात-कुल-पर्वतों से निःसृत विभिन्न नदियों का विवरण भी आलोचित पुराण में उपलब्ध है ।[1]

इन नदियों को पाप-प्रशमन करने वाली, पुण्यवती, जगत् की माता तथा सागर की पत्नियाँ भी कहा गया है ।[2]

पुराणों में नदियों की अनेक उपादेयता का वर्णन है । मार्कण्डेयपुराण के अनुसार सभी नदियाँ पवित्र, समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली, पाप-नाशिनी तथा मातृवत है ।[3] आलोचित पुराण में विवृत है कि नदियों के जल पर ही जनपद-जीवन आधारित है क्योंकि इनके निर्मल जल को लोग पान करते हैं ।[4]

वामन पुराण में नदियों का वर्गीकरण उनके उद्गम पर्वत-स्थल को आधार मानकर किया गया है । जैसा कि तेरहवें अध्याय में वर्णित सात कुल-पर्वतों से निःसृत सरस्वती, पंचरूपा, कालिन्दी, हिरण्यवती, वेदस्मृति, सिन्धु, नर्मदा मन्दाकिनी आदि अनेक पवित्र नदियाँ ।[5] इन नदियों का उल्लेख भौगोलिक

---

1. वामनपुराण, 13/20-32.
2. वही, 13/33.
3. मार्कण्डेयपुराण, 57/17-30.
4. वामनपुराण, 13/34.
5. वही, 13/20-32.

स्थिति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें नदी-नाम-सूची न केवल अपूर्ण है वरन् कुछ महत्वपूर्ण बड़ी नदियों को वर्णित सूची में सम्मिलित भी नहीं किया गया है। गंगा एवं सिन्धु नदी जो हिमालय-पर्वत से प्रवाहित होने वाली बड़ी नदियों में विशेष महत्वपूर्ण है, उसका उल्लेख इसमें उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत वायु-मत्स्य, ब्रह्माण्ड तथा मार्कण्डेय आदि पुराणों में हिमालय पर्वत से निःसृत नदियों में इन नदियों का वर्णन उपलब्ध है।[1]

आलोचित पुराण में बिहार, बंगाल तथा आसाम प्रदेशों की कुछ उल्लेखनीय नदियों का भी उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर यह प्रस्तावित किया जा सके कि पुराणकार नदी-नामों की सूची को बद्ध करते समय मात्र कुल-पर्वतों से उद्गमित नदियों के उल्लेख मात्र से ही सन्तुष्ट था। इस सन्दर्भ में डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल महोदय का मत बहुत ही महत्वपूर्ण प्रतीत होता है कि नदियों के उद्गम स्त्रोत के आधार पर वामन पुराणोक्त वर्गीकरण भौगोलिक त्रुटियों से युक्त प्रतीत होता है।[2] अपने मत के समर्थन में उन्होंने शुक्तिमान पर्वत से उद्गमित कुछ नदियों व वास्तविक उद्गम-स्थल मलय-पर्वत बतलाया है जिसकी पुष्टि वायु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में आख्यात सूची से होती है।

---

1. द्रष्टव्य, दिनेशचन्द्र सरकार, स्टडीज इन दि ज्याग्रफी आफ ऐंश्येण्ट एण्ड मिडियल इण्डिया, पृ0 48.

2. वासुदेवशरण अग्रवाल, वामनपुराण-ए-स्टडी, पृ0 31.

वामन पुराणोक्त नदियों का भौगोलिक परिचय

आलोचित पुराण में वर्णित नदियों के उद्गम स्थल के आधार पर ज्ञात कुल-पर्वतों की भौगोलिक स्थिति का तो पता चलता ही है साथ ही साथ उन पर्वतों से उद्गमित नदियों का भी परिचय प्राप्त हो जाता है ।

1. हिमालय (हिमवत्) पर्वत से उद्गमित नदियाँ[1]

1. सरस्वती	10. कुहू	19. दृषद्वती
2. पंचरूपा	11. मधुरा	20. निश्चिरा
3. कालिन्दी	12. हारावती	21. गण्डकी
4. हिरण्वती	13. उशीरा	22. कौशिकी
5. शतद्रु	14. धातुकी	23. चित्रा
6 चन्द्रिका	15. रसा	24. वक्षुरा
7. नीला	16. गोमती	25. सरयू
8. वितस्ता	17. धूतपापा	तथा
9. ऐरावती	18. बाहुदा	26. लौहित्या नदी

2. पारियात्र पर्वत से उद्गमित नदियाँ[2]

1. वेदस्मृति, 2. वेदसिनी, 3. वृत्रघ्नी, 4. सिन्धु, 5. पर्णाशा, 6. नन्दिनी, 7. पावनी, 8. मही, 9. पारा, 10. चर्मण्वती, 11. लूपी, 12. विदिशा, 13. वेणुमती, 14. सिप्रा तथा 15. अवन्ती नदी ।

---

1. वामनपुराण, 13/20-22.

2. वही, 13/23-24.

3. <u>ऋक्षपर्वत से निःसृत नदियाँ</u>[1]

1. महानद शोण	8. अपवाहिका	15. वंजुलावती
2. नर्मदा	9. चित्रोत्पला	16. शुक्तिमती
3. सुरसा	10. तमसा	17. मंजिष्ठा
4. कृपा	11. करमोदा	18. कृत्तिमा
5. मन्दाकिनी	12. पिशाचिका	19. वसु एवं
6. दशार्णा	13. पिप्पलश्रोणी	
7. चित्रकूटा	14. विपाशा	20. बालवाहिनी

4. <u>विन्ध्य-पर्वत से उद्गमित नदियाँ</u>[2]

1. शिप्रा	6. वेणा	11. महागौरी
2. पयोष्णी	7. वैतरणी	12. दुर्गन्धा तथा
3. निर्विन्ध्या	8. सिनीबाहु	
4. तापी	9. कुमुद्वती	13. वाशिला नदी ।
5. निषधावती	10. तोया	

---

1. वामनपुराण, 13/25-27.

2. वही, 13/28-29.

5. <u>सह्यपर्वत से उद्‌गमित नदियाँ</u>[1]

1. गोदावरी
2. भीमरथी
3. कृष्णा
4. वेणा
5. सरस्वती
6. तुंगभद्रा
7. सुप्रयोगा
8. वाह्या
9. कावेरी
10. दुग्धोदा
11. नलिनी
12. रेवा,
13. वारिसेना तथा
14. कलस्वना नदी

6. <u>शुक्तिमान पर्वत से निःसृत नदियाँ</u>[2]

1. कृतमाला
2. ताम्रपर्णी
3. वंजुला
4. उत्पलावती
5. शिनी तथा
6. सुदामा नदी ।

इनके अतिरिक्त अन्य सहस्त्रों क्षुद्र नदियाँ भी इन पर्वतों से निकलती है । इनमें कुछ नदियाँ तो सदैव प्रवाहित होने वाली हैं और कुछ केवल वर्षा काल में प्रवाहित होने वाली है । उत्तर एवं मध्य देशों के निवासी इन पवित्र नदियों के जल का स्वेच्छया पान करते हैं ।[3]

---

1. वामनपुराण 13/30-31.
2. वही, 13/22
3. वही, 13/34.

जनपदों का पौराणिक विवरण

पुराणों में जहाँ भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के विविध तथ्य पुराशास्त्र से संयुक्त होकर सुरक्षित है वहीं प्राचीन विश्व एवं भारतीय भूगोल के विभिन्न पक्षों पर विशद रूप से वर्णन भी हुआ है ।

भूगोल के वे पक्ष जिन्हें हम भौतिक भूगोल की संज्ञा देते हैं, पुराण पंचलक्षणों के अन्तर्गत सर्ग एवं प्रतिसर्ग उल्लेखों में प्राप्त होते हैं । परन्तु मानव-भूगोल जिसके अन्तर्गत, देश, देश-खण्ड अथवा जनपद आदि अन्तर्निहित किये जाते हैं प्रायः ऐतिहासिक उल्लेखों के वर्णन क्रम में ही प्रयुक्त किये जाते हैं । इस प्रकार के भौगोलिक उल्लेखों का वर्णन अनेक पुराणों में उपलब्ध होता है ।[1]

वामन पुराण में इसका विशद-विवरण स्पष्टतया दृष्टगत है ।[2]

'जन' एवं 'जनपद' परस्पर एक दूसरे से जुड़े हुए हैं । इन शब्दों का प्रयोग वैदिक काल से ही प्राप्त होता रहा है । पुराणों में जनपदों का उल्लेख बहुतायत से हुआ है । भारतवर्ष के विभिन्न खण्डों यथा - पूर्व, उत्तर, दक्षिण एवं पश्चिम में निवास करने वाले अनेक जातियाँ हैं, वे जातियाँ ही जनपद कहलाती हैं ।

---

1. कूर्मपुराण, 1/40, 1/50, ब्रह्मापुराण, 18/10/21-27, ब्रह्माण्ड, 1/14, 10/19, मत्स्यपुराण, 1/2/1-129-85, मार्कण्डेय 53/11-60, विष्णुपुराण 2/2/1-5-29, भविष्यपुराण 2/1/3/1-7, भागवत, 5/16/1-24, लिंगपु0-46/1/62, वराहपुराण, 74/1-89, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 3/159/1/167-7, पद्मपुराण, 3/3/4/9/42 एवं शिवपुराण, 5/12/1/19-44.
2. वामनपुराण, 11/31-46, 13/1-58 (अध्याय ग्यारह एवं तेरह, भुवनकोश-वर्णन)

भारतवर्ष के मध्यदेश में निवास करने वाले मनुष्यों की जातियाँ इस प्रकार हैं[1] -

मत्स्य, कुशट्ट, कुणि, कुण्डल, पांचाल, काशी, कोशल, वृक, शबर, कौवीर, भूलिंग, शक तथा मशक ।

उत्तरापथ (उत्तराखण्ड) में निवास करने वाले जनपदों की नाम सूची वामनपुराण के अनुसार निम्न प्रकार से है[2] -

वाह्लीक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, अपरान्त, शूद्र, पह्लव, खेटक, गान्धार, यवन, सिन्धु, सौवीर, मद्रक, शातद्रव, ललित्थ, पारावत, मूषक, माठर, उदकधार, कैकेय, दशम, क्षत्रिय, प्रातिवैश्य, वैश्य एवं शूद्रों के कुल, कम्बोज, दरद, बर्बर, अंगलौकिक, चीन, तुषार, बहुध, बाह्यतोदर, आत्रेय, भरद्वाज, पुष्कल, दशेरक, लम्पक, तावक, राम, शूलिक, तंगण, औरस, अलिमद्र, किरातों की जातियाँ, तामस, क्रममास, सुपार्श्व, पुण्ड्रक, कुलूत, कुहुक, उर्ण, तूणीपाद, कुक्कुट, माण्डव्य एवं मालवीय ।

पूर्वखण्ड के जनपदों की सूची इस प्रकार है[3] -

अंग, बंग, मुद्गरव, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, प्लवंग, मातंग, मांसाद, मलदन्तिक, ब्रह्मोत्तर, प्राविजय, भार्गव, केशबर्बर, प्राग्ज्योतिष, शूद्र, विदेह, ताम्रलिप्तक, माला, मगध एवं गोनन्द ।

---

1. वामनपुराण, 13/35-36.
2. वही, 13/37-43.
3. वही, 13/44-46 ए.बी.

दक्षिणखण्ड के जनपदों की नाम सूची अधोलिखित है[1] -

पुण्ड्र, केरल, चोड, कुल्य, जातुष, मूषिकाद, कुमाराद, महाशक, महाराष्ट्र, माहिषिक, कालिंग, आभीर, नैषीक, आरण्य, शबर, बलिन्ध्य, विन्ध्यमौलेय, वैदर्भ, दण्डक, पौरिक, सौशिक, अश्मक, भोगवर्द्धन, वैषिक, कुन्दल, अन्ध्र, उद्भिद् एवं नलकारक ।

पश्चिम दिशा में स्थित जनपदों की नाम सूची[2] -

सूर्पारिक, कारियन, दुर्ग, तालीकट, पुलीय, ससिनील, तापस, तामस, रमी, नासिक्य, अन्तर, नर्मद, भारकच्छ, माहेय, सारस्वत, वात्सेय, सुराष्ट्र, आवंत्य एवं आर्बुद ।

इन चतुर्खण्डों के अतिरिक्त आलोचित वामन पुराण में विन्ध्यपर्वत के मूल में स्थित कुछ अन्य जनपदों[3] का भी उल्लेख दृष्टिगत होता है । यथा -

कारुष, ऐकलव्य, मेकल, उत्कल, उत्तमर्ण, दशार्ण, भोज, किंकवर, तोशल, कोशल, त्रैपुर, वैल्लिक, तुरस, तुम्बर, वहन, नैषध, अनूप, तुण्डिकेर, वीतहोत्र एवं अवन्ती ।

आलोचित पुराण में पर्वताश्रित देशों अथवा जनपदों का भी वर्णन हुआ है जिनके नाम इस प्रकार हैं[4] -

निराहार, हंसमार्ग, कुपथ, तंगण, खश, कुथप्रावरण, ऊर्ण, पुण्य, हूहुक, त्रिगर्त, किरात, तोमर एवं शिशिराद्रिक ।

---

1. वामनपुराण, 13/46 सी.डी.-49.
2. वही, 13/50-52.
3. वामनपुराण, 13/53-55.
4. वही, 13/56-57.

आलोचित पुराण में वर्णित वनों का विवेचन

आलोचित पुराण के भौगोलिक वर्णन के अन्तर्गत तीर्थों के वर्णन-प्रसंग में विभिन्न अरण्यों (वनों) यथा - अदितिवन[1], कुरुक्षेत्रवन[2], दारुवन[3], नैमिषारण्य[4], फलकीवन[5], शरवन[6], शीतवन[7] एवं सैन्धवारण्य[8]आदि का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें हमारी भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का संरक्षण एवं संवर्धन हुआ है। इन वनों का संक्षिप्त विवरण क्रमशः इस प्रकार है -

1. अदितिवन

देवताओं के हितार्थ देवमाता अदिति ने जिस वन में घोर तप किया था उस सर्वकामनाओं को प्रदान करने वाले, कल्याणकारी दिव्यवन का नाम अदिति के नाम पर अदितिवन पड़ा।[9]

---

1. वामनपुराण, स०मा० 7/5; स०मा० 13/4, 12.
2. वही, 6/12.
3. वही, 6/58, 81; स०मा० 22/46; स०मा० 23/17; 57/56.
4. वही, 3/10;7/41;8/29;37/40;57/3;58/69.
5. वही, 13/4; स०मा० 15/45, 48, 49.
6. वही, 31/15, 19, 21, 22, 28, 30, 38; 63/21.
7. वही, 13/5, स०मा० 14/44.
8. वही, 3/9; 57/61; 63/31.
9. वही, 6/14.

आलोचित पुराण में वर्णित है कि जो मनुष्य दूर रहकर भी अदितिवन का स्मरण करता है वह भी परम धाम को प्राप्त कर लेता है तो फिर वहाँ रहने वालों की बात ही क्या है ?[1] यह कुरुक्षेत्र के मध्य सात-वनों में जिसके स्मरण मात्र से समस्त पापों का क्षय हो जाता, एक है ।[2]

कुरुक्षेत्रवन

'कुरुक्षेत्र' वन में महर्षि कश्यप का महान् आश्रम है ।[3]

अम्बुवन

कामेश्वर के तीर्थ 'अम्बुवन' में जाकर श्रद्धापूर्वक स्नान करने से मनुष्य सभी व्याधियों से विनिर्मुक्त होकर निश्चय ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ।[4]

अशोकवन

'दक्षिणाभिमुखं काम्यं रम्भाशोकवनावृतम्'[5] अर्थात् लोकपालक चार वर्णों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) के लोकपूजित पवित्र आश्रम में कामाश्रय दक्षिणाभिमुख अशोक के वन से आवृत्त है ।

---

1. वामनपुराण, स0मा0 7/5.
2. वही, 13/3-4.
3. वही, 6/12.
4. वही, 14/42.
5. वही, 62/18.
6.

कुब्जवन

'प्रतीच्यभिमुखं कुब्जम् अर्थात्वेकुब्जनावृतम्'[1] अर्थात् लोकपूजित पवित्राश्रमों में अर्थाश्रम पश्चिमाभिमुख (पश्चिम की ओर मुख वाले) कुब्जन से घिरा हुआ है ।

काम्यकवन

काम्यकवन[2] कुरुक्षेत्र के मध्य सात वन में एक पवित्र वन है । सभी तीर्थों के तीर्थभूत इस काम्यकवन में स्नान करने से सर्वदेवों से अनुज्ञात होकर मनुष्य परम पद प्राप्त करता है । इसमें प्रवेश करने मात्र से ही मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है । इस पवित्र वन का आश्रय ग्रहण कर पूषा नामक सवितृदेव प्रकट रूप से स्थित है ।[3] रविवार के दिन इस तीर्थ में स्नान करने वाला मनुष्य विशुद्ध देहवाला होकर अभीष्ट फल को प्राप्त करता है ।[4]

दारूवन

(=देवदारूवन) कामदेव द्वारा पीछा किये जाते हुए महादेव घोर 'दारूवन' में ही प्रविष्ट हुए थे जहाँ ऋषिगण अपनी पत्नियों सहित निवास करते थे ।[5] एवं दारूवन में जाकर ही श्रीमान् प्रह्लाद ने भगवान लिंग का दर्शन किया ।[6]

---

1. वामनपुराण, 62/17.
2. वही, स०मा०, 13/4.
3. वही, 21/31-33.
4. वही, 21/34.
5. वही, 6/58.
6. वही, 57/56.

द्वैतवन

द्वैतनाम से प्रसिद्ध वन में ही, महानदी सरस्वती हजारों पर्वतों को विदारित कर प्रविष्ट हुई है ।[1]

नन्दनवन

पवित्रवनों में नन्दनवन प्रधान है ।[2] इसी नन्दनवन में देवशत्रु पातालकेतु ने क्रीड़ा कर रही विश्वावसु की रूपवती कन्या मदालसा को देखा और वेगपूर्वक उठा ले गया ।[3]

पंकजवन

सरोवर के जल में क्रीड़ा कर रहे ऐरावत के सदृश गजयूथपति को पकड़ कर अतिबलवान् ग्राह पंकजवन में ही खींच ले गया था ।[4]

फलकीवन

'फलकीवन'[5] कुरुक्षेत्र के मध्य सात पवित्र वनों में, एक है । इस पवित्र में देवता, गन्धर्व, साध्य और ऋषिगण रहते हैं एवं दिव्य सहस्त्र वर्षों तक विपुल तप करते हैं ।

---

1. वामनपुराण, स०मा०, 11/4.
2. वही, 12/46.
3. वही, 33/13.
4. वही, 58/23-24.
5. वही, सरो०मा० 13/4.
6. वही, 15/45.

फलकीवन में किया गया श्राद्ध पितरों को नित्य तृप्त करता है ।[1] जो मनुष्य श्रेष्ठ फलकीवन का मन में स्मरण करते हैं उनके भी पितृगण निःसन्देह तृप्ति को प्राप्त करते हैं ।[2]

भवानीवन

तीर्थसेवी मनुष्य क्रमानुसार भवानीवन में जाकर वहाँ अभिषेक करने से सहस्त्र गोदान का फल प्राप्त करता है ।[3]

भिल्लीवन

भिल्लीवन में भगवान विष्णु महायोग रूप में विद्यमान है ।[4]

मधुवन

सर्वपापविनाशक एवं पवित्र मधुवन[5] की गणना भी कुरूक्षेत्र के सात वनों में की गई है ।

महावन

महावन में ही एक दुरात्मा राक्षस था जिसका सिर तीक्ष्णधार वाले क्षुरबाण से कटकर गिरा था ।[6]

---

1. वामनपुराण, स०मा० 15/48.
2. वही, 15/49.
3. वही, 14/29.
4. वही, 63/24.
5. वही, स०मा० 13/4.
6. वही, 18/6.

व्यासवन

कुरुक्षेत्र के सात वनों में परिगणित यह व्यासवन[1] अति पवित्र एवं सभी पापों का विनाश करने वाला है। मनुष्य को संयमी एवं नियमित भोजनवाला होकर व्यासवन में जाना चाहिए।

दण्डकारण्य

प्राचीन काल में दण्डकारण्य में रहते हुए ही महात्मा राघव ने राक्षसों का वध किया था।[3] एवं दण्डकारण्य में ही भगवान हरि वनस्पति रूप में विख्यात है।[4]

शरवन

उदयाचल पर शतयोजन विस्तार वाला सरपतों का अति भयंकर शरवन है।[5] भगवान शंकर के तेज से यह विशाल शरवण वृक्ष, मृग एवं पक्षियों सहित सुवर्णमय हो गया।[6] इस शरवण में ही बालसूर्य के समान कान्तिवाला तथा कमल के समान नेत्रों वाला बालक उत्पन्न हुआ था, जिसका पालन पोषण कृत्तिकाओं ने किया।[7] इस प्रकार शरवण में ही भगवान शंकर का तेज शिशुरूप में

---

1. वामनपुराण,स०मा० 13/4.
2. वही, 15/54.
3. वही, 10/5.
4. वही, 63/26.
5. वामनपुराण, 31/15.
6. वही, 31/19.
7. वही, 31/20-22.

उत्पन्न हुआ था ।[1]

शालवन

भगवान विष्णु का भीम नामक रूप शालवन में ही स्थित है ।[2]

शीतवन

'पुण्यं शीतवनं नाम सर्वकल्मषनाशनम्'[3] अर्थात् सर्वकल्मष नामक पवित्र शीतवन की गणना भी कुरुक्षेत्र के सात वनों में की गई है । आलोचित पुराण में वर्णित है कि मनुष्य को नियतभोजी एवं जितेन्द्रिय होकर शीतवन नामक तीर्थ में जाना चाहिए ।[4]

सूर्यवन

'सूर्यवन'[5] की गणना भी कुरुक्षेत्र के सात-वन में की गई है ।

सैन्धवारण्य

आलोचित पुराण में भगवान शंकर द्वारा सैन्धवारण्य[6] में स्नान किये जाने का वर्णन भी उपलब्ध है । एवं यह भी वर्णित है कि सैन्धवारण्य में भगवान विष्णु सुनेत्र रूप में विद्यमान है ।[7]

---

1. वामनपुराण, 31/28.
2. वही, 63/32.
3. वही, स0मा0 13/15.
4. वही, 14/44.
5. वही, 13/5.
6. वही, 3/9.
7. वही, 63/31.

हिमवदन

आलोचित पुराण में देवी पार्वती द्वारा हिमवदन (हिमाद्रिशिखर)[1] में ही तपस्या करने का वर्णन उपलब्ध है ।

सौगन्धिक वन

आलोचित पुराण में वर्णित वेनोपाख्यान के अन्तर्गत विवृत है कि कौलपति (वेन) यमराज की आज्ञा से 'सौगन्धिकवन' में कुत्ता बनकर उत्पन्न हुआ ।[2]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलोचित पुराण में जिस प्रकार कुरुक्षेत्र, पृथूदक, पुष्कर, स्थाणु आदि तीर्थों की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है । ठीक उसी प्रकार पवित्र आदिति काम्यक, फलकी आदि वनों को श्रेष्ठ तीर्थों में सम्मिलित करते हुए इनके दर्शन स्मरण मात्र से मनुष्य के समस्त पापों की निवृत्ति का वर्णन कर श्रेष्ठ वनों के माहात्म्य को दर्शाया गया है ।

तीर्थ-विवेचन

तीर्थ की महत्ता

मत्स्यपुराण में वर्णित तीर्थ विषयक प्रसंग के अन्तर्गत यह बताया गया है कि प्राचीन काल में महर्षि एवं देवताओं ने अनेक यज्ञों का विधान किया, लेकिन दरिद्र मनुष्य यज्ञ करने में समर्थ नहीं थे क्योंकि यज्ञों में अनेक उपकरणों की अपेक्षा रहती थी जिसे राजा अथवा श्रीसंपन्न व्यक्ति ही एकत्र कर सकते थे । इसीलिए

---

1. वामनपुराण, 28/11, 14.
2. वही, सरोमाहा0 26/55.

ऋषियों ने इस परम रहस्यमय तीर्थ-गमन को पुण्यमय तथा यज्ञ की अपेक्षा विशिष्ट माना है, क्योंकि यह दरिद्र व्यक्ति के लिए भी सम्भव था ।[1] प्रयाग तीर्थ के विषय में वर्णित है कि वहाँ जाने से मनुष्य को पग पग पर अश्वमेधयज्ञ का फल प्राप्त होता है ।

वैदिक ग्रन्थों में तीर्थ-विषयक प्रसंग बहुत ही कम उपलब्ध होते हैं । ऋग्वेद में एक स्थल पर वर्णित है कि यज्ञ करने से इन्द्र वैसे ही प्राप्त होते हैं जैसे तीर्थ में वर्तमान जल पिपासार्त व्यक्ति को आप्यायित (शान्त संतुष्ट) करता है । तीर्थ की वास्तविक महत्ता हमें वेदोत्तरवर्ती ग्रन्थों में ही प्राप्त होती है । उदाहरणार्थ - वामन पुराण में वर्णित है कि कुरुक्षेत्र तीर्थ में वायु प्रेरित धूलि भी महादुष्कर्मियों को परम पद प्रदान करती है[3] एवं स्थाणु तीर्थ के माहात्म्य को श्रवण करने मात्र से मनुष्य समस्त पापों से विनिर्मुक्त होकर परमगति का अधिकारी होता है ।[4]

काणे महोदय[5] ने निर्दिष्ट किया है कि यज्ञ की अपेक्षा तीर्थों को अधिक महत्वशील मानने की प्रवृत्ति महाभारत और पुराणों में ही प्राप्त है । महा-भारत के वनपर्व में तीर्थ को यज्ञ की अपेक्षा महत्वपूर्ण बताते हुए लिखा है कि यज्ञ में उपकरण-बाहुल्य की आवश्यकता रहती है, जिसका सम्पादन राजा अथवा

---

1. मत्स्यपुराण, 112/12-15.
2. प्रविष्टमात्रे तद्भूम्यामश्वमेधः पदे पदे । मत्स्यपुराण, 108/9.
3. वामनपुराण, सरो०मा०, 24/23.
4. वही, 28/35.
5. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, चतुर्थ भाग, पृ० 554.

समृद्धिशाली व्यक्ति के द्वारा ही सम्भव है । साधारण व्यक्ति इस कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकते । अतएव ऋषियों ने परम रहस्य वाले तीर्थ-गमन को यज्ञ की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है ।[1]

<u>तीर्थ-यात्रा का उद्देश्य</u>

विभिन्न पुराणों एवं अन्य ग्रन्थों में वर्णित भिन्न-भिन्न तीर्थों की यात्रा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के पापों एवं दुष्कर्मों की निवृत्ति रही है । जैसा कि विष्णुपुराण[2] में वर्णित है कि द्वारका तीर्थ के दर्शन से मनुष्य के सभी पापों का नाश हो जाता है । वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार तीर्थों का अनुसरण करने वाला पापी मनुष्य भी शुद्ध हो जाता है, फिर शुभकर्म-कर्ता की बात ही क्या है ।[3]

आलोचित पुराण में भी विभिन्न तीर्थों की महत्ता को बतलाते हुए ऐसा विवेचित है कि पवित्र कुरुक्षेत्र के दर्शन मात्र से पापी मनुष्य परम पद प्राप्त करता है ।[4] सहस्त्र योजन से ही पुण्यागत्य गंगा के स्मरणमात्र से पापी मनुष्य भी परम गति को प्राप्त करता है ।[5]

---

1. महाभारत, वनपर्व, 82/13-17.
2. तदतीव महापुण्यं सर्वपातकनाशनम् , विष्णुपुराण 5/38/11.
3. वायुपुराण, 77/125, ब्रह्माण्डपुराण, 3/13/133-134.
4. वामनपुराण, स०मा०, 20/21.
5. योजनानां सहस्त्रेषु गंगायाः स्मरणान्नरः ।
   अपि दुष्कृतकर्मापि लभते परमां गतिम् ॥

   मत्स्यपुराण, 104/14.

आलोचित पुराण में वर्णित विशिष्ट तीर्थ

औशनस् (कपालमोचन तीर्थ)

देवताओं एवं गन्धर्वों से पूजित पवित्र एवं परम श्रेष्ठ तीर्थ 'कपालमोचन' भगवान रुद्र के 'कपाली' नाम से पड़ा । इस तीर्थ में स्नान करते ही त्रिपुरान्तक शिव के करतल से कपाल गिर पड़ा जिससे भगवान् की कृपा से यह तीर्थ कपालमोचन नाम से प्रसिद्ध हुआ ।[1]

आलोचित पुराण में वर्णित है कि मनुष्य को श्रद्धान्वित होकर औशनस् (कपालमोचन) तीर्थ जाना चाहिए ।[2] वहाँ जाने से मनुष्य की पवित्र आत्मा निर्मल एवं पापरहित होकर प्रसन्न रहती है ।

कुरुक्षेत्र

आलोचित पुराण में वर्णित है कि प्रारम्भ में यह तीर्थ ब्रह्मवेदी थी किन्तु कालान्तर में इसका नाम 'रामह्रद' हुआ । तदुपरान्त कुरु द्वारा कृष्ट होने से इस क्षेत्र का नाम कुरुक्षेत्र पड़ा ।[3] विष्णुपुराण में ऐसा उल्लेख है कि धर्म-क्षेत्रीय कुरुक्षेत्र को नृप संवरण के पुत्र कुरु ने स्थापित किया था ।[4] कुशतोया

---

1. वामनपुराण, 3/49-51
2. वही, 18/1.
3. वही, सरो०मा० 1/13.
4. 'संवरणात्कुरुः य इदं धर्मक्षेत्रंचकार'

   विष्णुपुराण, 4/14/76-77.

सरस्वती नदी से प्लावित कुरुक्षेत्र का अपवित्र या पवित्र अथवा सर्वावस्थाप्राप्त भी जो व्यक्ति, स्मरण करता है वह बाह्य और अन्तः दोनों से पवित्र हो जाता है तथा सभी पापों से मुक्त हो जाता है ।[1] मानवों के लिए ब्रह्मज्ञान, गया में श्राद्ध, गौओं की रक्षा हेतु मृत्यु एवं कुरुक्षेत्र में निवास, ये चार प्रकार की मुक्ति बताई गई है ।[2]

कुरुक्षेत्र के सेवन से मनुष्य परम पद को प्राप्त करता है एवं यहाँ मरने वालों का कभी पतन नहीं होता[3] एवं दूरस्थ होते हुए भी वामन युक्त कुरुक्षेत्र का स्मरण करने वाला मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है ।[4] आलोचित पुराण में एक स्थल पर वर्णित है कि कुरुक्षेत्र में कुरु द्वारा पूजित सरस्वती मंकण द्वारा बुलायी जाने पर वहाँ गई ।[5] कुरुक्षेत्र में इन्द्र का यज्ञ करने वाले लोग पापरहित पुण्य लोकों को जाते हैं ।[6] एवं अत्यन्त पवित्र कुरुक्षेत्र के दर्शन मात्र से पापी मनुष्य परमपद प्राप्त करता है ।[7] एक स्थल पर ऐसा भी कहा गया है कि कुरुक्षेत्र में वायु-प्रेरित धूलि भी महादुष्कर्मियों को परमपद देती है ।[8] विशेषण

---

1. वामनपुराण, स०मा०, 12/6-7.
2. वही, 12/8.
3. वही, 12/15-16.
4. वही, 15/78.
5. वही, 16/38.
6. वही, 20/16.
7. वही, 20/21.
8. वही, 24/23.

पुत्र बलि का अश्वमेध यज्ञ भी कुरुक्षेत्र में ही सम्पन्न हुआ ।[1] कुरुक्षेत्र शब्द की व्युत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए टीकाकार नीलकण्ठ वर्णित करते हैं कि कुरु, कुत्सित ध्वनि अर्थात् पाप को कहते हैं । इसके क्षेपण के द्वारा जो त्राण करे वह कुरुक्षेत्र है ।[2]

गया तीर्थ

गया तीर्थ सभी देशों में सभी तीर्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ है । ब्रह्महत्या, मदिरापान, चौरकार्य, गुरुभार्यासमागम तथा पापात्माओं के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले सभी पाप गया में श्राद्ध करने से नष्ट हो जाते हैं ।[3] गया क्षेत्र में किया गया श्राद्ध पितरों को नित्य तृप्त करता है ।[4] आलोचित पुराण में वर्णित है कि गया में गोपति गदाधर ईश्वर रूप में विद्यमान हैं ।[5] इस तीर्थ की महत्ता अन्य ग्रन्थों में भी प्रतिपादित है । उदाहरणार्थ, महाभारत में वर्णित है कि गया में पितरों को दिया हुआ अन्न अक्षय होता है ।[6]

पुष्कर तीर्थ

'ब्रह्मणः प्रतीची वेदिः पुष्करा' अर्थात् ब्रह्मा की धर्म-सेतु स्वरूप पवि

---

1. वामनपुराण, स0मा0, 52/1.
2. कुत्सितं रौतीतिकुरुपापं तत्क्षेपणात् त्रायते इति कुरुक्षेत्रम् . वनपर्व, 83/6 पर नीलकण्ठ.
3. ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः ।
   पापं तत्संगजं सर्वं गयाश्राद्धाद्विनश्यति ।। वायुपुराण, 105/13.
4. वामनपुराण, स0मा0 15/48.
5. गयायां गोपतिं देवं गदापाणिनमीश्वरम् . वामनपुराण, 63/9.
6. यत्र दत्तं पितृभ्यो न्नमक्षयं भवति प्रभो । महाभारत, वनपर्व, 87/12.

वेदियों में पुष्कर पश्चिम वेदी है ।[1] अन्तरिक्ष में पुष्कर तीर्थ प्रसिद्ध है ।[2] आलोचित पुराण में वर्णित है कि मनुष्य को 'पुष्कर' तीर्थ जाकर पितृदेवों की अर्चना करनी चाहिए ।[3] पुष्करतीर्थ में ही पितामह के यज्ञानुष्ठान का वर्णन मिलता है ।[4] आलोचित पुराण में 'पुष्कर' द्वारा माहिष्क और पिंगल को बाहुशाल देने का वर्णन भी उपलब्ध है ।[5]

आलोचित पुराण में कार्तिक पूर्णिमा के दिन पुष्कर तीर्थ में स्नान करने का विधान भी बताया गया है ।[6] पुष्कर तीर्थ में व्यक्ति शाश्वत यौवन को प्राप्त करता है ।[7] एक स्थल पर वर्णित है कि पुष्कर तीर्थ में भगवान वामन का अयोगन्ध्य रूप विद्यमान है ।[8] पुष्कर तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को जिस फल की प्राप्ति होती है वही फल अनन्यमन से वामनपुराण के एक पद के कीर्तन से प्राप्त होता है ।[9] पद्मपुराण के अनुसार इस लोक में पुष्कर की अपेक्षा श्रेष्ठ अन्य तीर्थ नहीं है ।[10]

---

1. वामनपुराण, 23/20.
2. वही, 7/37.
3. वही, स०मा० 13/41.
4. वही, 16/19.
5. 'बाहुशालं च पुष्करम्' वामनपुराण, 31/90.
6. वामनपुराण, 39/18.
7. वही, 46/16.
8. वही, 63/13.
9. वही, 89/6
10. नास्मात्परतरं तीर्थं लोके ऽस्मिन् पठ्यते । पद्मपुराण 5/27/78.

पृथूदक तीर्थ [महातीर्थ]

तीर्थों में पृथूदक को प्रधान अथवा महातीर्थ बतलाया गया है ।[1] यहाँ अव्यय पितरों के पूजन का विधान किया गया है ।[2] यह पवित्र, पापहर, कल्याणकारी पृथूदक नामक तीर्थ कुरुक्षेत्र के मध्य स्थित है । यहाँ शुभजल से पूर्ण एक पवित्र नदी भी पूर्व की ओर प्रवाहित होती है । प्रपितामह ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन और आकाशादि समस्त भूतों के साथ ही पुष्कर तीर्थ की भी सृष्टि की थी ।[3] आलोचित पुराण में वर्णित है कि मनुष्य को नियमपूर्वक नियताशी होकर पृथूदक तीर्थ जाना चाहिए । क्योंकि सरस्वती के उत्तरस्थ पृथूदक तीर्थ में शरीर त्याग करने वाला जपपरायण मनुष्य निश्चय ही देवत्व को प्राप्त करता है ।[4]

पृथूदक तीर्थ पवित्र तथा पाप और भय का नाशक है ।[5] आलोचित पुराण में एक स्थल पर वर्णित है कि महातेजस्वी भगवान शंकर गिरिराज की कन्या को विदाकर पृथूदक तीर्थ गये । वहाँ विधानपूर्वक स्नान से पाप-विमुक्त होकर नन्दी, गणों एवं वाहनों सहित महापर्वत मन्दर पर आये ।[6] वायस्वी

---

1. वामनपुराण, 12/45.
2. वही, 22/20.
3. वही, 23/43-44.
4. वही, सरो०मा० 18/16,20.
5. वही, 24/1.
6. वही, 26/73-74.

पुत्र के लिए कुठार स्वरूप श्रेष्ठ पृथूदक तीर्थ के ओघवती के जल में स्नान कर भक्तिपूर्वक महादेव का दर्शन करने से मनुष्य सूर्य के समान प्रभायुक्त हो जाता है ।[1] इस प्रकार पृथ्वी पर श्रेष्ठ यह पृथूदक तीर्थ मनुष्य को वांछनीय फल प्रदान करने वाला है ।

प्रयाग

'प्रयागो ब्रह्मणः मध्यमा वेदिः' अर्थात् प्रयाग ब्रह्मा का मध्य वेदी है । मत्स्यपुराण में वर्णित है कि पृथ्वी पर साठ करोड़ दस सहस्त्र तीर्थ माने गये हैं उन सभी की संस्थिति इस प्रयाग तीर्थ में ही बताई गई है ।[2] आलोचित पुराण में वर्णित है कि पवित्र प्राड्,मण्डलान्तर्गत प्रयाग में भगवान हरि के अंश से उत्पन्न योगशायी नाम से प्रसिद्ध अव्यय पुरूष नित्य-निवास करते हैं ।[3] यहाँ भगवान वटेश्वर रूप में अवस्थित है ।[4] माघमास में प्रयाग में जाकर स्नान करने से मनुष्य वांछित फल प्राप्त करता है ।[5]

इस प्रकार आलोचित पुराण में वर्णित प्रयाग की महत्ता का समर्थन अन्य ग्रन्थों में भी किया गया है । उदाहरणार्थ महाभारत में वर्णित है कि माघ मास में प्रयाग तीन करोड़ दस सहस्त्र तीर्थों का संगम बनता है । इस अवसर पर प्रयाग में स्नान करने से मनुष्य पापरहित होकर स्वर्ग प्राप्त करता है ।[6]

1. वामनपुराण, 32/114.
2. दशतीर्थसहस्त्राणि षष्ठिकोट्यस्तथापराः ।
   तेषां सांनिध्यमत्रैव ततस्तु कुरूनन्दन ।। मत्स्यपुराण 106/23.
3. वामनपुराण 3/26.
4. वही, 63/23.
5. वही, 69/6.
6. महाभारत, अनुशासनपर्व, 25/36-38.

सन्निहित (सरतीर्थ)

आलोचित पुराण में वर्णित सन्निहित अथवा सरतीर्थ रन्तुक से ओजस पर्यन्त और पावन से चतुर्मुख तक व्याप्त है ।[1] विश्वेश्वर से अस्थिपुर पर्यन्त एवं कन्या जरद्गवी से ओघवती पर्यन्त यह सन्निहित सरोवर स्थित है । इसे विश्वेश्वर से देवपर तक एवं नृपावन से सरस्वती पर्यन्त चतुर्दिक अर्धयोजन में भी व्याप्त समझना चाहिए ।[2]

इस तीर्थ को सान्निहत्य[3] एवं सन्निहिति[4] नाम से भी पुकारा जाता है । इस परमपवित्र सरोवर का सतत सेवन करने वाला मनुष्य परम पद को प्राप्त करता है ।[5]

आलोचित पुराण में वर्णित है कि जिस स्थान पर अण्ड स्थित था वहीं संनिहित सरोवर है ।[6] यह संनिहित नामक सरोवर महान् पुण्यतम कहा गया है ।[7] यह तीर्थ कृतयुग में सेव्य माना गया है ।[8] महात्मा बालखिल्यों ने संनिहित सरोवर तक करोड़ों रुद्रों की प्रतिष्ठा की है ।[9]

---

1. वामनपुराण, सरो०मा०, 1/5.
2. वही, 1/7, 9.
3. वही, 22/1, 23/13, 24/29, 26/57, 28/6, 21.
4. वही, 12/5, 24/2, 28/21.
5. वही, 12/15.
6. 'यस्मिन् स्थाने स्थितं ह्यण्डं तस्मिन् सन्निहितं सरः' वामनपुराण, स०मा०, 22/34.
7. वही, 24/2.
8. वही, 24/29, 'कृते युगे सन्निहित्यं'
9. वही, 25/48.

आलोचित पुराण में भगवान शंकर ब्रह्मा से कहते हैं कि - "इस त्रैलोक्य विश्रुत सन्निहित तीर्थ में भक्तिपूर्वक मेरे लिंगों की प्रतिष्ठा करने से तुम सभी पापों से विमुक्त हो जाओगे"।[1] सूर्य-ग्रहण के समय सान्निहित्य में स्नान करने से मनुष्य पवित्र होकर स्वर्ग को जाता है'-[2] ऐसा विधान भी आलोचित पुराण में किया गया है।

स्थाणु तीर्थ

1-स्थाणुवट। आलोचित पुराण में वर्णित है कि समुद्र से लेकर सरोवर पर्यन्त सभी तीर्थ प्रतिदिन मध्याह्न के समय स्थाणु तीर्थ में आते हैं।[3] अतः सहस्त्रलिंग से शोभित इस स्थाणुतीर्थ में जाने से एवं वहाँ स्थाणुवट का दर्शन करने से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[4] स्त्री या पुरुष के ज्ञान अथवा अज्ञान से किये गये समस्त पाप स्थाणुतीर्थ के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं।[5] यहाँ रात्रि में वट के नीचे रहकर परमेश्वर का ध्यान करने वाले को स्थाणुवट की कृपा से मनोवांछित फल प्राप्त होता है।[6] उत्तम स्थाणुतीर्थ में प्रवेश करने वाले अन्य प्राणी भी सर्वपापविनिर्मुक्त होकर परम गति को प्राप्त करते हैं।[7]

---

1. वामनपुराण, सरोमहा० 28/21.
2. वही, 13/50.
3. वही, 24/4.
4. वही, 22/30.
5. वही, 24/24.
6. वही, 24/31.
7. वही, 25/6.

स्थाणुवट के पूर्व में हस्तिपादेश्वर शिव हैं, उनका दर्शन करने से मनुष्य अन्य जन्मों में किये गये पापों से भी मुक्त हो जाता है ।[1] आलोचित पुराण में स्थाणुतीर्थ के माहात्म्य एवं वेन को स्वर्ग प्राप्ति प्रसंग के अन्तर्गत वर्णित है कि "धर्मनिष्ठ पुत्र द्वारा तारित वेन ने स्थाणुतीर्थ में महेश्वर को प्रतिष्ठापित कर के सिद्धि प्राप्त की एवं स्थाणुतीर्थ के प्रभाव से उस स्थान (मठन्ना) को भी परम सिद्धि प्राप्त हुई एवं सभी कलुषों से विमुक्त होकर वह शिव लोक को चला गया ।"[2] इस प्रकार स्थाणुतीर्थ के माहात्म्य को सुनकर मनुष्य सभी पापों से मुक्त होकर परमगति को प्राप्त करता है ।[3]

इस प्रकार आलोचित पुराण में उपरोक्त विशिष्ट तीर्थों के अतिरिक्त अन्य अनेक तीर्थ यथा – कपालमोचन[4], कनखल[5], नागतीर्थ[6], इन्द्रतीर्थ[7], कुरुजांगल[8] केदार[9] (महातीर्थ) दशाश्वमेध[10], नैमिष[11], बदरिकाश्रम[12], ब्रह्मसर[13],

---

1. वामनपुराण, सरो०माहा० 25/25.
2. वही, 28/29-31.
3. वही, 28/49, 27/35.
4. वही, 3/49/51.
5. वही, 4/19; 25/52; 31/89; 57/62.
6. वही, 13/23, 31/93.
7. वही, 7/26, 33.
8. वही, 3/12; 23/41, स०मा० 1/1, 2/2, 57/40.
9. वही, 15/16,26; 16/35, 31/97; 34/10,11,16,17.
10. वही, 3/41,53; 14/19.
11. वही, 3/37,38,39; 16/8,24,28; 37/40;39/34,75;63/9.
12. वही, 6/4,21,23;31/96;53/4;63/4; 64/112.
13. वही, 1/4; 11/24; 28/38.

ब्रह्मावर्त[1], भद्रकर्ण[2], मनोजव[3], महालय[4], रन्तुक[5], शंखह्रद[6], वाराणसी[7], वाराहतीर्थ[8], विहार[9], सप्तगोदावर[10], सप्तसारस्वत[11], सारस्वत[12], सोम-तीर्थ[13], स्कन्दतीर्थ[14] आदि का वर्णन उपलब्ध है ।

---

1. वामनपुराण, स०मा०, 14/36, 39.
2. वही, 53/6; 63/4.
3. वही, 15/54.
4. वही, 57/54; 63/22.
5. वही, 1/5, 14; 12/2, 19; 13/11, 24; 14/37.
6. वही, 1/14; 11/24; 14/1.
7. वही, 3/42; 25/49; 57/29; 63/15.
8. वही, 13/32; 53/5; 63/4.
9. वही, 21/10, 13, 14.
10. 13/50; स०मा० 20/9; 21/5; 37/78, 81, 82; 34/55, 75; 57/55; 63/23.
11. वही, 16/17, 40; स०मा० 17/22; 31/92; 36/45; 46/71, 73.
12. वही, 26/28; 36/53; 57/42.
13. वही, 13/33; 22/11; 25/1; 31/91; 57/12, 43.
14. वही, 25/2.

आलोचित पुराण में वर्णित 'नगर'

प्राचीन भारतीय जीवन में नगरों का महत्व भी कम नहीं रहा है । ये सभ्यता और शिल्प के केन्द्र थे । भारत के सांस्कृतिक इतिहास में ये नगर तीर्थ भी थे, जहाँ मनुष्य पुण्य क्रियाओं के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता था । अयोध्या, काशी (वाराणसी) कांची, शाकल, अवन्ती, मथुरा, एवं अमरावती आदि नगर आज भी जनजीवन की धर्मशिलायें हैं जिन पर माथा टेक कर मनुष्य मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा करता है । इसके अतिरिक्त ये नगर हमारी मौलिक एकता के दिव्य स्तम्भ भी हैं । आलोचित पुराण में इन विभिन्न नगरों के अतिरिक्त अन्य अनेक नगरों का वर्णन उपलब्ध है जो निम्न प्रकार से है -

1. अमरावती

'अमरावती'[1] इन्द्र की नगरी कही जाती है । इसी नगरी में प्रवेशकर महासुर मुर ने इन्द्र को युद्ध के लिए ललकारा था ।[2]

2. अयोध्या

अयोध्या इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी थी ।[3] आलोचित पुराण में वर्णित है कि महर्षि अरुन्धज इक्ष्वाकु से मिलने के लिए अयोध्या गये ।[4]

---

1. वामनपुराण, 9/9; 10/12.
2. वही, 34/36.
3. मत्स्यपुराण, 1/132/18; 1/142/15.
4. वामनपुराण, 38/62.

3. अवन्ती[1]

आलोचित पुराण में वर्णित है कि अवन्ती नगर में भगवान शंकर महाकाल रूप में स्थित है ।[2]

4. उन्मत्तपुर

पूर्वकाल में उन्मत्तपुर में देव महेश्वर प्रतिष्ठित थे ।[3]

5. कांची

नगरों में कांची नगर[4] श्रेष्ठ है । यह एक तीर्थ[5] और दक्षिण भारत का प्रसिद्ध नगर था जिसकी सत्ता आज भी अक्षुण्ण है । कभी यह द्रविड़, चोल और पल्लवों की राजधानी थी ।

6. कुमारपुर

आलोचित पुराण में वर्णित है कि कुमार (कार्तिकेय) के अभिषेकस्थल ओजस नामक प्रसिद्ध तीर्थ में श्राद्ध करने से मनुष्य को कुमारपुर[6] की प्राप्ति होती है ।

---

1. वामनपुराण, 57/18.
2. वही, 58/20.
3. वही, 38/27.
4. वही, 12/50.
5. गरुड़पुराण, 1/81/8.
6. वामनपुराण, स0मा0 20/7.

7. कोशल

देवर्षियों द्वारा सेवित परम पवित्र उत्तर कोशल प्रदेश[1] में उद्दालक मुनि ने सरस्वती का ध्यान किया था । इसी कोशल अथवा कोशला नगरी में भगवान हरि मनोहर रूप में विद्यमान है ।[2]

8. निषध

निषध देश[3] में भगवान हरि अमरेश्वर रूप में अवस्थित है[4]।

9. पांचाल

पांचाल देश[4] में भगवान हरि पांचालिक रूप में विद्यमान हैं ।

10. पद्माख्यानगरी

आलोचित पुराण में वर्णित है कि भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद कुरूध्वज का दर्शन कर पद्मानामक नगरी[5] में गये ।

11. मगधा

मगधा[6] में भगवान हरि सुधापति रूप में स्थित हैं ।

---

1. वामनपुराण, स0मा0, 16/32.
2. वही, 63/29.
3. वही, 63/13.
4. वामनपुराण, 63/18.
5. वही, 57/45.
6. वही, 63/25.

12. वाराणसी

यह मध्य देश का प्रसिद्ध प्राचीन नगर और महान् तीर्थ स्थान था ।[1] इस वाराणसी नगरी[2] में भोगी लोग भी भगवान शिव के स्थान को प्राप्त करते हैं । इस नगरी के महान् आश्रम में सर्वपापहारी भगवान लोल रवि निवास करते हैं ।[3] योगशायी से प्रारम्भ कर केशव दर्शन तक का जो पवित्र हरि का क्षेत्र है, वही वाराणसी पुरी है ।[4] वाराणसी में ही भगवान शिव का आश्रम है ।[5] आलोचित पुराण में विख्यात वाराणसी नगरी की शोभा उत्प्रेक्षा के माध्यम से बहुत ही स्पष्ट रूप में वर्णित है ।[6]

13. शाकल नगर

शाकल नगर[7] में आराधना करने से पुरूरवा को श्रेष्ठ रूप एवं सुदुर्लभ ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था । यह प्रख्यात शाकल नगर प्रसिद्ध मध्य देश में है ।[8] प्राचीन काल में उत्तम शाकल नगर में ही बहुला के गर्भ से सोमशर्मा नाम का विख्यात ब्राह्मण उत्पन्न हुआ था ।[9]

---

1. गरुड़पुराण, 1/66/5.
2. वामनपुराण, 3/30.
3. वही, 3/40.
4. वही, 17/51.
5. वही, 25/49.
6. वही, 3/30-41.
7. वही, 53/8.
8. वही, 53/12.
9. वही, 53/43.

14. शूरपुर

शूरपुर[1] में भगवान हरि शूर रूप में विद्यमान है ।

15. शोणितपुर

आलोचित पुराण में वर्णित है कि बाणासुर भी विष्णु के द्वारा स्वर्ग छीन लिए जाने पर तथा बलि के बंधन एवं रसातल में रहने पर अत्यन्त सुरक्षित शोणित नामक पुर[2] का निर्माण कर दानवेन्द्रों के साथ रहने लगा ।

16. सुकेशिनगर

आलोचित पुराण में सुकेशि के नगर का वर्णन विस्तृत रूप में विवृत है । सुकेशि को यह आकाशचारी नगर[3] भगवान शिव की कृपा से प्राप्त हुआ था ।

17. हस्तिनापुर

हस्तिनापुर में भगवान हरि का गोविन्दमूर्ति विराजमान है ।[4]

---

1. वामनपुराण, 63/31.

2. वही, 65/65

3. वही, 11/6.

4. वही, 63/2.

वामन पुराण का संस्कृत-वाङ्मय को योगदान

भारतीय वाङ्मय में, पुराण, सामान्यतः भारतीय जनमानस की धार्मिक आस्था के प्रतीक है। ईश्वर के प्रति असीम आस्था एवं विश्वास रखने वाली भारतीय जनता चिरकाल से ही धर्मभीरु रही है। नरक गमन का भय, पाप की दुष्परिणति, पीड़ा और अन्याय का कारुणिक अन्त, असत् प्रवृत्तियों का भयावह परिणाम-ये कुछ ऐसे मुद्दे रहे हैं जो भारतीय जनजीवन की आचार संहिता को नियमित करने और सत्योन्मुख करने में सक्रिय रहे हैं। आज भी धर्मप्रवण भारतीय समाज श्रीमद्भागवत्, देवीभागवत्, गरुड़ पुराण और हरिवंश-पुराण के पठन-पाठन अथवा श्रवण से अपनी लौकिक तथा पारलौकिक सिद्धियों को प्राप्त करने की चेष्टा करती है।

पुराणों में वर्णित नरकों का वर्णन भले ही सशंकित हो परन्तु एक धर्म-भीरु व्यक्ति के लिए वह असद् प्रवृत्तियों से विरत रहने की प्रेरणा अवश्य देता है।

अन्यान्य पुराणों की तरह वामन-पुराण भी ऐसी ही धार्मिक आस्था को सुदृढ़ बनाने में समर्थ रहा है, क्योंकि यह पुराण भगवान् के दशावतार में से एक विशिष्ट अवतार से सम्बद्ध है। परन्तु अन्यान्य पुराणों की तरह इसका वैशिष्ट्य केवल धर्मसिद्धि ही नहीं है, वरन् इसका आभ्यन्तर महत्व, इसके उस पुष्कल वाङ्मय में निहित है जो प्राचीन विश्व के भूगोल, खगोल, जनपद, तीर्थ, प्राकृतिक उपादान और आचार संहिताओं को प्रस्तुत करने में क्षीण हुआ है। आज इस बात की आवश्यकता है कि वामन पुराण में उपलब्ध उन समस्त सूचना-ओं का नये सिरे से प्रत्यभिज्ञान किया जाये। पौराणिक खगोल, भूगोल और

भुवनकोश, वर्तमान युग के भूगोल, खगोल और भुवनकोश से कितना भिन्न, अभिन्न अथवा विलक्षण है यह एक पृथक शोध का विषय बन सकता है ।

शोध कर्तृ ने इस संदर्भ में एक लघु प्रयास मात्र किया है, जो उस विशाल उपक्रम का प्रारम्भ बिन्दु मात्र माना जा सकता है ।

------:0:------
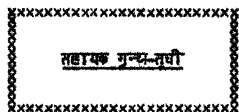
सहायक ग्रन्थ-सूची

सहायक ग्रन्थ-सूची

अग्नि पुराण - पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित ।

उत्तररामचरित - पी०वी० काणे द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित, बम्बई, 1929.

काव्य प्रकाश - हरिदत्त शर्मा द्वारा संपादित, पूना, 1955.

काव्य मीमांसा - सी०डी० दलाल द्वारासंपादित, बड़ौदा, 1917.

कुमार सम्भव - भारद्वाज गंगाधर शास्त्री द्वारा संपादित, बनारस ।

कूर्म पुराण - पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1332.

गरुड़ पुराण - क्षेमराज श्री कृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बम्बई, 1906.

नारदीय पुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई ।

पद्म पुराण - हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1893.

ब्रह्म पुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई, 1906.

ब्रह्मवैवर्त पुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई, 1906.

ब्रह्माण्ड पुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई, 1906.

भविष्य पुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई, 1986.

भागवत पुराण - पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1315।

मत्स्य पुराण - हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1907.

महाभारत, नीलकंठ भाष्यसहित - पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, शकाब्द, 1826-1830.

मार्कण्डेय पुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बंबई ।

मृच्छकटिकम् - आर० डी० करमारकर द्वारा संपादित, द्वितीय संस्करण, 1950.

लिंग पुराण - जीवानंद विद्यासागर द्वारा संपादित, कलकत्ता, 1885.

वराह पुराण - कलकत्ता, 1893.

वामन पुराण - श्रीराम शर्मा, दो भाग, 1970.

वामन पुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई ।

वामन पुराण - पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1314.

वामन पुराण - श्रीराम शर्मा, दो भाग, 1970.

वामन पुराण - पाठ समीक्षात्मक संस्करण, सर्वभारतीय काशिराज न्यास, दुर्ग रामनगर, वाराणसी

वायु पुराण - हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1905.

विष्णुधर्मोत्तर पुराण - क्षेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई ।

विष्णु पुराण - पंचानन तर्करत्न द्वारा संपादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1331.

शतपथ ब्राह्मण - ए० वेबर द्वारा सम्पादित, 1924.

शिव पुराण - बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1314.

स्कन्द पुराण - बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, वि०सं० 1318.

हरिवंश पुराण, नीलकंठ, भाष्यसहित - पंचानन तर्करत्न द्वारा प्रकाशित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता, वि०सं० 1312.

आधुनिक शोध-प्रबन्ध

अग्रवाल, वासुदेवशरण - वामन पुराण - एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, 1964.

- मार्कण्डेय पुराण-एक सांस्कृतिक अध्ययन, हिन्दुस्तानी एकादमी, इलाहाबाद ।

अग्रवाल, डा० मदन मोहन - भावप्रकाशनम् , चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1983.

अग्रवाल, डा० हंसराज - संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, 1945.

- संस्कृत साहित्येतिहास, 1951.

आचार्य, दामनन्दी - पुराण-सार-संग्रह, 1959.

आचार्य, रामदेव - पुराण-मत-पर्यालोचनम् , 1966.

उपाध्याय डा० बलदेव - पुराण-विमर्श, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1965, द्वितीय संस्करण, 1978.

- वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी ।

उपाध्याय, विष्णुदेव - धर्म और दर्शन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण, 1978.

उपाध्याय, बलदेव - संस्कृत वाङ्मय, 1951.

काणे, पी०वी० - धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम-पंचम भाग, हिन्दी समिति, लखनऊ।

केरफेल, डब्ल्यू - दस पुराण पंचलक्षण, बॉन, 1927.

कृष्णप्रियाचार्य - पुराण-संहिता, बनारस, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज (2008)

गुप्त, आनन्द स्वरूप - वामन पुराणम्, सर्वभारतीय काशिराजन्यास, दुर्गनगर, वाराणसी (1968)

गुप्त, डा० प्रेम स्वरूप - अभिनय का रस विवेचन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, प्र०सं० (1974)

गैरोला, वाचस्पति - संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (संवत् 2023)

चतुर्वेदी, पंडित गिरिधर शर्मा - पुराण-परिशीलन, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, शकाब्द, 1892.

चतुर्वेदी, परशुराम - वैष्णव-धर्म, इलाहाबाद प्रकाशन (1953)

चन्देल, डा० उमापति राय - पौराणिक आख्यानों का विकासात्मक अध्ययन, कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली (1975)

चतुर्वेदी, डा० द्वारका प्रसाद - पौराणिक उपाख्यान

जयचन्द्र - पुराणालोचन (1899)

टण्डन, [illegible] - पुराण-विषय समानुक्रमणिका

डॉ० एस०के० एवं एम०सी० डाकुरा - पुराण-इतिहास-संग्रह

दिनकर, रामधारी सिंह - भारतीय संस्कृति के चार अध्याय

दीक्षित, सुरेन्द्र नाथ - भरत और भारतीय नाट्यकला, राजकमल प्रकाशन, प्रा०लि०, 8 फैज बाजार, दिल्ली-6.

द्विवेदी, ईश्वर प्रसाद - संस्कृत वाङ्मय में त्रैगुण्य, सत्व, रज, तथा तम गुणों का विशद विवेचन, 1979.

नंदन, नन्द किशोर - हिन्दी के आधुनिक प्रबन्ध कविता का पौराणिक आधार, प्रकाशन संस्थान, 216 रामनगर, दिल्ली।

पाण्डेय, वी० - हरिवंश पुराण-एक सांस्कृतिक विवेचन, प्रकाशन शाखा, सूचना-विभाग, उ०प्र० ।1960।

बुल्के, फादर कामिल - रामकथा, इलाहाबाद ।1964।

ब्रह्मानन्द सरस्वती - पौराणिक इतिहास सार ।1910।

भट्टाचार्य, रमाशंकर - इतिहास-पुराण का अनुशीलन, वाराणसी ।1963।

- पुराण-वेद-विषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।1965।

भण्डारकर, आर०जी० - वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत

मैकडॉनल - संस्कृत साहित्य का इतिहास ई०सं० ।2019।

मैक्समूलर - पुराणशास्त्र और जनकथाएँ।

मिश्र, जयशंकर - प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार ग्रन्थ अकादमी, पटना ।1974।

मिश्र, रामचन्द्र - संस्कृत-वाङ्मय परिचय, संवत् ।2012।

मधुसूदन - पुराणोत्पत्ति प्रसंग ।2008।

राय, गंगा सागर - पौराणिक आख्यान

राय, सिद्धेश्वरी नारायण- पौराणिक धर्म एवं समाज, पंचनद पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1968. ई०

डा० रघुवंश - प्रकृति और काव्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1960.

रघुनाथ दत्त बन्धु - पुराण-कथा कौमुदी ।1962।

शास्त्री, श्री बाबूलाल शुक्ल - भरतकृत नाट्यशास्त्र, प्रकाशक-चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि०सं० 2029.

शास्त्री - पौराणिक साहित्य और संस्कृति

शास्त्री, शशि प्रभा - हिन्दी के पौराणिक नाटकों के मूल स्रोत

शास्त्री, माधवाचार्य - पुराण दिग्दर्शिनी परिशिष्ट ।2027।

शास्त्री, सत्यनारायण कस्तूरिया - संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास, वि०सं०।2019।

शर्मा, राम विलास - संस्कृति और साहित्य

शर्मा, शिव दत्त - संस्कृत वाङ्मय में त्रैगुण्य-विवेचन ।1979।

शर्मा, डा० लक्ष्मीनारायण- पुराख्यान और कविता ।1980।

शर्मा, डा० कृष्ण देव - भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रकाशक-विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, द्वितीय संस्करण, 1981.

शर्मा, डा० रामनाथ - भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व

शुक्ल, बद्रीनाथ - मार्कण्डेय पुराण-एक अध्ययन, प्रकाशन, चौखम्बा विद्याभवन, काशी, 1960.

सिंह, डा० त्रिभुवन - हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद

सिंह, डा० कामेश्वर प्रसाद - कामायनी की काव्य प्रकृति

सिंह, रणजीत - धर्म की हिन्दू अवधारणा, इलाहाबाद, 1977.

सिंह, राजबहादुर - पुराणों की कहानियाँ ।1958।

सान्याल, नलिनी मोहन - पुराण साहित्य की उत्पत्ति

हाजरा, एस०सी० - पुराण-इतिहास संग्रह

हाजरा, डा० एस०के० एवं आर०सी० - पुराणेतिहास संग्रह-प्रथम संस्करण, 1957, दिल्ली

त्रिवेदी, डा० सुरेशचन्द्र - अभिनय का रस विवेचन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1974.

त्रिपाठी, डा० रमाशंकर - धनंजयविरचित 'दशरूपकम्', विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1973.

त्रिपाठी, रामप्रताप - पुराणों की अमर कहानियाँ

त्रिपाठी, श्रीकृष्णमणि - पुराण तत्व मीमांसा ।1961।

English Books

Ali, S.M. - The geography of the puranas, New Delhi Publications, 1966.

Barth - The religions of India.

Dey, S.K. - History of Sanskrit Literature.

Keeth, A.B. - Religion & Philosophy of Puran.

Hazra, Dr. R.C. - STUDIES IN THE UPPURANAS,
- Studies in the pauranic records & customs

Macdonall. A.A. - Vedic Mythology.
Vedic Index

Porgiter - The Puranas.

Pusalker, A.D. - Studiesin the epics & Puranas, Bombay, 1958.

Rai, Siddheshwari Narain-Historical and Cultural Studies.
Puranic Publications, Allahabad-1978.

Shastri, J.L. - Political thought in the Puranas.
Lahaur, 1944.

Singh, M.R. - A critical study of the geographical data in the early puranas, Calcutta, 1972.

कोश

1. दि स्टूडेन्ट संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, वी०एस० आप्टे, प्रकाशक - मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1963.

2. दि स्टूडेन्ट इंगलिश-संस्कृत डिक्शनरी, वी०एस० आप्टे, प्रकाशक - मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1963.

3. पुराणसंदर्भ कोश - पद्मिनी मेनन ।1969।

4. वैदिक शब्दकोश, सूर्यकान्त, वैदिक रिसर्च सोसाइटी, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी वाराणसी, 1963.

5. संस्कृत-हिन्दी-इंगलिश-कोश-सूर्यकान्त, वैदिक रिसर्च-सोसाइटी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी, 1976.

---:0:---